प्रथम संस्करण : १९४६
मूल्य ६)

मुद्रक : प्रदीप प्रेस मुरादाबाद
प्रकाशक : प्रदीप कार्यालय मुरादाबाद
[illegible] : [illegible], [illegible] विट्ठलभाई पटेल रोड, बम्बई ४

निवेदन

•

प्रगतिवादके अन्तिम चार निबन्धोंको छोड़कर अन्य सभी हंस, साहित्य-सन्देश, नया-साहित्य, साधना, कहानी आदि पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित होचुके हैं। 'छायावादी कवितामें असन्तोषकी भावना'-शीर्षक लेख श्री स० ही० वात्स्यायन द्वारा सम्पादित 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' पुस्तकमें प्रकाशित हुआ था। 'कथा साहित्यकी समस्याएँ' सेन्ट ऐण्ड्रयूज़ कॉलेज गोरखपुरमें कहानी-सम्मेलनमें दियागया अभिभाषण है; अतः उसकी शैली भी भाषणकी है। 'हिन्दी कवितामें पेड़-पौधे-फूल-पशु-पक्षी' और 'द्विवेदी-कालसे हिन्दी-पत्रकलाका विकास' ऑल इण्डिया रेडियोसे विस्तारित भाषण हैं। 'जनपदीय भाषाओंका प्रश्न' ५ नवम्बर १६४४ को यू० पी० प्रगतिशील लेखक संघकी कौंसिलके समक्ष दीगयी रिपोर्ट है। प्रस्तुत संग्रहमें देनेके पूर्व मैंने इन निबन्धोमें यत्रतत्र संशोधन करदिया है आवश्यकतानुसार कहीं-कहीं एकाधिक वाक्य-पद भी जोड़दिये हैं।

कविता, कहानी, नाटक, आलोचना, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, जनपदीय भाषाओं, राष्ट्रभाषा और साहित्यकी व्यापक प्रवृत्तियोंसे सम्बन्ध रखनेवाले विभिन्न प्रश्नोंपर प्रगतिवादका दृष्टिकोण निर्दिष्टकरने तथा आधुनिक साहित्यके नये मान-मूल्योंकी व्याख्या-स्थापना करनेके उद्देश्यसेही यथावसर इन निबन्धोंकी रचना होतीरही है। इस कारण उनमें आधुनिक साहित्यकी व्यापक प्रवृत्तियोंका ही मूल्यांकन मिलेगा, किसी लेखक विशेषकी सम्पूर्ण रचनाओंकी विस्तृत समीक्षा नहीं।

साहित्य और संस्कृतिके प्रश्नोंपर किसी नये दृष्टिकोणका प्रतिपादन करना अज्ञात देशमें सर्वथा नये पथोंका उद्घाटन करनेके समान है। उसमें युगोंके रूढ़ संस्कारों और राग-द्वेषोंकी अस्वस्थ, निर्जीव परम्पराओंके स्थानपर नये भाव-मूल्यों, नये सौन्दर्य-मानों और साहित्य और समाजके नये सम्बन्धोंकी स्थापना ऐसे व्यापक आधारपर करना है जिनमें प्राचीन

की स्वस्थ-प्राणदायक परम्पराओंका भी नये वस्तुसत्यके स्पर्शसे नित्य-नूतन संस्कार होताचले और इसप्रकार वे अपनेको अक्षुण्ण रखसकें और हमारे वर्तमान और भावी जीवनको प्राचीन ज्ञान और भाव-सौन्दर्यकी निधिसे निरन्तर समृद्ध करती चलें। यह कार्य सुगम नहीं है और लेखककी अक्षमताएँ इसे औरभी जटिल बनादेती हैं। मुझे इस बातका सन्तोष है कि इस विधायक कार्यमें केवल मैं अकेला नहीं, वरन् हिन्दीके अधिकांश जागरूक समालोचक संलग्न हैं और प्रगतिवादका दृष्टिकोण उत्तरोत्तर विकसित और पुष्ट होताजारहा है। फिरभी अभी उसके मान-मूल्य ही विवादग्रस्त हैं और यह एक वैज्ञानिक शोधवृत्तिका स्वस्थ चिन्ह है कि हमारे निकट कुछभी रूढ़ नहीं है और इस दिशामें अविरत गम्भीर प्रयत्न ही हमें अभीष्ट है।

आशा है इन निबन्धोंसे पाठकोंको नये साहित्य और संस्कृतिकी विशिष्ट समस्याओंका अनुमान मिलसकेगा और उनमें नयी बौद्धिक चेतना जगेगी जिससे वे साहित्य, भाषा और संस्कृतिके व्यापक और मूल प्रश्नोंपर प्रबुद्ध, वैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करनेको प्रवृत्त होंगे और भारतीय जनताके आगत सांस्कृतिक जीवनकी पथ-दिशा निर्दिष्ट करनेमें अपना योग देंगे।

७ नवम्बर १९४५
बद्रीनाथ रोड, लखनऊ

शिवदानसिंह चौहान

जन-साहित्य और साहित्यकार

"......ऐसा कोई मनुष्य नहीं जिसमें सौन्दर्यकी अनुभूति न हो। साहित्यकारमें यह वृत्ति जितनी ही जाग्रत और सक्रिय होती है, उसकी रचना उतनी ही प्रभावमयी होती है। प्रकृति-निरीक्षण और अपनी अनुभूतिकी तीक्ष्णताकी बदौलत उसके सौन्दर्य-बोधमें इतनी तीव्रता आ जाती है कि जो कुछ असुन्दर है, अभद्र है, मनुष्यतासे रहित है वह उसके लिए असह्य हो जाता है। उसपर वह शब्दों और भावोंकी सारी शक्तिसे वार करता है। यों कहिए कि वह मानवता, दिव्यता और भद्रताका बाना बाँधे होता है। जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज है। उसकी अदालत समाज है, इसी अदालतके सामने वह इस्तगासा पेश करता है और उसकी न्याय-वृत्ति तथा सौन्दर्य-वृत्तिको जाग्रत करके अपना यत्न सफल समझता है।..."

"हमारी कसौटीपर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनताका भाव हो, सौन्दर्यका सार हो, सृजनकी आत्मा हो, जीवनकी सचाइयोंका प्रकाश हो—जो हममें गति और संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं; क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्युका लक्षण है।......"

—प्रेमचन्द

[अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघके प्रथम अधिवेशन, लखनऊ १९३६ में सभापति-पदसे दिये गये भाषणसे]

प्रगतिवाद

'प्रगतिवाद' साहित्यकी वह धारा है जो पूँजीवादके अन्तिम कालमें उत्पन्न होती है, जो पूँजीवादी साहित्य और कलाकी सारी काम-याबियों और सजीव परम्पराओंको ग्रहण कर, एक नये जन-साहित्यका निर्माण करती है।

साहित्यकी विचारधाराके रूपमें प्रगतिवादका दार्शनिक आधार विरोध-जन्य-गतिशील-भौतिकवाद : वैज्ञानिक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) है। यह कोई नयी बात नहीं है जबकि साहित्यकी विचार-धाराका आधार किसी दार्शनिक सिद्धान्तको बतायागया हो। हिन्दीके भक्ति-काव्यके दार्शनिक आधार अद्वैतवाद, द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और समन्वयवाद आदि रहे हैं—इसे तो पुराने आलोचक भी स्वीकार करते आये हैं; ये सब दार्शनिक सिद्धान्त आदर्शवादी (Idealist) थे, छाया-वादका दार्शनिक आधार भी आदर्शवाद ही रहा है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि चूँकि प्रगतिवाद आदर्शवादी दर्शनको अपना आधार न मानकर वैज्ञानिक भौतिकवादको स्वीकार करता है; इस कारण वर्जित है। यह भी कहना ग़लत होगा कि चूँकि वैज्ञानिक भौतिकवाद पश्चिमका दर्शन है इस कारण भारतीय चिन्ताधारामें घुलमिल नहीं सकता, यहाँकी आदर्शवादी मनोवृत्तिको अपनी ओर आकर्षित नहीं करसकता। ऐसा कहनेका साफ़ अर्थ यह होगा कि हम विचारधाराओं, मनोवृत्तियों और परम्पराओंको समाज-व्यवस्था, समाजकी कार्यशीलता और गतिशीलताका एक अङ्ग न मानकर उन्हें स्वतन्त्र, निरपेक्ष सत्ताके रूपमें देखते हैं। यह ग़लत है, क्योंकि समाजके परिवर्तनके साथ-साथ समाजकी 'मानसिक-संस्कृति' में भी परिवर्तन होतेजाते हैं, और आज जब पूँजीवादकी सामूहिक उत्पादन-प्रणालीने विश्वकी साधारण समस्याओंको एक करदिया है; तब हम 'पूर्व-पश्चिम' 'भारतीय-अभारतीय' कहकर विचार-धाराओं, मनोवृत्तियों और सौंदर्य-मूल्योंको देश-कालकी संकुचित परिधिमें बाँधकर नहीं रखसकते।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि भौगोलिक विशेषता, भाषा और जीवन-यापनकी परम्पराओंकी विभिन्नता द्वारा उत्पन्न राष्ट्रीय विभिन्नताएँ आज नष्ट होगयी हैं, वे हैं और समाजवादके अन्दर राष्ट्रीय संस्कृतियाँ औरभी विकसित होंगी; तात्पर्य केवल इतना है कि इन राष्ट्रीय संस्कृतियोंकी मूल प्रवृत्तियाँ (विचारवस्तु या content) एक होती जारही है, यद्यपि उसकी अभिव्यक्तिका कलेवर (प्रकार, रूप या form) राष्ट्रीय रहता है और निश्चय ही वह विश्व भरमें साम्यवाद स्थापित होजाने तक राष्ट्रीय ही रहेगा, उसका विकास राष्ट्रीय माध्यमसे होना ही अनिवार्य और अपेक्षित है। विचार-वस्तुको शुद्ध राष्ट्रीय बनाना न केवल प्रतिक्रियावादी है, बल्कि असम्भव भी है। इसके अतिरिक्त सामन्त-युगमें भी जब विश्वकी व्यापक समस्याएँ एक न होसकी थीं, और विभिन्न देश अपने-अपने कला-साहित्य-संस्कृति-दर्शनके स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना करसकते थे, उस समय भी भारतीय विचारधारामें बाहरसे आये प्रभाव पड़े हैं, और उन्हें अपनाया गया है—उदाहरणकेलिए सूफ़ियोंके सिद्धान्तोंका हमारे भक्ति-काव्यपर कितना व्यापक प्रभाव पड़ा है, इसे सभी जानते हैं। किन्तु पहले यदि बाहरी विचार-धाराएँ हमारी प्राचीन विचार-धाराओंमें घुलमिल जातीरही हैं—अर्थात् उनका समन्वय होतारहा है, तो इससे यह निष्कर्ष निकालना कि चूँकि वैज्ञानिक भौतिकवाद उनमें उसी प्रकार घुलमिल नहीं सकता अतः वह भारतको स्वीकार्य न होगा, भ्रमपूर्ण है, क्योंकि पहले समन्वय इसलिए सम्भव था कि दोनों विचार-धाराएँ आदर्शवादी थीं, आज इसलिए असम्भव है कि एक आदर्शवादी है और पूँजीपति-वर्गका शोषण क़ायम रखनेका अस्त्र है, तो दूसरी भौतिकवादी है और पूँजीवादी शोषणका नाश करनेका अस्त्र है। भौतिकवादी विचारधारा स्वयं मनुष्यके सम्पूर्ण अनुभवका समन्वित रूप है, अतः आदर्शवादका भी यथार्थ तत्त्व उसमें समाहित है और वह द्वंद्वात्मक तर्क-प्रणालीमें ढलकर वैज्ञानिक रूपमें निखर सकता है। प्रगतिवाद वैज्ञानिक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) को इसलिए स्वीकार करता है कि समाज-शक्तियों, आधुनिक जीवनकी संश्लिष्ट समस्याओं, समाजकी संघर्षपूर्ण गतिविधि और उसकी भावी प्रगतिको समझनेका वह न केवल सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक दर्शन है, बल्कि समाजकी नष्ट समतुल्यताको एक ऊँचे धरातलपर (समाजवादी समाजमें) क़ायम करनेकेलिए समाजको बदलनेका वह एकमात्र

कार्यप्रणाली भी है। आदर्शवादी दर्शनमें समाजकी असंगतियोंको क्षण भरकेलिए दबाने या उनपर पर्दा डालकर वस्तु-स्थितिसे हमारी दृष्टिसे हटानेकी ही क्षमता है। इस कारण आज वह प्रतिगामी है, और आधुनिक जीवनकी आवश्यकताओंकी पूर्ति नहीं करता। वह इन आवश्यकताओं की चेतना न देकर उनके प्रति हमें अनभिज्ञ रखता है।

आलोचना क्षेत्रमें प्रगतिवाद साहित्यिक-रचना-क्रियाको 'मैं' से सम्बन्धित कर उसे सीमित नहीं बनाता, अर्थात् उसे व्यक्तिके अन्य कार्योंकी तरह 'मैं' की ही सृष्टि नहीं मानता, बल्कि उसे रोमैण्टिक कालके आलोचकों, जैसे वर्ड्सवर्थ, कोलरिज, शेलीकी तरह समाजसे सम्बन्धित करता है, अर्थात् यह मानता है कि साहित्यके मूलमें 'मैं' की नहीं वरन् 'हम' की भावना है। क्योंकि साहित्य समाजकी गतिशीलताकी अभिव्यक्ति होनेके कारण, मनुष्यमें एकत्वकी भावनाकी उद्भावना करनेवाला और सामाजिक कार्यशीलताकेलिए उसे उत्प्रेरित, संगठित करनेवाला होता है। इस प्रकार प्रगतिवाद साहित्यको व्यक्तिके मस्तिष्ककी अनेक-रूपात्मक क्रिया-प्रतिक्रियासे ही अथवा एक अस्पष्ट, अव्यक्त, अमूर्त्त प्रकारके समाज से, जिसका मानो वह अभिन्न अंग न होकर उससे अलग चीज़ हो, सम्बन्धित नहीं करता। अपने कालकी ऐतिहासिक परिस्थितियोंमें बँधे रहनेके कारण रोमैण्टिक आलोचकोंने यद्यपि साहित्यको समाजसे सम्बन्धित किया था, किन्तु उनका समाज एक अमूर्त्त सत्ता थी। तोभी रोमैण्टिक आलोचना ने अत्यन्त उपयोगी स्थापनाएँ की थीं। 'सामाजिक सम्बन्ध ही कलामें सौन्दर्यका गुण प्रदान करते हैं।' 'इन सम्बन्धोंमें एक आन्तरिक संघर्ष और आन्तरिक विरोध है, जिन्हे कलाके अन्दर शान्त कियाजाता है।' 'कविता अत्याचार और अन्यायके विरुद्ध मानवताकी वाणी है और हर कविका कर्त्तव्य है कि वह अत्याचार और अन्यायको खत्म करनेमें अपना सहयोग प्रदान करे'—आदि रोमैण्टिक आलोचनाके मूल-सिद्धान्तोंको जिन्हे टी.एस. इलियट, हर्बर्ट रीड और डा० रिचार्ड्स प्रभृति पूँजीजीवी आलोचक छिपा रहे हैं या विकृत कररहे हैं, प्रगतिवाद उपयोगी और आवश्यक मानता है और उसके समाज-सम्बन्धी विचारको एक भौतिक आधार प्रदान करता है— साथमें समकालिक परिस्थितियोंसे उत्पन्न रोमैण्टिक आलोचकोंके व्यक्तिवाद और आदर्शवादको, जिसने शेलीको Masque of Anarchy

में गान्धीजीके आत्मबल और अहिंसाके सिद्धान्तोंकी पूर्व-कल्पना करादी, या कोलरिजको कंज़रवेटिव और धर्म-भीरु और वर्ड्सवर्थको शासकवर्गका समर्थक बनादिया, प्रगतिवाद स्वीकार नहीं करता। जिस तरह मार्क्सने हीगलके विरोधजन्य-गतिशीलताके सिद्धान्त Dialectic को सिरके बल खड़ी हालतसे उलटकर पृथ्वीपर पैरके बल खड़ा करदिया था, उसी प्रकार साहित्यकी आलोचनाके क्षेत्रमें प्रगतिवाद रोमैण्टिक-आलोचनाकी कामयाबियोंको स्वीकार कर, उनका विकास कर, उन्हें एक सामाजिक, भौतिक आधार प्रदान करता है। प्रगतिवादमें वह 'हम' जिससे साहित्यका सम्बन्ध स्थापित कियाजाता है, रोमैण्टिक आलोचकोंकी तरह अव्यक्त मानवताका 'हम' न होकर, अथवा टी० एस० इलियट आदि द्वारा विकृत कियेजानेपर पूँजीवादके समर्थकोंका सन्दिग्ध 'हम' न होकर संघर्ष-रत शोषित मानवता का 'हम' बनजाता है। इस प्रकार प्रगतिवादके अनुसार साहित्य चिर-परिवर्तित समाज-व्यवस्थाका एक अङ्ग है, और साहित्यका सौन्दर्य-मूल्य इसीमें निहित है कि किसी विशेष प्रकारके कार्यकेलिए वह सामाजिक शक्ति का सङ्गठन करता है। सामाजिक शक्तिके सङ्गठनमें परस्पर-विरोधी शक्तियों का जो संघर्ष होता है, साहित्य उनका सजीव चित्रण कर यह स्पष्ट करदेता है कि उसमें वह सक्रिय रूपसे भाग लेरहा है, और यह कि वह सामाजिक सङ्गठन एक स्थिर वस्तु नहीं है, बल्कि गतिमान और परिवर्तनशील है।

अतः प्रगतिवाद यदि किसी लेखकके सामाजिक सूत्रोंको प्रकाशमें लाता है अर्थात् उन सामाजिक परिस्थितियोंका विश्लेषण करता है जिन्होंने लेखकके मस्तिष्कको एक विशेष प्रकारसे प्रभावित कर अपनी रचनाकेलिए प्रभावित किया तो प्रगतिवाद उस रचनाद्वारा समाजकी बदलती परिस्थितियों पर पड़े प्रभावोंका भी मूल्यांकन करता है। सामाजिक परिस्थितियोंका विवेचन जिस प्रकार लेखककी रचना, उसकी अभिव्यक्तिके विशिष्ट उपकरणों—व्यंग, प्रतीक, उपमाएँ, रूपक और शैली आदि—की सामाजिक पृष्ठभूमिका दिग्दर्शन कराता है, अर्थात् इस तथ्यका स्पष्टीकरण करता है कि लेखककी रचना में समाजकी वास्तविकता किस प्रकार प्रतिबिम्बित हुई है, उसी प्रकार वह परिवर्तित सामाजिक वास्तविकताकी अपेक्षामें रखकर उसकी सौन्दर्यशक्तिका भी मूल्याङ्कन करता है। साहित्य या कला कोई कृति अपने समयकी सामाजिक वास्तविकताका निष्क्रिय प्रतिबिम्ब-मात्रही नहीं होती, जिस प्रकार आईने

में वहां प्रतिबिम्ब होता है, बल्कि वह समाज या मनुष्यके 'अहं' (भाव-चेतना) का परिवर्तित परिस्थितियोंमें भिन्न-भिन्न प्रभाव डालकर परिष्कार भी करती रहती है अर्थात् उसे बदलती रहती है। इसी कारण उस रचना का सौन्दर्य या मूल्य सामाजिक परिस्थितियोंकी अपेक्षा अधिक स्थायी होता है। इस सिद्धान्तको हृदयङ्गम करना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा एकाङ्गी दृष्टिकोण आदर्शवादका जिसके अनुसार साहित्य या कलाका सौन्दर्य-तत्त्व एक निरपेक्ष गुण बनजाता है, अथवा कुत्सित समाजशास्त्रीय दृष्टि-कोण (यांत्रिक भौतिकवाद) का जिसके अनुसार किसी रचनाका सौन्दर्य या मूल्य सामाजिक वास्तविकताके सीधे, स्पष्ट चित्रणपर ही निर्भर करता है, प्रतिष्ठित बनजाता है, और वह न प्रगतिवाद है न वैज्ञानिक भौतिकवाद। मार्क्सने भी इन दोनों दृष्टियोंसे एकसाथ ही किसी रचनाका विवेचन करने की आवश्यकतापर जोर दिया था। प्रगतिवादी समीक्षकके सामने केवल यही प्रश्न नहीं रहता कि अमुक रचना किस युगकी उपज है, सामन्ती या पूँजी वादी,—मार्क्सने ग्रीक साहित्यपर विचार करतेहुए स्पष्ट रूपसे कहा है कि यह तो अपेक्षाकृत सरल कार्य है—बल्कि उसके सम्मुख यह प्रश्न भी रहता है कि अमुक रचनाकी सौन्दर्य-शक्तिका क्या कारण है, अर्थात् वह रचना आज भी क्यों सौन्दर्य-बोध करानेमें सफल है, आज भी वह हमारे रागोंको जगानेमें, हमारे संवेदनोंको झंकृत करनेमें क्यों उतनीही सशक्त है जितनी शताब्दियों पूर्व थी। प्रगतिवाद इन दोनों मौलिक प्रश्नोंका उत्तर किसी रचना की सामाजिक पृष्ठभूमि और सामाजिक जीवनपर पड़े उसके प्रभावके इतिहास का विवेचन करके देता है।

प्रगतिवादकी शैली अभिव्यंजनावाद, रीतिवाद अथवा फ़ोटो-ग्रैफ़िक यथार्थवादकी शैली नहीं है। क्योंकि प्रगतिवादका जीवनके प्रति जो विशिष्ट दृष्टिकोण है—जिसका ज़िक्र हम ऊपर करचुके हैं—उसकी अभि-व्यक्ति इन पुरानी शैलियों द्वारा नहीं होसकती। वे जीवन और समाजको उसके सम्पूर्ण गतिशील रूपमें अभिव्यक्ति नहीं देसकतीं। अतः प्रगतिवाद की शैली सामाजिक यथार्थवाद—समाजवादी यथार्थवाद और सामाजिक यथार्थवाद दोनों एकार्थक हैं—और सामाजिक रोमैन्टिसिज़्मकी शैली है (Social Realism and Social Romanticism) इसका यह अर्थ नहीं कि प्रगतिवादी-साहित्यमें 'व्यक्ति' का उसके जीवनके नाना

पहलुओंसे चित्रण नहीं होगा—चित्रण होगा, होना चाहिए, किन्तु किसी व्यक्ति विशेषके विकासको दृष्टिमें रखकर ही समाजकी गतिका चित्रण न होगा, क्योंकि ऐसा होनेका अर्थ हुआ कि 'व्यक्ति' या तो समाजकी वस्तु-स्थिति से सन्तुष्ट या असन्तुष्ट होता है, विकास पाता है या उसका विकास अवरुद्ध होता है, सर्वमान्य होता है या बहिष्कृत कियाजाता है, आदि भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणोंसे उसका चित्रण कियाजाय—और इस सबका अर्थ यह हुआ कि समाजकी प्रत्येक वस्तु अपरिवर्तनशील है, स्थिर है, अतः उसे ज्यों-का-त्यों स्वीकार करना चाहिए। यह प्रगतिवाद नहीं हुआ। प्रगतिवादी साहित्य का व्यक्ति ऐसा होगा जो समाजकी गतिका सक्रिय अनुभव करता है, समाज के उत्पादनके साधनोंमें होनेवाले परिवर्तनोंके अनुरूप समाजके अन्य अङ्गों में जो परिवर्तन होते हैं, अपने कार्योंमें उनसे उत्पन्न पुरानी और नयी शक्तियों के संघर्ष और तनावका अनुभव करता है, क्योंकि समाजकी मूल-प्रेरणा सामाजिक कार्य और समाजकी गति है, व्यक्ति नहीं। अतः प्रगतिवाद सामाजिक परिवर्तनके विभिन्न अङ्गोंकी विभिन्न, परस्पर-विरोधी अवस्थाओं का, समाजके संगठन और उसकी विशृँखलताका, और पुरातन और नूतनके संघर्षकी अभिव्यंजना करेगा।

प्रगतिवाद साहित्यकी विचार और भाव-वस्तु (Content) और उसके अनुरूप ही वस्तु-प्रकाशनकी विधि, रूप-विधान या शैली (Form) दोनोंपर समान रूपसे ज़ोर देता है। समाजके परिवर्तनमें नूतन और पुरातन, समाजवाद और पूँजीवाद, मज़दूर और पूँजीपति, विज्ञान और अन्ध-विश्वास के अन्दर जो संघर्ष चलरहा है, उसमें लेखककी रागात्मक सहानुभूति सामाजिक-क्षेत्रमें किन शक्तियों और मानसिक-क्षेत्रकी किन विचार-धाराओंके साथ है, इसका अनुमान हम उसकी रचनाकी विशिष्ट भाव और विचार-वस्तु तथा सामाजिक-वस्तुसे लगासकते हैं, क्योंकि किसी विशेष रागात्मक सहानुभूतिसे उत्प्रेरित होकर ही वह किसी विशेष समाज-वस्तुका चित्रण करता है—और वह समाज-वस्तु क्या है, उसके प्रति लेखकका रागात्मक सम्बन्ध किस प्रकारका है, इससेही उसके दृष्टिकोण, उसकी अभिव्यक्तिकी प्राण-शक्ति और विस्तारका निश्चय होता है। यदि लेखक अपने समयकी उन समाज-शक्तियोंके साथ रागात्मक सहानुभूति प्रकट करता है जो समाजकी प्रगतिकी अवरोधक हैं, अथवा यदि वह समाजको ज्यों-का-त्यों स्वीकार

करके अपनेको समाज-संघर्षसे ऊपर (Above Battle) बनानेकी व्यर्थ चेष्टा करता है, तो इससे उसका दृष्टिकोण और अभिव्यक्ति दोनों ही संकुचित, क्षीण और निःशक्त होंगे। किन्तु यदि वह उन शक्तियोंके साथ अपनी रागात्मक सहानुभूतिका अनुभव करता है, जो समाजको बदलनेमें सबसे अधिक क्रियाशील है, जैसे श्रमिक-कृषक वर्ग या समाजवादकी शक्तियाँ, तो वह न केवल जीवनको एक व्यापक दृष्टिकोणसे देखसकेगा या उसकी अभिव्यक्तिकी प्राण-शक्ति तीव्र होगी, बल्कि वह समाजमें नये जीवनकी उद्भावना और विकासका अनुभव भी प्राप्त करसकेगा, जिससे उसकी कला जनतासे प्राण सम्बन्धित होसकेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि आजके लेखक को, यदि वह समाजकी प्रगतिका अंग बनना चाहता है तो समाजकी शक्तियों, उनके कार्यों, उनकी विचार-धाराओंसे पहले परिचय प्राप्त करना चाहिए, और स्वयं उसे सामाजिक निर्णय कर अपना दृष्टिकोण निश्चित करलेना चाहिए। उसकी रचनाओंमें इस दृष्टिकोणकी जो कलात्मक अभिव्यक्ति होगी, वही उनकी विचार-वस्तु होगी। समाजकी आवश्यकताओंकी पूर्व-चेतनासे ही सच्चे प्रगतिवादी साहित्यकी सृष्टि होसकती है, उनकी अनभिज्ञतासे नहीं।

अतः प्रगतिवाद लेखक या कलाकारके सामने 'दृष्टिकोण' का प्रश्न उठाता है। हम विभिन्न रूपात्मक समाज सम्बन्धों, सामाजिक वर्गों, राग-द्वेष उत्पन्न करनेवाली परम्पराओं और रूढ़ियों, स्त्री-पुरुषके प्रेम सम्बन्धों के प्रति जो दृष्टिकोण रखते हैं वह प्रगतिशील है अथवा रूढ़िवादी, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक प्रश्नोंपर हमारा दृष्टिकोण प्रगतिशील है या संकुचित, यह सब जटिल गुत्थियाँ प्रगतिवादकेलिए महत्व रखती हैं। प्रगतिवाद स्वभावतः शोषित मानवताका सांस्कृतिक दृष्टिकोण होनेके कारण इन प्रश्नोंपर अपना विशेष मत रखता है। प्रगतिवादी कलाकार अपनी रचनाओंमें इसी 'दृष्टिकोण' को अभिव्यक्ति देते हैं। प्रगतिवादके नये दृष्टिकोणके अनुरूप ही उसकी अभिव्यक्ति भी होती है। प्रगतिवादकी विचार-वस्तु (Content) और रूप-विधान (Form) का समुचित समन्वय 'सामाजिक यथार्थवाद' (Social Realism) की धारामें होता है। अतः 'सामाजिक यथार्थवाद' की धारा ही साहित्यमें प्रगतिवाद है।

प्रगतिवादके विरुद्ध आज हिन्दी-साहित्यके कतिपय क्षेत्रोंमें जो प्रति-

किया हुई है वह बेमानी नहीं है, महत्त्वपूर्ण है। इन दिनों का लेखक-अलेखक-वर्ग प्रगतिवादसे आशङ्कित होउठा है। साम्राज्यवादी प्रेस-ऐक्टों, विचार-स्वातन्त्र्यपर लगायेगये बन्धनोंसे यह साहित्य-वर्ग कभी इतना आशङ्कित नहीं हुआ जितना प्रगतिवादसे होरहा है, यह उल्लेखनीय है। मेरा अपना विचार है कि इस आशंकाके पैदा होनेके दो-तीन स्थूल कारण हैं। पहला तो यह कि हमारे अधिकांश लेखकोंको समाज-शक्तियोंकी गतिविधिका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं है, और अभीतक उनमें समाजकी आवश्यकताओंकी चेतना उत्पन्न नहीं हुई है, अतः पूँजीवादी भ्रमोंसे अपना मानसिक-भोजन पाने वाला हमारा यह लेखक-वर्ग अज्ञानतावश प्रगतिवादसे आशंकित होउठा है। दूसरा कारण इसीसे मिलता-जुलता यह है कि पुराने समाजकी विचार-धाराओंमें पलनेके कारण यह लेखक-समुदाय समाजको ज्यों-का-त्यों स्वीकार करनेका इतना आदी होगया है कि नयी शक्तियों, नयी हलचलों और विचार-धाराओंका अध्ययन करने, उन्हें समझने या जाननेकी वह कोशिश ही नहीं करता, (प्रगतिवादके नामपर जिन उच्छृङ्खल विचारोंका प्रचार होरहा है, और प्रगतिवादके विपक्षमें जो भ्रम फैलाये जारहे हैं, 'भारतीय संस्कृति खतरेमें है' की जो क्षीण किन्तु विक्षिप्त आवाज़ उठायी जारही है, और प्रगतिवादपर कल्पित आक्षेप लगाकर उसे हेय सिद्ध करनेका जो प्रयत्न हो रहा है, वह दोनों ओरकी अज्ञानताकी द्योतक है), और चूँकि मौजूदा समाज-व्यवस्था हमारे लेखक-वर्गको जीवनमें निश्चिन्तता प्रदान नहीं करती और नयी समाज-शक्तियोंके साथ वह अज्ञानतावश सहयोग नहीं करपाता, इस कारण प्रगतिवादके विकासके साथ-साथ वह अपनेको आउट-ऑफ़-डेट महसूस करता जारहा है, और इस आउट ऑफ़ डेट होनेकी भावना का मूलकारण न समझनेके कारण वह समझता है कि प्रगतिवाद अवसर से लाभ उठाकर उसे आउट-ऑफ़-डेट बनाना चाहता है, और स्वयं प्रतिष्ठित होना चाहता है। इसी कारण हमारा यह संक्षिप्त लेखक-वर्ग प्रगतिवादसे औरभी ज़्यादा आशङ्कित है।

किन्तु यदि हमारे इस लेखक-वर्गको समाजकी आवश्यकताओंकी चेतना प्राप्त नहीं है, अथवा यदि वह अब कुछ जानने-समझनेका कष्ट नहीं उठासकता, तो इससे प्रगतिवादसे आशङ्कित होना और उसका विरोध करना न्याय्य नहीं होजाता इस लेखक-अलेखक- वर्गको कम-से-कम इतना तो

देखना चाहिए कि हिन्दीके उच्चतम कलाकार प्रगतिवादको किसी न-किसी रूपमें अपनारहे हैं, किसी अवसरवादके कारण नहीं वरन् अपने जीवनके कठोर अनुभवसे जगी नयी चेतनाकी प्रेरणाओंसे। इस वर्गकेलिए केवल इतना जानलेना ही उनको आत्मपीड़नसे मुक्ति दिलासकेगा।

क्या साहित्य प्रॉपैगैण्डा है ?

प्रगतिवादियोंके विरुद्ध यह आरोप कियाजाता है कि वे साहित्यको केवल प्रचारात्मक बनादेना चाहते हैं। श्री इलाचन्द्र जोशी † तथा उनकी ही तरह साहित्यकी समस्याओंपर विचार प्रकट करनेवाले अनेक छोटे-बड़े आलोचक केवल इसी बातको लेकर प्रगतिवादको अपने उचित-अनुचित प्रहारोंका निशाना बनातेरहे हैं। उनका खयाल है कि उन्होंने प्रगतिवादियों की ऐसी कच्ची नस पकड़ली है कि उसे दबातेही वे उनकी श्वास बन्द कर-सकते हैं। साहित्यके साथ प्रॉपैगैण्डा शब्दका प्रयोग करना विशेषकर, जबकि साहित्यमें 'अमर कलाकारों' की भरमार हो और हमारा सारा साहित्य 'विश्वजनीन' और 'शाश्वत' हो, उनकी दृष्टिमें ऐसा जघन्य अपराध है जिसकेलिए पाठक प्रगतियादियोंको कभी क्षमा नहीं करसकते। यह एक 'हेरेसी' है जो सच्चे साहित्यकी जड़ें खोदना चाहती है, अतः अग्राह्य तथा दमनीय है।

प्रॉपैगैण्डा शब्दका प्रयोग कई अर्थोंमें होसकता है, हुआ है, और आज भी होता है। प्रगतिवादियोंने जबकभी भी उसका प्रयोग किया है तब ऐसे सामान्य अर्थमें कि उससे किसीको विशेष आपत्ति नहीं होसकती, क्योंकि साहित्यको प्रॉपैगैण्डा कहकर उन्होंने उसके उत्कृष्ट भावना-प्रधान, कल्प-नात्मक और कलात्मक गुणोंकी अवहेलना नहीं की, न उनका बहिष्कार ही आवश्यक समझा है। मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि मैं साहित्यकी इस व्याख्या से सहमत हूँ अथवा यह दृष्टिकोण सही है—इसका विवेचन मैं आगे करूँगा। किन्तु जोशीजी और उनकी तरहसे सोचनेवाले आक्षेपकर्त्ता, खेद है, प्रग-तिवादियोंके दृष्टिकोणको समझनेकी कोशिश न कर उसे ऐसे भद्दे अर्थ पहना देते हैं कि वह निन्दनीय दीखउठता है। मुझे यह स्वीकार करनेमें ज़रा भी आपत्ति नहीं कि यदि मुझे इन लोगोंके लेखों द्वारा ही प्रगतिवादके दृष्टि-कोणका परिचय मिलता, तो मैं उसे इतना बीभत्स और कुत्सित, प्रगति-

† साहित्य-सर्जना—इलाचन्द्र जोशी

विरोधी और असाहित्यिक समझता कि मुझे अनायासही प्रगतिवादसे घृणा होजाती। मैं समझता कि प्रगतिवाद कला और साहित्यकी कलात्मकता और साहित्यिकता तथा अन्य सभी उन गुणोंको जो इन्हें सजीव, मधुर और सुन्दर बनाते हैं, नष्ट कर उनके स्थानपर नीरस 'वादों' की व्याख्या, हड़ताल करनेके ऐलान और मज़दूर-किसान सभाएँ या अन्य पार्टियाँ संगठित करनेके प्रोग्रैम और प्रदर्शनोंमें गाने योग्य गीत और नारे भरना चाहता है। किसी भी व्यक्तिको साधारणतया यह मान्य नहीं होसकता, मुझे भी कैसे मान्य होता? और मैं श्री इलाचन्द्र जोशीके उपकारको मानताहुआ कि उन्होंने प्रगतिवादके चक्करमें पड़नेसे पहलेही मेरी आँखें खोलदीं, प्रगतिवादियोंको 'असाहित्यिक पेशेवर प्रॉपैगैण्डिस्ट', 'गड्डलिका-प्रवाह-पन्थी', 'उच्छृङ्खलतावादी', 'धूर्त' § आदि दुर्वचनोंसे सुबह-शाम उनकी स्तुति करता रहता। सौभाग्य या दुर्भाग्यसे मैं, या हिन्दीके अधिकांश तरुण लेखक, आज इस प्रकारकी रचनाओंके मिर्च-मसालेदार साहित्यिक खाद्यसे मानसिक-भोजन प्राप्तकर साहित्य-क्षेत्रमें नहीं आये हैं, इस कारण प्रगतिवादके प्रति जोशीजीकी घृणाके कीटाणु हमारे दिमाग़ोंमें घुसकर बीमारी नहीं फैलापाते। लेकिन मुझे आश्चर्य इस बातका है कि लोग कितनी सरलतापूर्वक न्यस्त-स्वार्थ मनोवृत्ति द्वारा उत्पन्न भ्रमोंका प्रचार † करने लगते हैं। क्योंकि इस दृष्टिकोणका उद्देश्य प्रगतिवाद द्वारा उठायी समस्याओं, उसके वक्तव्यों और उसके दृष्टिकोणको समझकर अपनी रचनात्मक आलोचना देना नहीं है, बल्कि उसपर कल्पित आरोप लगाकर ऐसे भ्रमोंकी सृष्टि करना है जो प्रगतिवादको बदनाम करदें, उसके स्वाभाविक विकासको रोकदें और वर्तमान पूँजीवादी समाजकी साहित्यिक अराजकता और मानसिक विशृङ्खलताको भी ज्यों-का-त्यों क़ायम रक्खें। 'प्रचारात्मकता' के नामपर प्रगतिवादके विरुद्ध स्वर ऊँचा करनेवाले ये महाशय अपने कथनों के अर्थारोप स्वयं नहीं समझते या जानकर भी वे अनजान बने हैं, अतः

§ साहित्य-सर्जना—इलाचन्द्र जोशी।

† खेद है कि 'प्रचार' प्रॉपैगैण्डाका पर्याय है और जोशीजी तथा उनके सहधर्मियों द्वारा प्रतिपादित बातोंको 'प्रचार' कहकर मैं उनके प्रति असम्मान प्रकट नहीं करना चाहता तोभी किसी अन्य उपयुक्त शब्दके अभावमें इस 'गर्हित-वर्जित' शब्दका आश्रय लेना पड़रहा है।—लेखक

'क्या साहित्य प्रॉपैगैण्डा है ?' प्रश्नपर विचार करते समय हम इन प्रगतिवाद-विरोधी सज्जनोंके आक्षेपों और मतोंपर ध्यान न देंगे क्योंकि तर्कके अभावके कारण वे समस्याको समझनेमें मदद नहीं देते। इसमें सन्देह नहीं है कि अधिकांश प्रगतिवादियोंका § यह मत रहा है कि साहित्य प्रॉपैगैण्डा है या प्रॉपैगैण्डाका साधन है, किन्तु वे प्रॉपैगैण्डा शब्दका प्रयोग किन अर्थोंमें करते हैं, यह स्थापना सही है या गलत है इसपर हमें स्वतन्त्र रूपसे विचार करना चाहिए।

'समस्त साहित्य प्रॉपैगैण्डा है' यह मत कैसे और किसके द्वारा प्रतिपादित कियागया और आगे चलकर किन लेखकोंने क्यों इसकी पुष्टि की, इसका क्रमबद्ध विवरण देना कठिन है और आवश्यक भी नहीं है। लेकिन मुझे जहाँतक याद पड़ता है रूसकी क्रान्तिके अवसरपर यह नारा लगायागया कि 'साहित्य वर्ग-युद्धका एक हथियार है।' यह एक गलत नारा था। किन्हीं खास परिस्थितियोंमें कोई नारा किस प्रकार उठाना चाहिए यह साधारण कार्य नहीं है क्योंकि उन परिस्थितियोंकी तात्कालिक आवश्यकताओंके अनुकूल कार्य-संगठन करनेके उद्देश्यसे जन-समूहको प्रेरित करनेकेलिए ही केवल नारा नहीं लगाया जाता—ऐसा नारा तात्कालिक

§ प्रगतिवादियोंसे मेरा अभिप्राय यहाँ उन लेखकोंसे है जो किसी-न-किसी रूपमें मार्क्सवादको स्वीकार करते हैं या उसके प्रति सहानुभूति रखते हैं। मार्क्सवादको स्वीकार करना एक प्रगतिवादीकेलिए आवश्यक है या नहीं, यह एक दूसरा विषय है, और यहाँ इस बहसमें पड़नेसे विषयान्तर होगा। केवल इतना कहना पर्याप्त है कि प्रचारात्मकताका आरोप विशेषकर इसी दृष्टिकोणसे प्रभावित प्रगतिवादियोंपर कियाजाता है, अन्यथा श्री इलाचन्द्र जोशी स्वयं अपनेको प्रगतिवादी समझनेमें अपना गौरव समझते हैं। फ्रायड और युङ्गके मनोविश्लेषण-शास्त्रके आधारपर उन्होंने जो अनकरारे साहित्य-सम्बन्धी सिद्धान्त (?) 'प्रतिपादित' किये हैं और इन्हीं सिद्धान्तों द्वारा एकत्र किये विकृत मनके रोगियोंके जीवन-चरित्रको जोड़-तोड़ कर जोशीजीने अपने उपन्यासोंमें जिन विक्षिप्त चरित्रोंका निर्माण किया है—उस सारे कृतित्वके बलपर वे अपनेको 'सच्चा प्रगतिवादी' घोषित करते हैं। यह 'सच्चा प्रगतिवाद' वास्तवमें कहाँतक 'सच्चा' है इसपर भी यहाँ कुछ कहना अनुपयुक्त होगा।—लेखक

आवश्यकताओंसे इतना आबद्ध रहेगा कि परिस्थितियोंके बदलनेपर वह एकदम बेकार होजायगा और कदाचित् नयी परिस्थितियोंके विपरीत पड़कर वह उनके विकासमें बाधक होउठे। भावों और विचारोंमें मनुष्यके मस्तिष्कमें चिपके रहनेकी ऐसी आदत होती है कि नयी तथा विपरीत परिस्थितियोंके उत्पन्न होजानेपर भी उनका उन्मूलन नहीं होपाता। अतः केवल सम-सामयिक उपयोगके नारे आगेके विकासमें बाधाएँ भी डालसकते हैं। सही नारा वही होता है जिसके आधारपर नयी परिस्थितियोंके अन्दर प्रयोग में लानेकेलिए नयी नीतिका विकास किया जासके, अर्थात् जिसमें भावी वास्तविकताकी सम्भावनाएँ अन्तर्निहित हों तथा जो जन-समूहमें ऐसी मिथ्या आशाएँ न उत्पन्न करे जिनकी कभी पूर्ति नहीं की जासकती। इस दृष्टिसे देखनेसे यह नारा दोषपूर्ण ठहरता है, क्योंकि जबतक रूसमें वर्ग-युद्ध था उसी समयतक उसका उपयोग भी था, यद्यपि उस अवस्थामें भी उसने साहित्य और कलाकी समस्याओंको बहुत हल्का करके तोलनेकी कोशिश की थी। इस नारेको मान्य मानकर प्रत्येक लेखककेलिए यह ज़रूरी हो गया कि वह केवल पूँजीपति और मज़दूर, श्वेत सेना या लाल सेना, ज़ारशाही और बॉल्शेविक पार्टी, कुलक और किसानके सङ्घर्षोंका, शोषित वर्गोंकी विजय कामना प्रकट करते हुए, ज्यों-का-त्यों तथा सीधा राजनैतिक वर्णन ही करे। मेरे कहनेका यह अर्थ नहीं कि इन सङ्घर्षोंका वर्णन करके उत्कृष्ट साहित्यकी रचना नहीं की जासकती; की जासकती है और उसके उदाहरण मौजूद हैं। परन्तु वहाँ ऐसी कृत्रिम स्थिति उत्पन्न होगयी थी कि लेखक यदि मज़दूरके व्यक्तिगत जीवनके प्रेम और विरह, आशा और निराशा आदि पहलुओंका वर्णन करता था तो चूँकि उसमें सीधे रूपसे शोषक वर्गपर आक्रमण न कियाजाता था, इस कारण यह समझा जाने लगा कि वह वर्ग-सङ्घर्षके हथियारको कुन्द बनारहा था। इसके अतिरिक्त इस नारेमें विरासत रूपमें मिले प्राचीन साहित्यके प्रति एक नकारात्मक भाव भी था जिससे सामाजिक विकासके साथ-साथ बढ़नेवाली साहित्यकी ऐतिहासिक परम्पराओंका तिरस्कार कियागया क्योंकि वे आजकी क्रान्तिमें वर्ग-युद्धका तेज़ हथियार न बनसकती थीं। इस प्रकार इस नारेने साहित्य और कलाकी उपयोगिताको बहुत सीमित करके देखा। फलतः इस नारेको अपनाकर लेखकोंकी संस्था R. A. P. P. ने रूसके लेखकोंपर अनेक

प्रतिबन्ध लगाये, जिसका एक दुष्परिणाम यह हुआ कि प्रोलेतेरियन (श्रमजीवी) साहित्य प्रॉपैगैण्डा-प्रधान होगया। गोर्की, स्टालिन तथा अन्य कई लेखकोंने इस ग़लत नारेके दुष्परिणामोंका अनुभव किया और R.A.P.P. तोड़दीगयी और लेखकोंका एक नया सङ्गठन बनायागया जिसने 'समाजवादी यथार्थवाद' का (समाजवादी रोमैण्टिसिज़्म भी जिसके अन्तर्गत है) नारा बुलन्द किया। समाजवादी यथार्थवाद साहित्यके एक विशिष्ट दृष्टिकोण और उसकी एक विशिष्ट शैलीका द्योतन करता है अर्थात् वह साहित्य या कलाकी वस्तु और रूप-योजना दोनोंको घेरलेता है। इसके अतिरिक्त उसमें प्राचीन साहित्यकी सजीव परम्पराओंको ग्रहण करने, नयी परिस्थितियोंके अनुकूल उनका विकास करने एवं कला और साहित्यको एक ऐसा मार्ग देनेकी सम्भावनाएँ मौजूद हैं जिसकी अगली मंज़िलें भविष्यके गर्भमें हैं। किन्तु अबतक 'साहित्य प्रॉपैगैण्डा है' का नारा विस्मृत नहीं होसका है, और आवेशमें आकर हमारे लेखक इसे दुहराते जाते हैं। यहाँतक कि अमेरिकाके प्रसिद्ध मार्क्सवादी लेखक जोज़ेफ़ फ़्रीमेनने भी 'संयुक्त राष्ट्रमें श्रमजीवी साहित्य' पुस्तककी भूमिकामें एक स्थानपर कुछ ऐसेही विचार प्रकट किये हैं। उन्होंने लिखा है कि 'कला का, जो वर्ग-युद्धका एक साधन यन्त्र है, मज़दूर-वर्गको अपने एक हथियारके रूपमें विकास करना चाहिए।' उनका कहना है कि कला 'अनुभवका विनिमय' करती है। लेकिन 'अनुभव' शब्दके अन्दर उसकी पकड़ छिपी है। पूँजीवादी विचारक या आलोचक मज़दूर वर्गके जीवनकी अभिव्यञ्जनाको अनुभवके अन्तर्गत नहीं मानते, बल्कि किसी स्त्रीके उरोजोंकी उपमाओंसे भरे वाक्य चमत्कारोंको ही अनुभव मानते हैं। फ़्रीमेनके पूरे लेखको पढ़नेसे यह धारणा तो निर्मूल होजाती है कि वे इस नारेके अर्थ में साहित्यको वर्ग-युद्धका हथियार मानते हैं। फ़्रीमेनका केवल यह कहना है कि साहित्यका प्रयोग चूँकि पूँजीपति वर्ग अपने स्वार्थोंकी रक्षाके निमित्त कर रहा है, ऐसी दशामें श्रमजीवी वर्गको भी उसका उपयोग अपने हितोंकी रक्षा और संघर्षके विकासमें करना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं कि समूचा साहित्य वर्ग-युद्धका हथियार है अथवा उसे होना चाहिए। तोभी ऐसे वाक्योंका प्रयोग यदि सावधानीसे कियाजाय तो अच्छा है यद्यपि इससे, खेद है, हमारे बहुत से पूँजीवादी आलोचकोंकी मौक़े-बेमौक़े फ़तवा देनेकी रोज़ी छिन जायगी।

चूँकि योरोपके अन्य देशोंमें वर्ग-युद्धने एक सफल क्रान्तिका रूप धारण न करपाया अतः वहाँ साहित्यको वर्ग-युद्धका हथियार घोषित करने की उतनी आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई जितनी प्रचारका साधन बनानेकी, जिससे मज़दूर वर्गका सङ्गठन किया जासके, उसके अन्दर समाजवाद और क्रान्तिकी चेतना फैलायी जासके। शायद इसीलिए वहाँ किसीने यह नारा ईजाद किया कि समस्त साहित्य प्रोपैगैण्डा है या होता है। पाठकोंने सम्भव है, अमेरिकाके प्रसिद्ध समाजवादी उपन्यासकार अप्टन सिन्क्लेयर की पुस्तक Mammonart पढ़ी हो। आलोचना-साहित्यकी दृष्टिसे पुस्तक निम्न कोटिकी है और यह प्रगतिवादके समीक्षा-सिद्धान्तोंका प्रतिनिधित्व नहीं करती। लेकिन उसमें प्रारम्भसे लेकर उसकी समाजवादी क्रान्तितक के योरोप और अमेरिकाके सभी महान् लेखकों और कलाकारोंकी कृतियोंका मूल्याङ्कन इस दृष्टिकोणको सामने रखकर ही कियागया है कि वे अपने समय के किसी-न किसी वर्गकी भावनाओंका प्रोपैगैण्डा करती थी। अप्टन सिन्क्लेयरके अनुसार समस्त साहित्य प्रोपैगैण्डा है, सार्वभौम तथा अनिवार्य रूपसे, कभी अज्ञात रूपसे अन्यथा अधिकतर ज्ञात रूपसे। कला जीवनकी अभिव्यक्ति है जो कलाकारके व्यक्तित्वसे प्रभावित होती है और उसका उद्देश्य अन्य व्यक्तियोंको प्रभावित करना और उन्हें भाव, विश्वास और कार्य-परिवर्तनकेलिए प्रेरित करना होता है। महान् कलाका जन्म तभी होता है जब जीवन्त तथा महत्त्वपूर्ण प्रोपैगैण्डा कलात्मक नैपुण्यके साथ किसी कला-विशेषके माध्यम-द्वारा कियाजाता है। सिन्क्लेयरका कहना केवल इतना है कि यह दावा करना कि कलामें प्रोपैगैण्डाको स्थान नहीं है तथा कला का स्वतन्त्रता और न्यायकी भावनाओंसे कोई सम्बन्ध नहीं है, एक प्रवञ्चना है, एक ऐसा भ्रम है जिसे न्यस्त स्वार्थवाले वर्गोंने फैलारखा है। इसके विपरीत उनके अनुसार कलामें प्रोपैगैण्डा ही प्रधान प्रेरणा है। क्योंकि साहित्य और कलाकी प्रत्येक रचना किसी-न-किसी भाव, विचार, विश्वास या दृष्टिकोणको व्यक्त करती है, और चूँकि अबतक समाज दो या दोसे अधिक परस्पर-विरोधी वर्गोंमें बँटारहा है, इस कारण यह भाव, विचार, विश्वास या दृष्टिकोण किसी-न-किसी वर्गके अनुकूल या प्रतिकूल अवश्य रहते हैं और जबतक मनुष्य वर्ग-हीन समाज नहीं बनालेता तबतक कला-साहित्यका प्रधान गुण प्रोपैगैण्डा ही रहेगा। यदि सिन्क्लेयरकी प्रोपैगैण्डा

की इतनी व्यापक व्याख्या स्वीकार करलीजाय तो प्रॉपैगैण्डाको कला और साहित्यका एक हदतक सामान्य गुण कहा जासकता है। पर केवल एक हदतक ही।

सामान्यतः जो लोग आजकल प्रगतिवादियोंपर प्रॉपैगैण्डाके नाम से दोष मढ़ते हैं वे प्रॉपैगैण्डाके इतनेही व्यापक अर्थ समझते हैं यद्यपि उसका जो पहलू प्राचीन साहित्य और पूँजीवादी साहित्यपर लागू होता है उसे मानने को तैयार नहीं होते। इन व्यापक अर्थोंमें प्रॉपैगैण्डा शब्दसे शायद पुराने लेखक और कलाकार इतना न चिढ़ते, वे शायद इसे स्वीकार भी करलेते।

वीरगाथा-कालके कवियोंको यह स्वीकार करनेमें क्या संकोच होता कि वे अपने शासक या नरेशके वैभव और पराक्रमकी गाथाएँ लिखकर उनका प्रभाव बढ़ाना चाहते हैं, और क्या यह प्रॉपैगैण्डा न हुआ ? आल्हा, पृथ्वीराज रासो तथा तत्कालीन काव्य-ग्रन्थोंमें क्या प्रॉपैगैण्डा नहीं है ? और यह बात भी नहीं है कि चन्द बरदायीको निम्नकोटिका कवि समझाजाता हो। इसी प्रकार भक्ति-कालीन कवियोंने वैष्णव तथा सूफ़ी मतोंका प्रचार किया था। तुलसीदासजीकी रामायणमें ऐसे कितने स्थल नहीं हैं जहाँ उन्होंने पाठकोंको रामकी भक्ति और उपासना करनेकेलिए प्रेरित किया है और राम से विमुख जानेवालोंकेलिए रौरव नरककी भीषण यातनाओंकी तसवीर खींची है ?

तुलसीदासजीके इस वर्णनको प्रॉपैगैण्डा न मानकर यदि 'शाश्वत सत्य' मान लियाजाय तो मुझे भय है कि आजकलके भौतिकवादी युगमें रौरव-नरकके बन्दियोंकी संख्या इतनी बढ़गयी होगी कि यमराजको ब्रिटिश सरकारकी तरह 'डिटेन्शन कैम्प' खुलवाने पड़रहे होंगे !

मीरा और सूरदासके पदोंमें भी प्रचारकी मात्रा कम नहीं है। फिर भूषण तो, जिन्हें हमारे आलोचक महाकवि स्वीकार करते हैं, यद्यपि यह विवादास्पद है, अपनी रचनाओं द्वारा खुलेआम महाराज शिवाजीका प्रॉपैगैण्डा करते थे। उनकी शिवा-बावनी आदिसे अन्ततक प्रॉपैगैण्डा-प्रधान है। इसी प्रकार आधुनिक लेखकोंकी रचनाओंमें किसी वर्ग या सम्प्रदाय का प्रॉपैगैण्डा साबित किया जासकता है। प्रेमचन्द, शरच्चन्द्र, टैगोर और इक़बालकी कृतियोंमें भी, जो इस युगके सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार हुए हैं, प्रॉपैगैण्डाकी कमी न मिलेगी। कहनेका तात्पर्य यह कि इस दृष्टिकोणसे देखने

से सभी कला और साहित्य-कृतियोंमें प्रॉपैगैण्ड
लिक है। पुराने ज़मानेके लेखक इसे स्वीकार न
क्योंकि वे इस बातसे इन्कार न कर सकते थे कि
च्छिन्न सम्बन्ध है या कि साहित्य समाजकी ए
की अभिव्यञ्जना करता है—यद्यपि साहित्यके
से किसी सामाजिक दृष्टिकोणसे साहित्यका मूल्य
न थे। किन्तु आजके लेखक अनुसार इसे स्व
कारण हैं। पहला तो यह कि कलाकार समाज
होगया है कि उसके मस्तिष्कमें 'कला कलाके
धारणाने स्थान जमालिया है। दूसरा यह कि
होगया है कि इसे स्वीकार करनेके अर्थ हैं कि
यह पूँजीपति वर्गका प्रॉपैगैण्डा करता है, जो कि
मंजूर न करेगा क्योंकि पूँजीपति वर्गने उसका
फिर वह यह स्वीकार करले कि वह श्रमजीवी
क्योंकि करना उसकेलिए अनेक कष्टों और सा
की उपेक्षा और निन्दाका कारण होसकता है।
के परे रहने' या तटस्थ रहनेका उपक्रम करता
पाता। विगत युगोंके लेखक इस प्रकार की प
उत्पन्न मानसिक द्वन्द्वसे बचे रहते थे। उन युगों
हासिक विकासकी उस प्रारम्भिक अथवा मध्
या कलाकारके सामने दोमेंसे एक वर्गका दास
गया था। अतः प्रगतिवादियोंने यदि कभी सा
तो इसी अर्थमें, किसी दूसरे अर्थमें नहीं। यहाँ
हमारे ये कतिपय आलोचक चन्द बरदायी या
अपनी रचनाओंमें व्यक्त उद्गारोंमें किसी वर्ग
यदि कोई राजकुमारों और राजकुमारियों, को
पुरुषोंके विषयमें लिखता है तो वह उनकी दृष्टि
यदि कोई किसान मज़दूर या मुफ़लिसोंकी बात
वह प्रॉपैगैण्डा है।* अतः यदि कुछ आलोचक

* किसान मज़दूरों या मुफ़लिसोंकी

लगाते हैं कि वे समीक्षा-सिद्धान्तोंको तिलाञ्जलि देकर प्राचीन-साहित्य अथवा आधुनिक-साहित्यके अन्दर शासक-वर्गोंकी भावनाओंकी अभिव्यक्ति ढूँढ़ कर उसे प्रॉपैगैण्डा कहते हैं तो प्रगतिवादी भी न्यायपूर्वक उनपर आरोप लगासकते हैं कि वे प्रगतिवादी साहित्यको प्रॉपैगैण्डा कहते हैं। और खेद इस बातका है कि साहित्य-समीक्षाकी प्रणालीकी अवहेलनापर रोष प्रकट करनेवाले ये आलोचक ही उस प्रणालीको तिरस्कार करनेका सबसे पहला अपराध करते हैं। प्रगतिवादी यदि पूँजीपति वर्गके प्रॉपैगैण्डाका आरोप करते हैं तो आलोचक मज़दूर वर्गके प्रॉपैगैण्डाका। प्रगतिवादियोंमें कम-से-कम इतनी ईमानदारी तो अवश्य है कि समस्त साहित्यको प्रॉपैगैण्डा कहकर वे समस्त साहित्यकी राशिमें शामिल अपने साहित्यको भी प्रॉपैगैण्डा स्वीकार करते हैं, तथा प्रॉपैगैण्डाको अपनेमें एक बुरी चीज़ नहीं मानते, यदि बुरा मानते हैं तो केवल शोषक वर्गोंके प्रॉपैगैण्डाको, क्योंकि वह शोषणके क़ायम रखनेका साधन बनता है। इसके विपरीत प्रगतिवादियोंके विरोधी प्रॉपैगैण्डाको हेय मानते हैं, लेकिन पूँजीपति वर्गकी भावनाओंकी अभिव्यक्तिको प्रॉपैगैण्डा नहीं मानते : उन्हें मनुष्यकी शाश्वत भावनाएँ मानते हैं, और मज़दूर वर्गकी भावनाओंको प्रॉपैगैण्डा कहते हैं अर्थात् उसे हेय समझते हैं। लेकिन यह तो एक विवादकी बात हुई। वास्तवमें क्या सारा साहित्य प्रॉपैगैण्डा है ? यदि सारा साहित्य प्रॉपैगैण्डा है तो निश्चयही पूँजीपति वर्गकी अपेक्षा मज़दूर वर्गका प्रॉपैगैण्डा ज़्यादा अच्छा है।

अमेरिकाके एक दूसरे प्रसिद्ध आलोचक-उपन्यासकार जेम्स० टी० फ़ेरेलने, जो समाजवादी हैं, अपनी पुस्तक A Note on Literary Criticism में इस प्रश्नपर अपने विचार प्रकट किये हैं। उनका कहना है कि हमें

वर्जित नहीं बताते और यदि इस वर्णनमें किसी मज़दूरसे मिल-मालिककी लड़कीकी या ज़मींदारके बेटेसे किसानकी बेटीकी शादी कराके 'लोक-कल्याण' की भावनाका पोषक, गाँधीजीकी भाषामें 'हृदय परिवर्तन', कर दियाजाता है तो ये आलोचक उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते भी नहीं थकते। प्रॉपैगैण्डाका लेबिल तभी चिपकाया जाता है जब इस वर्णनमें अन्त-तक वर्ग-संघर्षका निर्वाह रहता है, जैसे विद्युत-यन्त्रोंके आस-पास 'खतरा है' की नोटिस टाँगदी जाती है। इस प्रकार तहमें घुसनेपर प्रॉपैगैण्डाके प्रश्नके नीचे दृष्टिकोणका प्रश्न छिपा हुआ है।—ले०

सबसे पहले प्रॉपैगैण्डा शब्दकी व्याख्या निश्चित करलेनी चाहिए। लेनिन की पुस्तक What Is To Be Done ? से एक उद्धरण देकर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रॉपैगैण्डा किन्हीं सिद्धान्तों, योजनाओं तथा विचारों का प्रचार होता है ताकि किसी प्रोग्रेम या कार्यक्रमके अनुसार शीघ्रही अमल किया जासके। फ़ेरेलका कथन है कि यदि इस व्याख्याको स्वीकार किया जाय तो साहित्यको प्रॉपैगैण्डा नहीं कहा जासकता, क्योंकि मार्क्सका 'कम्यू-निस्ट मैनिफ़ेस्टो' प्रॉपैगैण्डाकी चीज़ होकर भी न केवल विचार-परिपाकका सुन्दर नमूना है बल्कि एक श्रेष्ठ साहित्यिक रचना भी है; इसके विपरीत आन्द्रे मालरोका उपन्यास Man's Fate यद्यपि एक उत्कृष्ट साहित्यिक रचना है तथापि प्रॉपैगैण्डाकी दृष्टिसे उसके विचार विवादास्पद हैं। अतः साहित्य और प्रॉपैगैण्डा दो भिन्न चीज़ हैं, यद्यपि दोनोंका किसीभी रचनामें सम्मिश्रण भी होता रहता है। फ़ेरेलने इससे यह सिद्ध किया है कि साहित्यके अपने अलग नियम होते हैं जिनसे उसकी उत्कृष्टताका अन्दाज़ा लगायाजाता है। साहित्य में केवल सामयिक तत्व ही नहीं होते, बल्कि कुछ ऐसेभी तत्व होते हैं जो उसे सापेक्ष्य स्थायित्वका गुण प्रदान करते हैं। अतः फ़ेरेलकी राय है कि 'सारा साहित्य प्रॉपैगैण्डा है' इस नारेको त्यागदेना चाहिए और उसके स्थान पर 'साहित्य सामाजिक-प्रभावका अस्त्र है' रखना चाहिए।

जेम्स टी० फ़ेरेलसे मैं कहाँतक सहमत हूँ, यह ज़्यादा महत्वकी बात नहीं है, यद्यपि यह स्वीकार करनेमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है कि मैं फ़ेरेल द्वारा कीगयी प्रॉपैगैण्डाकी व्याख्यासे सहमत हूँ। महत्वकी बात यह प्रश्न है कि साहित्यकी ऐसी समाज - शास्त्रीय व्याख्याओंकी आवश्यकता क्यों पड़ती है और ये व्याख्याएँ चाहे जितनी सर्वमान्य क्यों न हों, कहाँतक साहित्य की परिभाषाके रूपमें स्वीकार कीजासकती हैं, अर्थात् कहाँतक वे हमें साहित्य का मूल्यांकन करनेमें सहायता देती हैं, अतः हमारे समीक्षा-शास्त्रके अन्तर्गत सम्मिलित कीजासकती हैं। श्रीसुमित्रानन्दन पन्तकी 'पल्लव' की भूमिका का यह वाक्य कि 'हम ब्रजकी जीर्ण-शीर्ण छिद्रोंसे भरी पुरानी छींटकी चोली नहीं चाहते, इसकी संकीर्ण कारामें बन्द हो हमारी आत्मा वायुकी न्यूनता के कारण सिसकउठती है, हमारे शरीरका विकास रुकजाता है' विचार-णीय है। इस वाक्यकी शैली चाहे आज कितनी ही अलंकृत और पुरानी क्यों न लगे—या अनुपयुक्त भी कहसकते हैं—लेकिन यह समीक्षा-प्रणाली

लगाते हैं कि वे समीक्षा-सिद्धान्तोंको तिलाञ्जलि देकर प्राचीन-साहित्य अथवा आधुनिक - साहित्यके अन्दर शासक - वर्गोंकी भावनाओंकी अभिव्यक्ति ढूँढ़ कर उसे प्रॉपैगैण्डा कहते हैं तो प्रगतिवादी भी न्यायपूर्वक उनपर आरोप लगासकते हैं कि वे प्रगतिवादी साहित्यको प्रॉपैगैण्डा कहते हैं। और खेद इस बातका है कि साहित्य-समीक्षाकी प्रणालीकी अवहेलनापर रोष प्रकट करनेवाले ये आलोचक ही उस प्रणालीको तिरस्कार करनेका सबसे पहला अपराध करते हैं। प्रगतिवादी यदि पूँजीपति वर्गके प्रॉपैगैण्डाका आरोप करते हैं तो आलोचक मज़दूर वर्गके प्रॉपैगैण्डाका। प्रगतिवादियोंमें कम-से-कम इतनी ईमानदारी तो अवश्य है कि समस्त साहित्यको प्रॉपैगैण्डा कहकर वे समस्त साहित्यकी राशिमें शामिल अपने साहित्यको भी प्रॉपैगैण्डा स्वीकार करते हैं, तथा प्रॉपैगैण्डाको अपनेमें एक बुरी चीज़ नहीं मानते, यदि बुरा मानते हैं तो केवल शोषक वर्गोंके प्रॉपैगैण्डाको, क्योंकि वह शोषणके क़ायम रखनेका साधन बनता है। इसके विपरीत प्रगतिवादियोंके विरोधी प्रॉपैगैण्डाको हेय मानते हैं, लेकिन पूँजीपति वर्गकी भावनाओंकी अभिव्यक्तिको प्रॉपैगैण्डा नहीं मानते: उन्हें मनुष्यकी शाश्वत भावनाएँ मानते हैं, और मज़दूर वर्गकी भावनाओंको प्रॉपैगैण्डा कहते हैं अर्थात् उसे हेय समझते हैं। लेकिन यह तो एक विवादकी बात हुई। वास्तवमें क्या सारा साहित्य प्रॉपैगैण्डा है ? यदि सारा साहित्य प्रॉपैगैण्डा है तो निश्चयही पूँजीपति वर्गकी अपेक्षा मज़दूर वर्गका प्रॉपैगैण्डा ज़्यादा अच्छा है।

अमेरिकाके एक दूसरे प्रसिद्ध आलोचक-उपन्यासकार जेम्स० टी० फेरेलने, जो समाजवादी हैं, अपनी पुस्तक A Note on Literary Criticism में इस प्रश्नपर अपने विचार प्रकट किये हैं। उनका कहना है कि हमें

नोटिस नहीं बनाते और यदि इस वर्णनमें किसी मज़दूरसे मिल-मालिककी लड़कीकी या ज़मींदारके बेटेसे किसानकी बेटीकी शादी कराके 'लोक-कल्याण' की भावना का पोषक, गाँधीजीकी भाषामें 'हृदय परिवर्तन', कर दिया जाता है तो ये आलोचक उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते भी नहीं थकते। प्रॉपैगैण्डाका नोटिस तभी चिपकाया जाता है जब इस वर्णनमें अन्तर्हित वर्ग-संघर्षका निर्वाह रहता है, जैसे विद्युत-यन्त्रोंके आस-पास 'खतरा है' का नोटिस टँगा रहता है। इस प्रकार तहमें घुसनेपर प्रॉपैगैण्डाके पीछे भी ईमानदारीका प्रश्न छिपा हुआ है।—ले०

सबसे पहले प्रॉपैगैण्डा शब्दकी व्याख्या निश्चित करलेनी चाहिए। लेनिन की पुस्तक What Is To Be Done ? से एक उद्धरण देकर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रॉपैगैण्डा किन्हीं सिद्धान्तों, योजनाओं तथा विचारों का प्रचार होता है ताकि किसी प्रोग्रैम या कार्यक्रमके अनुसार शीघ्रही अमल किया जासके। फ़ैरेलका कथन है कि यदि इस व्याख्याको स्वीकार किया जाय तो साहित्यको प्रॉपैगैण्डा नहीं कहा जासकता, क्योंकि मार्क्सका 'कम्यूनिस्ट मैनिफ़ेस्टो' प्रॉपैगैण्डाकी चीज होकर भी न केवल विचार-परिपाकका सुन्दर नमूना है बल्कि एक श्रेष्ठ साहित्यिक रचना भी है; इसके विपरीत आन्द्रे मालरोका उपन्यास Man's Fate यद्यपि एक उत्कृष्ट साहित्यिक रचना है तथापि प्रॉपैगैण्डाकी दृष्टिसे उसके विचार विवादास्पद हैं। अतः साहित्य और प्रॉपैगैण्डा दो भिन्न चीज हैं, यद्यपि दोनोंका किसीभी रचनामें सम्मिश्रण भी होता रहता है। फ़ैरेलने इससे यह सिद्ध किया है कि साहित्यके अपने अलग नियम होते हैं जिनसे उसकी उत्कृष्टताका अन्दाज़ा लगायाजाता है। साहित्य में केवल सामयिक तत्व ही नहीं होते, बल्कि कुछ ऐसेभी तत्व होते हैं जो उसे सापेक्ष्य स्थायित्वका गुण प्रदान करते हैं। अतः फ़ैरेलकी राय है कि 'सारा साहित्य प्रॉपैगैण्डा है' इस नारेको त्यागदेना चाहिए और उसके स्थान पर 'साहित्य सामाजिक-प्रभावका अस्त्र है' रखना चाहिए।

जेम्स टी० फ़ैरेलसे मैं कहाँतक सहमत हूँ, यह ज़्यादा महत्वकी बात नहीं है, यद्यपि यह स्वीकार करनेमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है कि मैं फ़ैरेल द्वारा कीगयी प्रॉपैगैण्डाकी व्याख्यासे सहमत हूँ। महत्वकी बात यह प्रश्न है कि साहित्यकी ऐसी समाज-शास्त्रीय व्याख्याओंकी आवश्यकता क्यों पड़ती है और ये व्याख्याएँ चाहे जितनी सर्वमान्य क्यों न हों, कहाँतक साहित्य की परिभाषाके रूपमें स्वीकार कीजासकती हैं, अर्थात् कहाँतक वे हमें साहित्य का मूल्याङ्कन करनेमें सहायता देती हैं, अतः हमारे समीक्षा शास्त्रके अन्तर्गत सम्मिलित कीजासकती हैं। श्रीसुमित्रानन्दन पंतकी 'पल्लव' की भूमिका का यह वाक्य कि 'हम ब्रजकी जीर्ण शीर्ण छिद्रोंसे भरी पुरानी छींटकी चोली नहीं चाहते, इसकी संकीर्ण कारामें बन्द हो हमारी आत्मा वायुकी न्यूनता के कारण सिसकउठती है, हमारे शरीरका विकास रुकजाता है' विचारणीय है। इस वाक्यकी शैली चाहे आज कितनी ही अलंकृत और पुरानी क्यों न लगे—या अनुपयुक्त भी कहसकते हैं—लेकिन यह समीक्षा प्रणाली

के एक नये विकासकी ओर अत्यन्त महत्वपूर्ण निर्देश करता है। पहले जब सामन्ती कालमें कविता मनोरञ्जन या आनन्द प्रदान करनेकेलिए लिखी जाती थी, तब कविताका 'उद्देश्य' रसका उद्रेक करना था। और समाज का सङ्गठन ऐसा था कि कविता या साहित्यके 'उपयोग' का कभी प्रश्न ही नहीं उठता था। 'उद्देश्य' के अन्दरही 'उपयोग' शामिल था, अर्थात् दोनोंको एकही मान लियागया था। और इस 'उद्देश्य' या उसमें शामिल 'उपयोग' की सीमाएँ बहुत संकीर्ण थीं। इस कारण इस 'उद्देश्य' की प्राप्तिकेलिए इसी सीमित परिधिके अन्दर प्रयोग कियेजाते थे और इन प्रयोगोंको सफल बनानेके प्रधान अस्त्र थे : अलंकार, ध्वनि, शब्द-शक्तियाँ, वक्रोक्ति, गुण आदि। जहाँतक समाजशास्त्र, दर्शन या मनोविज्ञानका सम्बन्ध था, उनके अपने अलग बाड़े थे, और यह आवश्यक न समझा जाता था कि इन सब बाड़ोंमें यातायातकी आवश्यकता है। यह रीतिकालकी बात है। उसके पहले भी भक्तिकालमें जब काव्यकी आत्माके स्थानपर धर्म और नैतिकता विराजमान थे आलोचना-पद्धति किसी सामाजिक दृष्टिकोणका अवलम्ब लेकर काव्यका मूल्यांकन नहीं करती थी। छन्दशास्त्र और अलंकार-शास्त्र, येही काव्य-समीक्षा रथके दो पहिये थे; और रसवादका सिद्धान्त उसके लक्ष्य या उद्देश्यकी ओर एक अस्पष्ट इशारा-मात्र करता था। भाव या रूपके 'सौन्दर्य' का कुछ नियमोंके अनुसार निरूपण करनाही शास्त्रीय समीक्षाका उद्देश्य था। काल-स्थित समाजमें काव्य या साहित्यका क्या उपयोग है, और उसके अनुकूल उसका क्या उद्देश्य है, अर्थात् उसका संविधायक पहलू क्या है, इस ओर किसीका ध्यान न जाता था मानो ये प्रश्न साहित्य या कलाके मूल्यांकनमें असङ्गत हों; और न कविता या साहित्यकी सृष्टिके मानसिक उद्गमतक पहुँचनेकी कोशिश होती थी, अर्थात् मनोवैज्ञानिक-विश्लेषणकी आवश्यकता न समझीजाती थी—सत्य तो यह है कि यह शास्त्र उस समय न हमारे यहाँ था और न योरपमें ही। अतः कुछ मनःस्थितियों या मनोविकारोंके वर्णन तक ही समीक्षा सीमित थी, जिसमें शृङ्गार या वात्सल्य, वीर या रौद्र, अद्भुत या वीभत्स, करुण या हास्य रसोंके, जो मनःस्थितियोंका अनुरूप द्योतन करते हैं, परिपाकको दिखाकर विश्रान्ति लेली जाती थी। इस प्रकार हमारी प्राचीन समीक्षा-प्रणालीका क्षेत्र इतना संकीर्ण था कि समाजशास्त्र और मनोवैज्ञानिक-विश्लेषणशास्त्रके विकासके

साथ—यद्यपि इन दोनों शास्त्रोंका विकास योरॅपमें हुआ—उसकी संकीर्ण सीमाओंका टूटना आवश्यक होगया, और कविता या साहित्य जो अबतक प्राचीन समीक्षाशास्त्रकी शृङ्खलाओंमें जकड़ा था, उसको भी नये ज्ञानके साथ अपना सीमा-विस्तार करनेकी आवश्यकता पड़ी। यदि इन बातोंको ध्यानमें रखकर पन्तजीके उद्धरणको देखें तो उसका महत्त्व औरभी बढ़ जाता है। ब्रज-काव्य-प्रणालीकी 'संकीर्ण कारामें बन्द हो' 'वायुकी न्यूनता' से 'आत्माका सिसक उठना' और 'शरीरका विकास रुकजाना' इस अनुभूतिका द्योतक है कि काव्य और साहित्यका विकास तबतक रुका रहेगा जब तक उनका सीमा-विस्तार नहीं कियाजाता; और यह सीमा-विस्तार समाजशास्त्र और मनोविज्ञानके नये दृष्टिकोणका भी सूचक है, कि समीक्षाशास्त्र को भी 'छींटकी चोली' का रङ्ग-बिरङ्गापन ही नहीं देखना चाहिए बल्कि यह भी देखना चाहिए कि 'वायुकी न्यूनता' से आत्मा और शरीरका विकास तो नहीं रुकता। इस सांकेतिक शब्दावलीको हटादें तो इसका अर्थ है कि काव्य और साहित्यके उद्देश्य और उपयोगको हमें फिरसे जाँचना चाहिए और उनके जाँचनेकेलिए हमें समाजशास्त्र और मनोविज्ञानके मापदण्डोंका भी प्रयोग करना चाहिए। तो कहनेका तात्पर्य यह कि समाजशास्त्रके मापदण्डोंसे मूल्यांकन करनेकी प्रथाका श्रीगणेश प्रगतिवादियोंके पहलेही शुरू होगया था। साहित्यके संविधायक पहलूसे उसपर विचार कियाजाने लगा था। और 'सारा साहित्य प्रॉपैगैण्डा है,' साहित्यके इसी संविधायक दृष्टिकोणका एक उत्तर है। लेकिन यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि सारे साहित्यको प्रॉपैगैण्डा या सामाजिक-प्रभावका अस्त्र कहकर आजके समाजमें उसके एक महत्वपूर्ण संविधायक पहलूका ही निर्देश कियाजाता है, और केवल इस दृष्टि से खरी उतरनेवाली कोई रचना अपनेमें श्रेष्ठ रचना नहीं होजाती। उसकी श्रेष्ठताका निरूपण करते समय उसकी सौन्दर्यानुभूति, उसकी रूपयोजना, शैली और प्रौढ़ता, वाक्य-रचना, शब्द-प्रयोग आदि अनेक दूसरी कसौटियों पर भी उसे कसना आवश्यक है, और प्रगतिवादी इन सब कसौटियोंपर किसी भी काव्य या साहित्य-कृतिका कसना आवश्यक समझते हैं, उनके महत्वको जानते हैं, यद्यपि आजके संक्रमण-कालमें वे साहित्यके संविधायक पहलूको दृष्टिमें रखकर उसका सामाजिक दृष्टिकोणसे विवेचन करना अधिक आवश्यक समझते हैं। इसके अनेक कारण हैं। पहला तो यह कि आजके समाजमें कला-

साहित्यका उपयोग अनेक राजनीतिक और आर्थिक हितोंको दृष्टिमें रखकर किया जारहा है, और जो समाज-व्यवस्थाको बदलनेमें संलग्न शक्तियाँ हैं वे कला-साहित्यके प्रभावको समझकर भी उन्हें इस विश्वव्यापी संघर्षमें प्रगतिशील शक्तियोंके शक्ति-वर्धनका साधन न बनायें यह उनकी बुद्धिमत्ताका प्रमाण न होगा—यह भाव कला या साहित्यके प्रति अवज्ञा या उपेक्षाका सूचक नहीं है वरन् उनके महत्त्व और उनकी शक्तिके प्रति स्वीकृतिका द्योतक है; न यह भाव इस बातका सूचक है कि प्रगतिवादी कला और साहित्यके सौन्दर्य-गत मूल्यकी क़द्र नहीं समझते; और न इसका यह अर्थ है कि प्रगतिवादी साहित्यके संविधायक पहलूपर ज़ोर देकर लेखकोंसे इस बातकी अपेक्षा करते हैं कि कलात्मक दृष्टिसे उनकी रचनाएँ चाहे न-कुछ हों लेकिन आजकी राज़-नैतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओंपर उनके वक्तव्य चौकस होने चाहिए। दूसरा यह कि प्रगतिवादी यह जानते हैं कि केवल रचना-कौशलके कारण ही, और वाक्य-विन्यास या शैली और कलाके कारण ही कोई रचना श्रेष्ठ नहीं बनसकती, न पहले कभी बनी— चाहे तब समीक्षक इस पहलूसे अवगत न हों, या उसे आवश्यक न समझते हों—न आज बन सकती है, और उसका मूल्याङ्कन करनेकेलिए उसके सामाजिक दृष्टिकोणको जाँचना भी आवश्यक है, अर्थात् कला या साहित्यको सामाजिक उद्देश्य और उप-योगसे अलग नहीं किया जासकता, ये दोनों उसके आवश्यक अङ्ग हैं। प्रगतिवादियोंपर यदि किसी बातका न्यायोचित आरोप किया जासकता है तो केवल इस बातका कि वे कला और साहित्यके सामाजिक दृष्टिकोण अर्थात् उनके उद्देश्य और उपयोगको ठीक-ठीक स्पष्ट रूपसे आँकलेना चाहते हैं और कोरी वायवी, या काल्पनिक, या आदर्शवादी, भावुकता-प्रधान स्थाप-नाओंसे सन्तुष्ट नहीं हैं। साहित्यको इतने विस्तृत चौखटेके अन्दर रखकर देखनेका प्रयत्न तो अभी शुरूही हुआ है, अतः प्रगतिवादी इस नये दृष्टि-कोणको अधिकाधिक वैज्ञानिक बनानेकी ओर प्रयत्नशील हैं, अभी या कभी वे अन्तिम निर्णयपर पहुँच जायँगे, ऐसा कोई भ्रम उन्हें नहीं है। लेकिन सत्यको अधिकाधिक प्राप्त करनेका एकमात्र यही तो तरीक़ा है कि हम नित नये अनुभवसे अपनी स्थापनाओंको समृद्ध बनातेजाँय।

इन विचारोंकी दृष्टिसे यदि हम पुनः 'क्या साहित्य प्रॉपैगैण्डा है ?' प्रश्नपर सोचें तो हमें उसपर नयी रोशनी पड़ती दिखायी देगी। 'सारा साहित्य

प्रॉपैगैण्डा है' की स्थापनाको अब हम आसानीसे अस्वीकृत कर सकते हैं। क्योंकि इस स्थापनामें प्रॉपैगैण्डाकी व्याख्याके अनुसार प्रॉपैगैण्डा और प्रतिपादनको पर्याय मान लियागया है। लेकिन योजनापर अमल करने या अमल करानेकेलिए जनसमूह या उसके किसी अङ्गको प्रेरित करना एक चीज़ है और व्यक्ति या समूहके विचारों या भावनाओंका प्रतिपादन करना एक दूसरी चीज़ है। पहला प्रॉपैगैण्डा है, दूसरा प्रॉपैगैण्डा नहीं है। यदि साहित्यमें अनिवार्यतः विचारों या भावनाओंका प्रतिपादन मिलता है तो उसे प्रॉपैगैण्डा नहीं कहा जासकता। यह दूसरी बात है कि सामाजिक क्रियाशीलताकी अभिव्यञ्जनाका साहित्य पाठकको भी उसकी अनुभूति कराता है पर इससे वह प्रॉपैगैण्डाका पर्याय नहीं बनजाता। लेकिन फ़ेरेलकी यह स्थापना भी उपयुक्त नहीं है कि 'साहित्य सामाजिक प्रभावका अस्त्र है।' यह एक स्वयं-सिद्धि है उसी तरहकी कि आदमी बुद्धि-धारी जानवर होता है, और अस्त्र जोड़देनेसे वह स्वयं-सिद्धि न तीव्र होजाती है न प्रभावपूर्ण। उसके स्थानपर 'साधन', 'चीज़', आदि भी उपयुक्त रहते। इसके अतिरिक्त 'सामाजिक प्रभाव' बड़ा कमज़ोर वाक्यांश है, क्योंकि 'प्रभाव' शब्दको सीधे तौरपर सामाजिक प्रगतिकी अपेक्षामें मापना कठिन है और सामाजिक प्रगतिमें इस प्रभावकी क्या सक्रिय भूमिका रहती है इसका बहुत क्षीण आभास इस शब्दसे मिलता है। जिस क्रान्तिकारी युगमें हम रहते हैं, उसकी वास्तविकताके मुकाबलेमें यह अभिव्यक्ति अत्यन्त लचर है। फिर साहित्य केवल सामाजिक प्रभावका ही अस्त्र नहीं है वह सामाजिक परिवर्तनका भी अस्त्र है। सामाजिक परिवर्तनमें साहित्य वह भाव-प्रधान सामाजिक शक्ति उत्पन्न करता है जो मनुष्यके भाव-जगतको परिवर्तित कर इतना विस्तृत बना देती है कि वह हमारे अन्दर देखने और अनुभव करनेकी क्षमता पैदा कर हमें विगत तथा पुरातनके विकसित-परिवर्तित रूप आगत तथा नवीनको ग्रहण करनेकी शक्ति प्रदान करती है। भाव-जगतका यह परिवर्तन भौतिक जीवनकी आवश्यकताओंसे प्रभावित होता है और पुनः वह भौतिक जीवनको बदलकर एक उच्च धरातलपर सङ्गठित करनेकी शक्ति प्रदान करता है। यह भाव-जगतकी क्रिया-प्रक्रिया मनुष्यकी स्वतन्त्रता प्राप्त करनेकी जीवन-क्रियाका एक अनिवार्य अङ्ग है। श्रेष्ठ साहित्य इस क्रियामें सहायक होता है, सहायक ही नहीं उसका साधन भी बनता है। श्रेष्ठ कला या साहित्यका यह

छायावादी कवितामें असन्तोषकी भावना

भारतके नवोत्थित पूँजीवाद द्वारा प्रेरित राष्ट्रीय जागरणकी प्रथम स्वाभाविक प्रतिक्रिया साहित्यमें भारतेन्दु कालसे लेकर द्विवेदी कालतककी इतिवृत्तात्मक कविताके रूपमें व्यक्त हुई। कतिपय राजनीतिक और सामाजिक सुधार ही मुक्ति-भावनाके चरम लक्ष्य थे। सामाजिक जीवनके सङ्गठन में आमूल परिवर्तनों और उनके अनुकूल ही समाज-चेतनाके नूतन संस्कार की आवश्यकताका अनुभव अभीतक स्पष्ट रेखाएँ नहीं बनापाया था। सारे प्रश्न सरल और सुबोध थे, अतएव उनकी अभिव्यक्ति भी अत्यन्त सरल और सुबोध थी। अपनी राष्ट्रीय अधोगतिके कारणोंकी खोज प्राचीन संस्कृतिके आदर्शोंसे च्युत होजानेके तथ्यको प्रमाणित करनेतक ही सीमित थी और आकांक्षित समाजका आदर्श निरूपित करनेकेलिए गोपालक कृष्ण की जनवादी परम्पराओंको गौरवान्वित कियागया था। 'भारत-भारती' और 'प्रियप्रवास' इस युगकी राष्ट्रीय चेतनाके श्रेष्ठ उदाहरण हैं। सरल समस्याओंका सरल समाधान! परन्तु १९१४-१८ के महायुद्ध, भारतकी राष्ट्रीय आकांक्षाओंके प्रति साम्राज्यवादकी निर्मम उपेक्षा, राष्ट्रीय असन्तोष, असहयोग आन्दोलन और दमन, मुक्तिकामी राष्ट्रीय चेतनाका सामाजिक जीवनकी रूढ़ियों और जर्जर परम्पराओंके कठोर बन्धनको तोड़तेहुए वैज्ञानिकता अथवा आधुनिकताकी ओर स्वाभाविक प्रवाह— आदि घटनाओंने हमारे राष्ट्रीय जीवनकी समस्याओं और उनके प्रति हमारे दृष्टिकोण एवं अनुभूतियोंकी सरलताको एक झटकेसे छिन्नतार करदिया। हमारे कवियोंके अति संवेदनशील मानसने अनुभव किया कि ये सारी घटनाएँ और ये सारे प्रश्न एक-दूसरेपर निर्भर, और एक-दूसरेसे सम्बद्ध और संगुम्फित हैं—केवल आत्मनिर्भर और निरपेक्ष नहीं हैं—और यह तथ्य हमारे राष्ट्रीय जीवनमें एक महान् संघर्षका सूत्रपात करता है। इस संघर्षमें समाज और व्यक्ति, वर्ग और जाति, पुरुष और नारी सभी समानरूपमें अपनी भूमिका खेलेंगे। सामाजिक जीवनके हर क्षेत्रमें इस महान् संघर्षकी दुन्दुभी बजी

है। देशके जनजीवनमें एक अपूर्व हलचल व्याप्त होगयी, जाग्रतिकी नयी भावनाओंने भारतीय जनताके अन्तरके ओर-छोरको झकझोर दिया और जो संघर्ष जीवनके व्यापक क्षेत्रोंको उद्‌बुद्ध और आन्दोलित कररहा था वह अब प्रत्येक व्यक्तिको आशा और निराशा, मुक्तिकामना और अनिश्चितता, दृढ़ संकल्प और अधीरता, विश्वास और आशंकाकी प्रबल लहरों पर डुबाने-उतराने लगा। इस संघर्षने सारे प्रश्नोंको जटिल और संश्लिष्ट बनादिया। साम्राज्यवादी पराधीनतासे मुक्ति पानेकी आकांक्षा, पुरातनके बन्धनोंसे भी एक साथ ही मुक्ति पानेकी लालसामें परिणत होगयी और इस चतुर्मुखी संघर्षमें सामाजिक जीवनका हर अङ्ग जाग्रतिकी भावनाके साँचेमें ढलकर नया संस्कार पानेलगा। हमारे छायावादी कवियोंने इसी संश्लिष्ट वास्तविकताका उत्कृष्ट भावगम्य चित्रण किया। निरालाने अपने बादल-गीतोंमें नूतनका आवाहन किया, पन्तने निष्ठुर परिवर्तनका स्वागत ही किया। काव्यमें स्वाभिमानका नया भाव फूट निकला। छायावादका कवि हिन्दीकी काव्यधारामें 'चिर-विद्रोही' और 'चिर-अधीर' के रूपमें अवतरित हुआ। 'असन्तोष' और 'प्रतिवाद' के भावोंसे उसकी कविता ओतप्रोत है। अपनी चरम जिज्ञासा, विस्मय-भावना, अधीरता और विशद कल्पनाके द्वारा छायावादके कविने समूचे राष्ट्रके जीवनमें नया स्पन्दन भरदिया और उसे जीवनके प्रति देखनेकी नयी दृष्टि दी। संक्षेपमें नयी संस्कृतिका निर्माण किया। परन्तु छायावादका कवि अनेक ऐतिहासिक कारणोंसे इस परिवर्तन, आन्दोलन और संघर्षके मूलकारणों को नहीं समझ पाया, अतः आशा और निराशा, नूतन और पुरातनके बीच जो तीव्र संघर्ष होरहा था, उसने उसकी अनुभूतिको गहरे विषाद और मर्मान्तक वेदनासे रंगकर करुण बनादिया।

छायावादकी कविताके बारेमें आलोचकोंकी भी सम्मति है कि आधुनिक जीवनकी विषादपूर्ण अवस्थाने उसे करुण और वेदनामय बना दिया है। लेकिन यह विषादमय परिस्थिति क्यों उत्पन्न हुई और उसने हमारे काव्य-साहित्यपर केवल ऐसाही प्रभाव क्यों डाला, और इस 'करुण-क्रन्दन' और 'वेदना' में 'असन्तोष-भावना' की कितनी व्यापक किन्तु क्षीण रेखाएँ अङ्कित हैं, इस तथ्यकी गहराईमें जाना उन्हें अरुचिकर प्रतीत होता है। वे इस असामञ्जस्य, इस विषमताको ज्यों-का-त्यों, बिना वास्तविक

कारणकी खोज किये 'नैसर्गिक' मानकर स्वीकार करलेते हैं। पूँजीवादी समाजने इन आलोचकोंके संस्कारों, उनके विचार और भाव-जगतपर जो प्रभाव डाला है, उससे वे निर्लिप्त नहीं होपाते। फलतः वे इस विचित्र परिस्थितिका मूल-कारण भी नहीं खोजपाते। उनकी संकीर्ण सीमाएँ स्पष्ट हैं।

प्रश्न है, क्यों अधिकांश छायावादी कवियोंकी 'वीणाके तार' टूटे और अस्तव्यस्त हैं ? क्यों उनके हृदयमें 'क्रन्दन', नेत्रोंमें 'तप्त अश्रु' और मानसमें 'सूनापन' है ? क्यों उनकी 'आशाएँ', 'अभिलाषाएँ' और 'स्वर्ण कल्पनाएँ' नष्ट होगयी हैं ? सारे जगत्को आप्लावित करनेवाली इन कवियोंके नेत्रोंकी 'सावन घन'-वर्षाका कारण क्या व्यक्तिगत है ? क्या यह 'मेरी-तेरी' अनुभूतिका प्रश्न है ? आज क्यों सभीका जीवन आशङ्कित है, क्यों सभी विक्षुब्ध और विक्षिप्त हैं ? इस महारुदनके अन्दर 'असन्तोष' का 'चीत्कार' कहाँ और क्यों छिपा है ?

इन प्रश्नोंकी गहराईमें जानेकेलिए हमें नये सिरेसे अपने कला-विषयक विचारोंका मूल्याङ्कन करना होगा।

कविताका समाजसे अविच्छेद्य सम्बन्ध है, क्योंकि कविताका मनुष्यके भावोंसे सम्बन्ध है। आदि कालसे मनुष्य प्रकृतिसे युद्ध करता आया है—उसपर विजय प्राप्त करने, उसके अन्तरतम प्रदेशोंमें प्रविष्ट होकर उसके निगूढ़ रहस्योंका उद्घाटनकर, उसके साथ उच्चतम स्तरपर संतुलन स्थापित करनेकेलिए—क्योंकि मनुष्य प्रकृतिके अन्ध प्रकोपों और बन्धनों से मुक्त होना चाहता है, क्योंकि वह स्वतन्त्रता चाहता है। लेकिन एक मनुष्य इस कार्यको सम्पन्न नहीं करसकता, इसलिए वह सामूहिक जीवन व्यतीत करता है, समाजमें रहता है। सामाजिक श्रम ही उसकी स्वतन्त्रताका अस्त्र है। मनुष्यकी आर्थिक व्यवस्था या उत्पादन-प्रणाली ही उसकी प्रगति या उन्नतिकी द्योतक है। जितनीही उन्नत आर्थिक-प्रणाली होगी उतनीही हदतक मनुष्य प्रकृतिसे स्वतन्त्र होगा। मनुष्यके इस सामाजिक विकासने ही उसमें ज्ञान-चेतना उत्पन्न की। सामाजिक चेतना मनुष्यके समूहको संगठित और संचालित करती है। समाजने मनुष्यकी जिन अन्तर्वृत्तियोंको पर्यवसित किया, वे स्वतन्त्र होकर समाजकी ज्ञान चेतनाके चिर-परिवर्तन करनेमें परि-पेषित होतीरहीं; अस्वीकृत पथ-भ्रान्त पथिककी भाँति भटकतीरहीं। सामा-

जिक जीवन और सामाजिक अनुभवसे जिनका सम्बन्ध रहता है वही अन्तवृत्तियाँ इस कोषमें स्थान पाती हैं।

कविता कला है। मनुष्यके श्रमकी तरह यह भी स्वतन्त्रताका अंग है। जिस प्रकार मनुष्य वास्तविकताके बदलनेमें ही बाह्य-वास्तविकताका ज्ञान प्राप्त करपाता है (विज्ञान द्वारा) उसी प्रकार अन्य मनुष्योंके 'अहं' की अनुरूपताका ज्ञान भी उसे 'अहं' को बदलनेके प्रयत्न द्वारा ही प्राप्त होता है (कविता और कला द्वारा)। भौतिक जगत्के समान मनुष्यके सामाजिक जीवनमें भी परिवर्तन अनिवार्य है, केवल बाह्य जीवनमें ही नहीं वरन् उसके आन्तरिक जीवन या भाव-जगत्में भी। इसीलिए समाजके सामूहिक भाव समाजके विकासके साथ-साथ परिवर्तित होतेजाते हैं। यह आवश्यक नहीं कि उनके परिवर्तनकी गति समान ही हो—अतः कलाकी भी यह विशेषता है कि वह परिवर्तनशील और प्रगतिशील है।

प्रकृति और चतुर्दिक् वातावरणसे संघर्ष करनेवाले मनुष्यके भावों में उसके बाह्य जीवनकी प्रतिक्रिया होती है, हृदयमें भावोंका संघर्षण होता है, आकांक्षाएँ उत्पन्न होती हैं, सामाजिक संघर्षकी कठोर-कटु विषमताओं को मधुर बनानेकी उत्कण्ठा पैदा होती है, परिवर्तित सामाजिक जीवनसे तादात्म्य स्थापित करनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है। तात्पर्य यह कि बाह्य संघर्षके साथ-साथ आन्तरिक संघर्ष या भाव-जगत्का द्वन्द्व भी चलतारहता है। और कविता, जो भावोंको संगठन या उन्हें तरतीब देती है, नवीन अन्तर्प्रेरणाओं द्वारा भाव-जगत्की सीमा विस्तृत करतीजाती है। वह जीवन-श्रम या संघर्षको भावोंके रससे सींचकर मधुर बनातीजाती है। कविताका यही उद्देश्य रहा है। वह सामाजिक जीवन और सामाजिक श्रमके साथ मनुष्यका 'मानवी लगाव' उत्पन्न करती है। यह कार्य कविता मनुष्यके भावों को एक नवीन श्रेष्ठतम कल्पनात्मक संसारमें अवतरित कर करती है। इस कल्पनात्मक संसारकी वास्तविकता अवास्तविक नहीं होती, वरन् एक उच्चकोटिकी वास्तविकता होती है। कविताका जन्म ही इस श्रेष्ठतम वास्तविकताकी कल्पनात्मक रूपरेखा अङ्कित करनेसे होता है। यद्यपि हम इस कल्पनात्मक वास्तविकताका स्पर्श नहीं करपाते, तथापि इस 'भ्रम' के दीपकको लेकर भविष्य के तमपूर्ण गर्भमें घुसनेका साहस सञ्चित करलेते हैं। यह भ्रम, यह श्रेष्ठ जीवनकी कल्पना मृग-मरीचिकाके समान अप्राप्य नहीं होती, क्योंकि वर्त-

मानके गर्भमें उसके बीज होते हैं, जिन्हें सम्पूर्ण मानवताकी श्रम-शक्ति भविष्य में अंकुरित करनेमें सफल होती है—कल्पना सत्य होजाती है, आकांक्षाएँ वास्तविकताके रूपमें परिणत होजाती हैं।

अतः कविता मनुष्यकी स्वतन्त्रताका अस्त्र है।

आदिकालमे जब कविताका जन्म हुआ था, समाज बहुत आगे बढ़ आया था। उस समय कविताका जीवनसे सीधा सम्बन्ध था। हम ऋतु-उत्सवोंके गीतोंमें अर्ध-ऐतिहासिक समाजका सामाजिक तथा सामूहिक श्रम से जो सम्बन्ध था, उसका भावपूर्ण चित्रण पाते हैं। इनमें कोठियों अनाज और सुख-समृद्धिकी कल्पना कीजाती थी, केवल इसलिए कि फ़सल पैदा करनेका श्रम मधुर बनसके, हल्का होसके, उसमें तत्परता और उत्साह भरा हो। कविताओंके उच्चारणका सम्बन्ध कलात्मक रूपसे मनुष्यके कार्यके साथ रहता था और उसके पीछे मनुष्यकी सामूहिक भावनाएँ निहित रहती थीं। इस प्रकार फ़सलके गीतसे मधुसिंचित कार्य चलताजाता था; उत्पादन बढ़ा, और नयी आवश्यकताएँ उत्पन्न होगयीं। प्रकृतिपर विजय प्राप्त करनेकी आकांक्षाने नवीन कल्पनाओंको जन्म दिया। इन्द्र, वरुण, गरुड़, पवन-सुत, नभ-यान (विमान) आदिकी अनेक कल्पनाएँ बनीं, जो परिश्रम-कुशल अनुभवी थे उन्हें देवताओंका पद-गौरव प्राप्त हुआ। और मनुष्य नये कल्पना-चित्रोंको आँखोंमें रमाये एक नयी उमङ्गसे प्रकृतिके नव-प्रदेशोंपर विजय प्राप्त करनेकेलिए प्रयत्नशील होतागया।

संक्षेपमें, कविता सत्यके एक नूतन कल्पनात्मक संसारकी रचना करती है, और इस कल्पनात्मक संसारके विशिष्ट गुणोंके साथ हमारा भावात्मक तादात्म्य स्थापित करती है। इस कल्पनात्मक संसारसे हमारा सम्बन्ध अन्तर्वृत्तियों द्वारा नहीं होता, वरन् आर्थिक-सामाजिक जीवनकी आवश्यकताओंकी चेतना द्वारा होता है। इस कल्पनात्मक संसारकी सृष्टि सामूहिक अनुभूतिके आधारपर होती है।

निष्कर्ष निकला कि कविताका जन्म स्वतन्त्रताके साथ होता है। इतिहासके आदि कालमें, जबतक समाज परस्पर-विरोधी वर्गोंमें स्पष्ट रूपसे नहीं बँटजाता अर्थात् जबतक मनुष्य सामूहिक जीवन व्यतीत करता है और मनुष्य मनुष्यका दुश्मन न बनकर केवल प्रकृतिका कोप-भाजन ही

बनारहता है, कविता सम्पूर्ण मानवताकी आकांक्षाओंका प्रतिनिधित्व करती है, मनुष्यके सामूहिक भावों और श्रमोंकी अभिव्यञ्जना करती है। किन्तु इसके पश्चात् एक अति-उन्नत एवं सभ्य वर्गके समाजमें कविता समस्त समाजकी आकांक्षाओं और उसके श्रमोंको व्यक्त न कर केवल शासक वर्गकी भावनाओंको व्यक्त करनेलगती है। समस्त मानवताका दामन छोड़कर वह शक्ति-सम्पन्न वर्गका वरण करलेती है।

समाजके विकासके साथ, अर्थात् उत्पादनकी प्रणालीके विकासके साथ, समाजमें श्रम-विभाजन होनेलगता है। समाजकी उन्नति और प्रत्येक मनुष्यके पूर्ण विकासकेलिए यह श्रम-विभाजन अनिवार्य है। उत्पादनकी वृद्धिने वर्ग उत्पन्न किये। शासक वर्गके ध्रुवपर मानव-समाजकी सम्पूर्ण चेतना केन्द्रीभूत होगयी। कलाकार या कवि भी इसी ध्रुवपर मँडरातेरहे और शासक वर्गकी तरह उन्हें भी श्रमसे छुट्टी मिली। शनैः शनैः कला या कविता सामूहिक श्रमसे विभिन्न, दूरस्थ होतीगयी। कवि अकेला, निराला व्यक्ति बनगया।

पूँजीवाद अपनी प्रारम्भिक अवस्थामें एक क्रान्तिकारी समाज था। सामन्तशाहीका अन्त कर, उसने मनुष्यको मनुष्यकी गुलामीसे स्वतन्त्र कर दिया, उत्पादन प्रणालीमें क्रान्तिकारी उन्नति की, और पूरे समाजकी रूप-रेखाही बदलदी। 'बराबरी', 'भाईचारे' और 'स्वतन्त्रता' के नामपर सामन्ती समाजका अन्त कर उसने नये समाज-सम्बन्ध स्थापित किये। अठारहवीं सदीकी योरोपीय क्रान्तियाँ, मुख्यकर फ्रांसकी पूँजीवादी सामाजिक क्रान्ति! पूँजीपति वर्गके सिद्धान्त-प्रतिपादक समझे कि 'स्वतन्त्र रूपसे जन्म लेनेवाला जो मनुष्य हर जगह बन्धन-ग्रस्त' है, वह पूँजीवादके शुभागमनसे उन्मुक्त होगया। लेकिन यह पूँजीपतिवर्गकी स्वतन्त्रता थी, व्यापार-वृद्धि और साम्राज्य विस्तारके लिए यह निश्चयही स्वतन्त्र होगया था। जहाँतक आर्थिक प्रणालीका सम्बन्ध है, पूँजीपति वर्ग एक क्रान्तिकारी वर्ग है। उत्पादन-प्रणालीमें निरन्तर क्रान्तिकारी उन्नति कर वह उत्पादन प्रणालीकी बुनियादको इतनी विस्तृत और सामाजिक बनादेता है कि समस्त मानव जाति सामूहिक रूपसे उत्पादन-कार्यमें भाग लेनेलगती है।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वह अपने साथ नये सामाजिक बन्धन नहीं लाया। इस शोषक समाजके बन्धन औरभी कठोर और निरंकुश

होते हैं। लाभकी प्रेरणा, उत्पादनके साधनोंपर व्यक्तिगत स्वाधिकार, औद्योगिक प्रतियोगिता और इनसे उत्पन्न साम्राज्यवाद, फ़ासिज्म, आर्थिक संकट बेकारी और युद्ध करोड़ों प्राणियोंके जीवनमें विभ्राट् पैदा करदेते हैं, और उन्हें बाजार और वस्तुका गुलाम बनादेते हैं। पूँजीवादके पतनोन्मुख काल की यह बीभत्स, विकराल, रक्त-पिपासु वास्तविकता श्रमजीवी वर्गमें अपने श्रमकी सामूहिकता और पूँजीवादका नाश कर इतिहास-चक्रको आगे ले जानेकी अपनी क्षमताकी चेतना उनमें उत्पन्न करदेती है। इन दो परस्पर-विरोधी वास्तविकताओंके सामने पड़कर आजका पूँजीपति अपनी अन्तर्वृत्तियों और पूँजीवादके निरंकुश सामाजिक नियमोंका दयनीय-निरुपाय दास बनगया है। वह समाजके हितोंके विरुद्ध खड़े होकर उसके बन्धनों की श्रृङ्खलाको औरभी जकड़कर स्वतन्त्र होनेकी व्यर्थ चेष्टा कररहा है। समाज की असङ्गतियोंका यह निरुपाय दास आज व्यक्तिवादी, आत्मपेक्षी और समाजका शत्रु बनगया है।

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है। भारतमें पूँजीवाद एक क्रान्तिकारी के रूपमें नहीं बल्कि एक सौदागरके रूपमें आया। उसका चरम उद्देश्य भारतीय बाजारों, यहाँके प्राकृतिक साधनों, और यहाँके श्रमका शोषण करना था; उनपर अपना आधिपत्य जमाना था, क्रान्ति करना नहीं। निदान, सामन्ती आर्थिक प्रणाली बदलकर पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली होगयी, लेकिन सामन्त सामन्त रहे, समाज-सम्बन्धों, धर्म, संस्कृति, सभ्यता और मतमतान्तरोंके जर्जरित रूपोंको उँगलीतक न छुआयीगयी। इस कूड़ा-करकटके नीचे दबकर भारतीय सभ्यता-संस्कृतिकी जीवन-प्रदायिनी निधियाँ भी निर्जीव होचलीं। लेकिन साम्राज्यवादके रूपमें पूँजीवादके आगमनसे हमारी जीवन समस्याएँ आधुनिक और अन्तर्राष्ट्रीय होतीगयीं। इसलिए प्राचीन कूप-मण्डूकता और दकियानूसी रुढ़िवादिताके विरुद्ध स्वयमेव सुधार आन्दोलन उठ खड़े हुए; किन्तु उनमें तीव्र साम्राज्य-विरोधी भावनाका अभाव था, क्योंकि हमारी सारी जहालत, बर्बरता क़ायम रखकर साम्राज्यशाहीने हमपर अपनी निष्पक्षता और उदारताकी छाप लगादी थी, यद्यपि इस प्रकार वह हमारे सारे जीवन-स्रोतोंको बन्द करती जारही थी। तोभी साम्राज्यवाद भारतमें एक भारतीय पूँजीवादी वर्गके जन्मको न रोकसका। यह पूँजीपति वर्ग साम्राज्यवादका प्रतिवादी है। अतः एक हदतक क्रान्तिकारी है।

भारतमें आधुनिक कविताका विकास भी इसके अनुरूप ही हुआ। रोमैंटिक कविताकी उद्भावना जिसे हम 'छायावाद' की कविता कहते हैं, केवल पूँजीवादके कालमें ही होसकती थी। छायावादी कवि भी अधोगति-प्राप्त सामन्ती समाजकी शृङ्खलाओं और अनैसर्गिक बन्धनों, उसकी संकीर्ण सौन्दर्य-भावनाओं, कुत्सित सौन्दर्य मूल्योंके विरुद्ध विद्रोह करता है। वह एक ऐसे क्रान्तिकारीके रूपमें अवतरित होता है जो नवोत्थित वर्गके भावोंको, विगत जीवनकी वास्तविकताके विरुद्ध संगठितकर भावोंकी स्वतन्त्रता प्राप्त करनेकेलिए मनुष्यको सचेत प्रेरणा प्रदान करता है, और नवजीवनकी वास्तविकताओंसे भाव-जगत्‌का तादात्म्य स्थापित करानेकेलिए मनुष्यकी अन्तर्वृत्तियों और उसके 'अहं' में परिवर्तन करता है। भारतमें पूँजीवाद का अनैसर्गिक विकास होनेपर भी छायावादी कवियोंने रीतिकालकी मृत परिपाटीके विरुद्ध जो संघर्ष किया है, वह इस कथनका स्पष्ट प्रमाण है। 'भक्ति-काल' के कवियोंके सीमित दायरेका वर्णन करनेके बाद रीतिकालकी सामन्ती कविताकी 'संकीर्णता' और 'स्थविरता' की विशद व्याख्या करतेहुए कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्तने 'पल्लव' की भूमिकामें लिखा है कि 'इस तीन फ़ुटके नख-शिखके संसारके बाहर यह कवि-पुंगव नहीं जासके।' केवल इतना ही नहीं, पन्त परिवर्तित समाजकी वास्तविकता और उसके अनुरूप ही भावाभिव्यञ्जनकी शैलीकी आवश्यकताके प्रति भी सचेत थे। रीतिकालके कवियों के भाव-जगत्‌की संकीर्णतापर ही उन्होंने घातक प्रहार नहीं किये, वरन् उनकी शैली और छन्दोंपर भी, जो नवीन, अत्यधिक विकसित वास्तविकताकी भावात्मक कल्पनाको अपनी लघु सीमामें चित्रित करनेमें असमर्थ थे। पन्तने लिखा कि, 'ब्रज-भाषाकी उपत्यका ... का वक्षस्थल इतना विशाल नहीं कि उसमें ... सबकुछ समाया जासके।' इसलिए 'हम ब्रजकी जीर्ण-शीर्ण छिद्रोंसे भरी पुरानी छींटकी चोली नहीं चाहते, इसकी संकीर्ण कारामें बन्द हो हमारी आत्मा वायुकी न्यूनताके कारण सिसक उठती है, हमारे शरीरका विकास रुकजाता है। यह नक़ाब पहनाहुआ हास्यास्पद चेहरोंका नाच हमारी सभ्यता के प्रतिकूल है।'

यह 'सभ्यता' जिसको छायावादका कवि अभिव्यक्त करना चाहता है, कोई प्राचीन सभ्यता नहीं बल्कि आधुनिक पूँजीवादी सभ्यता है। उसकी वास्तविकताने कविका दृष्टिकोण इतना व्यापक बनाया कि वह पुरानी 'संकी-

र्ण कारा' का परित्याग कर स्वतन्त्र होनेकी आवश्यकताका अनुभव करने लगा। इस प्रकार छायावादी कवि एक प्रकारका क्रान्तिकारी था, क्योंकि उस की वाणी, उसके भाव-चित्रोंमें सामन्ती प्राचीनके प्रति गहरा प्रतिवाद था।

अतः हिन्दीकी आधुनिक छायावादकी कविताका जन्म भी स्वतन्त्रता की भावनाको लेकर हुआ। रीतिकालकी कविताकी संकीर्णता, स्थविरता नष्ट करके छायावादने अपने प्रारम्भिक कालमें व्यापक दृष्टिकोण और प्रगतिशील भावनाओंकी अभिव्यञ्जना की, सामन्ती-युगकी समाज-शृङ्खलाओं और रुढ़ियोंकी दासताके विरुद्ध संघर्ष करके, जिसके कारण मनुष्यके व्यक्तिगत विकासके समस्त द्वार बन्द होचुके थे, उसने 'व्यक्ति' की श्रेष्ठता प्रतिपादित की।

(२)

हिन्दीकी छायावादी कविता अत्यन्त संश्लिष्ट है। भारतीय पूँजी-वादके समान ही इसका विकास भी अनैसर्गिक रूपसे हुआ है, अतः इसकी दुर्बलताएँ भी अनेक हैं। अंग्रेज़ों, अंग्रेजी सभ्यता और साहित्यके सम्पर्क में आनेसे हमारे साहित्य और विशेषकर काव्य-साहित्यपर उसका असर पड़ा। इङ्गलैण्डके उन्नतिशील रोमैण्टिक कवियों—वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स, बायरन—की 'रोमैण्टिक' शैलीने हमारे काव्य-साहित्यको एक नवीन काव्य-शैली तो अवश्य प्रदान की, लेकिन उसमें इङ्गलैण्डके 'रोमैण्टिक' कवियों की सञ्जीवनी शक्ति, आशावादिता और प्रगतिशीलता न आपायी। उनकी व्यापक अनुभूति, विशाल हृदयता, प्रकृति और वातावरणपर विजय प्राप्त करनेकी अदम्य जीवट और जीवनको एक उच्च मानवी आदर्शपर क़ायम करनेकी कल्पनाका छायावादी कवितामें एक दुर्बल स्वरूप ही निखरपाया। इसके अतिरिक्त आधुनिक अंग्रेज़ी कवितासे भी छायावादी कविताकी अनु-भूति और भाववस्तुको प्रेरणा मिली है और उसकी समाज-विरोधी भाव-नाओंकी प्रतिच्छाया छायावादी कवितापर पड़ी है।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि छायावादकी कवितामें गहरे प्रतिवाद और असन्तोषकी भावनाका अभाव है। भारतीय पूँजीवाद ब्रिटिश साम्रा-ज्यवादके समस्त प्रतिवादी है, उसका प्रतिद्वन्दी है। यद्यपि विश्वका पूँजी-वाद पतनोन्मुख है; भारतीय पूँजीवाद अपने शैशवकालमें है और विका-सोन्मुख है। यद्यपि साम्राज्यवादी शृङ्खलाओंने उसका स्वतन्त्र विकास रोक

रखा है। इन प्रतिबन्धोंसे उन्मुक्ति चाहनेवाला भारतीय पूँजीवाद साम्राज्यवादसे संघर्ष कररहा है। इन असङ्गतियोंने छायावादी कवितापर भी प्रभाव डाला है। उसमें परस्परविरोधी मनोवृत्तियाँ प्रत्यक्ष होचुकी हैं। तोभी किसी न किसी रूपमें आधुनिक समाजके प्रति असन्तोषकी भावना उसमें सर्वत्र पायीजाती है।

रीतिकालीन बन्धनोंसे उन्मुक्त कविताने जीवनको उच्चतम आदर्श पर प्रतिष्ठित करनेकेलिए एक नये संसारकी कल्पनाका अनुभव किया :—

चाहता है यह पागल प्यार
अनोखा एक नया संसार

—महादेवी वर्मा

किन्तु इस नये संसारकी कल्पना आधुनिक समाजकी विषमताओं को दूर करने और नये समाजकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेवालेके रूप में नहीं कीगयी, बल्कि उसकी रूपरेखाकी कल्पनामें इन विषमताओं-द्वारा कियेगये घावोंपर मरहमका काम करनेवाले आत्मतुष्टिके भावों और रागों की सर्वमान्यता है। अर्थात् यह कामना कीगयी कि इस नये संसारमें 'सपने प्रहरी' हों, वहाँ 'जलनेमें विश्राम' और 'मिटनेमें निर्वाण' हो, वहाँ 'अरमानों' के बदले 'मूक व्यथासे भरा पागलपन' हो और 'दृग आँसूका व्यापार' करते हों। तोभी अपने 'पागल प्यार' केलिए 'अनोखा एक नया संसार' की आवश्यकता अनुभव करना ही इस बातका द्योतक है कि महादेवीजी वर्तमान संसारसे असन्तुष्ट हैं। लेकिन उनकी चेतनाहीन अनुभूति वास्तवमें एक ऐसे संसारकी कल्पना न करसकी, जिसमें आधुनिक विषमताएँ नष्ट होचुकी हों। इन विषमताओंके प्रति सहनशीलता उत्पन्न करके श्रेष्ठ जीवनका विकास तो नहीं किया जासकता?

अपनी उन्मुक्तिसे आशान्वित होकर छायावादी कविने 'वसन्तकी प्रतीक्षा' की, सोचा कदाचित् ये विषमताएँ दूर होजायेंगी और फिर 'मल्लिका-कुंज' खिल उठेगा, वसन्त-श्री चारोंओर छा जायेगी। लेकिन आधुनिक जीवन की परिस्थितियोंने उसकी 'आशालता' को 'पल्लवित' नहीं होनेदिया, 'दृग-जल' से सींचकर भी वह 'वसन्त' को न बुलासका। उसकी आशावादिता प्रश्नवाचक रूपमें परिणत होगयी :—

शून्य हृदयमें प्रेम जलद माला, कब
वर्षा इन आँखोंमें होगी, कब हरिया

यदि कभी छायावादी कवि आकांक्षाओंसे
नाके 'सोनेके संसार' को जीवनमें प्राप्त करनेकी को
सोनेके संसारको जिसमें 'धराका अनन्त शृङ्गार' है,
में 'असीमका प्यार' भरा है, जहाँ सभीमें 'स्वर्गीय
होता है कि:—

घोर तम छाया चारों ओ
....

वेग मारुत का है प्रतिकूल.

और जब कविके हाथसे 'पतवार' छूट
केन्द्र 'नक्षत्र-प्रकाश' भी बुझगया, तो निस्सहाय
आर्त्तनाद किया—"कौन पहुँचादेगा उस पार ?"
समाजकी विडम्बनाओंसे बिना अपनी वर्ग-भावनाएँ
छोड़े, बचकर कहाँ जाय ? अकेला पड़कर एकही
है कि 'डूबना' निश्चित जानकर वह 'विसर्जन' को
ले ! अर्थात् अन्ध शक्तियोंके प्रकोपोंके समक्ष आ

तोभी वह इस विषम जीवनको स्वीकार
अपनी सन्तोष-भावनामें वृद्धि कर वह अपने अन्त
करपाता है। अतः यदि वह सचेत सामाजिक चे
चेतनासे अनभिज्ञ रहकर एक नया 'सोनेका संसा
तो वह स्वयं अपना आत्मिक (आध्यात्मिक) वि
जाता है। पूँजीवादके सामाजिक सम्बन्धोंकी क्रूर
कलाके प्रति उसकी उदासीनता, कविको उसके
घोषणा करने और अपने कवित्वका विकास करने
है। व्यक्तित्वके मार्गमें जो बाधाएँ उपस्थित होती
असन्तोष और प्रतिवादकी ध्वनि उद्घोषित करत
कि जीवनका बाह्यरूप उसके हृदयकी अन्तरतम
बद्ध कियेहुए है, अतः वास्तविक विषमताओंकी

वह अपनी आत्मशक्तिके बाह्य-प्रचलन द्वारा इस शृङ्खलाको तोड़कर उन्मुक्त होना चाहता है। पन्तकी निम्न पंक्तियाँ कि—

कभी तो अबतक पावन प्रेम
नहीं कहलाया पापाचार
हुई मुझको ही मदिरा आज
हाय, गङ्गाजल की धार!!

या 'वासना' में 'बच्चन' की यह आत्म-वेदना कि—

प्राण प्राणों से सकें मिल,
किस तरह दीवार है तन,
....
अल्पतम इच्छाएँ यहाँ
मेरी बनी बन्दी पड़ी हैं
विश्व क्रीड़ा-स्थल नहीं, रे
विश्व कारागार मेरा!

या 'पथभ्रष्ट' और 'कविकी निराशा' आदि कविताएँ व्यक्तिके इसी विद्रोह-की अभिव्यक्ति करती हैं। किन्तु उनके परोक्षमें व्यक्तिवादका एक और दूसरा रूप भी विद्यमान है—उसका समाज-विरोधी रूप। चूँकि 'विश्व' उनका कोई 'अरमान' पूरा नहीं करपाता इसलिए यदि 'बच्चन' जीके पाँव 'कुपथ' पर हैं, तो वे इसकी चिन्ता क्यों करें और किसीको उनसे शिकायत भी क्यों हो?

'अञ्चल' ने 'भींची गयी' 'मन्दिर और मस्जिद' की राहको छोड़कर व्यक्तिवादी कवि उस 'मधु गिञ्जन डगर' में पाँव रखना चाहता है जहाँ 'कुहुकुहु' 'सन्देशा' सुनाती है। लेकिन समाजकी सभी राहें रक्तसे सींची गयी हैं, हर तरफ़ 'मद लोकाचार प्रहरी' व्यक्तिकी 'हर चाल' का निरीक्षण करते हैं। अतः वह अपने व्यक्तित्व का विकास कहाँ करे, किस प्रदेशमें, किन परिस्थितियोंमें? समाजमें रहकर यह सम्भव नहीं और समाजसे बाहर व्यक्तिका जीवन नहीं। अतः भौतिक जीवनका परित्याग करो, स्वप्नोंके संसारमें रहो और मूर्तिमान् कल्पनाओंकी कोशिश करो, इसी अव्यक्त प्राप्तिमें जीवन की सम्पूर्णता है, सार्थकता है! ज्ञात और अज्ञात रूपसे इसी तर्ककी धारामें

थककर पलायनवादी कवि स्वप्नोंके सुनहरे संसारमें अनायास पहुँच जाता है। उसे आशा होती है कि यदि भौतिक जगत्में अरमान पूरे नहीं हुए, सारे प्रयत्नोंके फलस्वरूप चिर-अतृप्ति, असन्तुष्टि और आत्मवेदना ही मिली तो स्वप्न-जगतमें तो ये कामनाएँ-आकांक्षाएँ फलीभूत होंगी! क्या उससे आवश्यक आत्म-विकास न होगा! इसलिए यदि,

तुम्हें बाँध पाती सपने में!

तो चिर प्यास बुझा लेती उस छोटे क्षण अपने में!

जीवनमें अप्राप्य प्रियतमको 'सपने' में प्राप्त कर व्यक्तित्वका इतना सर्वाङ्गपूर्ण विकास होजाता कि वे 'पावस घन' की तरह 'उमड़' कर अपने 'लघु आँसू-कण' में 'जगका विषाद' धो लेतीं, अपने 'जर्जर जीवन' में 'संसृतिका क्रन्दन' भर लेतीं और अपने 'प्राणोंके स्पन्दन' में न जाने कितने 'स्वर्ग' रचतीं! किन्तु 'प्रियतम' को अब 'स्वप्नोंमें बाँधना' भी सम्भव नहीं!

इस अन्तर्विकासकी सुन्दर कल्पना, कामना या प्राप्तिसे जीवनकी वास्तविक समस्याएँ हल नहीं होजातीं, सामाजिक बन्धन उतनेही कठोर और निर्दय बनेरहते हैं, कल्पित सन्तोषकी आड़ खींचनेका प्रयास जीवनका विषाद कम नहीं करदेता। इसलिए 'आशा' का भी दामन छोड़ो, केवल 'अपने मिटनेका अधिकार' सुरक्षित रखो, क्योंकि जलनेमें ही 'जीवनकी निधि' निहित है! इस प्रकार विद्रोही कवि अपने विद्रोहका अस्त्र फेंककर आत्म-समर्पण करदेता है, उसके हृदयमें केवल आत्म-पराजय, आत्म-विसर्जनका भाव ही शेष रहगया है; प्रेममें न अब स्पर्श-लालसा है, न प्रेमकी शृङ्खलाबद्ध प्रतिमाको उन्मुक्त करनेका उत्साह है। अतः दुरवस्थाको सु-अवस्थाका भ्रम बनाकर गौरवान्वित करनेकी चेष्टा, 'पीड़ाके साम्राज्य' की प्राप्तिपर हर्षोन्माद!

✓ छायावादका कवि अपने भावोंपर चारों ओर बन्धन-ही-बन्धन देखता है। उसके मध्यम-वर्गी सुख-स्वप्न टूटचुके हैं। वह सामाजिक जीवनकी चेतनाको विकराल और भयानक पाता है। उसकी चेतना आज उसे ही काटरही है। पूँजीवादकी तरह उसकी चेतना भी आज मानवताका प्रतिनिधित्व नहीं करती। निदान इतना रुदन-क्रन्दन, इतनी निराशावादिता।

वह चतुर्दिक 'विषाद' देखता है, जो 'प्रकृति' के 'करुण काव्य' की तरह मनुष्यकी 'नश्वर काया' में 'अचल' पड़ा है। वह प्रश्न करता है :—

शिथिल पड़ी प्रत्यंचा किसकी
धनुष भग्न सब छिन्न जाल है ?

इसके उत्तरमें वह स्वयंही उत्तर देता है :—

किसी हृदयका यह विषाद है,
छेड़ो मत यह सुखका कण है;
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ,
करुणा का विश्रान्त चरण है।

कवि प्रसादकी इन पंक्तियोंसे स्पष्ट है कि उनकी दृष्टिमें मनुष्यका जीवन विषादमय है, क्योंकि वह परतन्त्र है। न जाने क्यों परतन्त्र है, लेकिन उसकी परतन्त्रता ही आज उसका सुखद गुण बनगयी है, उसे नष्ट करनेकी ज़रूरत नहीं।

इस प्रकार छायावादी कविता और जीवनका व्यवधान बढ़ता ही जाता है और छायावादी कवि एकान्तप्रिय होउठता है। चूँकि समाजमें रहकर उनके भाव स्वच्छन्द नहीं होपाते इसलिए वह शून्य, निर्जन, नीरव जगत्में जाकर शरण लेता है। उसकेलिए स्वतन्त्रताका एकमात्र आश्रय एकान्त या सूनापन बनजाता है। महादेवीजी कहती हैं :—

यहाँ मत आओ मत्त समीर
सो रहा है मेरा एकान्त !

वे नहीं चाहतीं कि 'यौवनपर भूल' कर 'लालसाकी मदिरामें चूर' उपवनके 'विलासी फूल' उस एकान्तमें स्फुटित हों! वे अपने एकान्तको 'लीलाभूमि' नहीं बनाना चाहतीं क्योंकि उनका एकान्त एक 'तपोवन' है। वे नहीं चाहतीं कि 'कलकल मोहक मादक गान' द्वारा 'निर्झर' उनके एकान्तकी 'समाधि' भङ्ग करे क्योंकि उनका एकान्त एक 'साधना' है। उन्हें अपने एकान्तमें 'वसन्त' भी नहीं चाहिए, क्योंकि उनका एकान्त 'विरागी' है। उन्हें 'सजीले सपनों' की मुस्कान भी प्रिय नहीं है क्योंकि उन्हें भय है कि कदाचित् इनसे उनके 'आशा-दीपक' फिर जल उठें, और उनका 'एकान्त' खोजाय।

किन्तु अपने 'एकान्त' के तमपूर्ण गह्वरमें प्रवेश करके भी क्या महादेवीजी वास्तविक जगतके भावोंसे पीछा छुड़ा पाती हैं? भावोंकी उत्पत्ति और उनका विकास मनुष्यके एकान्त जीवनमें नहीं होता, वे सामाजिक जीवन-द्वारा ही प्रसूत होते हैं। अतः एकान्तमें भी कवि के साथ उसके सामाजिक भाव जाते हैं। स्वानुभूतानुरागी कवि भी अपने भाव-जगत्‌की सृष्टि सामाजिक चित्रों-द्वारा ही करता है। 'तपोवन', 'समाधि', 'साधना', 'विरागी' आदि यद्यपि आधुनिक वास्तविकताके नहीं, पर प्राचीन मनुष्यके व्यावहारिक जीवनके भाव-चित्र हैं। अतएव जब आधुनिक कवि आधुनिक वास्तविकताका तिरस्कार कर प्राचीन वास्तविकता और प्राचीन जीवनके सौन्दर्य-मूल्योंकी सुखद कल्पना करता है तो केवल इसलिए कि आधुनिक जीवन की वास्तविकता अत्यन्त असन्तोषप्रद है। आधुनिक कठोर और निरंकुश जीवनको बदलनेमें असमर्थ छायावादी कवि अन्तर्वृत्तियोंके दासकी तरह जीवनकी वास्तविकतासे भागकर कल्पित 'एकान्त' या 'मृत-प्राचीन' में जाकर शरण लेता है।

छायावादी कवि इस सत्यको स्वीकार भी करता है। बच्चनजीने इस प्रश्नका प्रश्नके ही रूपमें उत्तर देकर अपनी स्थिति स्पष्ट की है।

क्या मैं जीवन से भागा था?
स्वर्ण शृङ्खला प्रेम पाश की
मेरी अभिलाषा न पा सकी
क्या उससे लिपटा रहता, जो कच्चे रेशमका तागा था?

चूँकि आधुनिक पूँजीवादी समाजको बदलकर, जिसने उनकी अभिलाषाओंको चूर-चूर करदिया है, एक नये साम्यवादी समाजकी स्थापना करनेका मार्ग बच्चनजीको सूझा ही नहीं, अतः वे जीवनसे भागें न तो क्या करें? इसलिए बच्चनजीका यह सोचना अस्वाभाविक नहीं कि उनके 'हृदयका स्वप्न चकनाचूर' करनेवाली 'क्रूर' 'दुनिया' आज उनसे 'दूर' होगयी है। उन्हें यह देखकर कष्ट होता है कि—

वह समझ मुझको न पाती
और मेरा दिल जलाती
है चिताकी राख कर में माँगती सिन्दूर दुनिया!

जिसने 'जीवन-समर' में खड़े होकर प्रारम्भमें अपने गीत लिखे थे, उस कविकी यह मनोव्यथा कारुणिक है। पूँजीवाद-साम्राज्यवादकी तो यह व्यावहारिक नीति है कि वह प्रत्येक मनुष्यके हाथमें 'चिताकी राख' देकर 'सिन्दूर' की माँग करता है, अतः किसी भी भावुक आत्माको इस वास्तविकताकी चेतनासे क्लेश तो होगा ही। लेकिन सामूहिक जीवनपर आधारित शोषित मानवता भी तो ऐसे कवियोंको नहीं समझ सकती जो 'जीवन - समर' से पराङ्मुख हो 'दुनिया' का ही परित्याग करचुका हो। शोषित मानवता जीवनसे भागकर अपनी रक्षा नहीं करती, वरन् शोषण के विरुद्ध सङ्गठन और संघर्ष कर। अतः वह इस कविको कैसे समझपाये? कवि उसकी भावनाओं और आकांक्षाओंका प्रतिनिधित्व कब करता है? फिर इसमें आश्चर्यकी क्या बात है कि जब छायावादी कवि अपने 'जीवन' को अङ्कित कर, उसे 'मानवता' का 'विस्तृत हृदय' और उसका 'स्वच्छ मुकुर' समझकर 'राजमार्गपर' 'फेंक' देता है, तो उसकी आशाओंके विपरीत 'मानव' उसमें अपनी 'मानवता' को 'बिम्बित' देखकर लज्जित होते हैं? 'मानव' अपने सामूहिक संघर्षमय अनुभवके विपरीत जीवनसे भागने वाली पराजित 'मानवता' को अपनी मानवताके रूपमें ग्रहण करनेमें लज्जा-संकोच क्यों न करें? अपनी कविताके प्रति पूँजीपति वर्गकी कला-विरोधी उदासीनता और शोषित वर्गकी सिद्धान्तगत उपेक्षाको देखकर स्वाभिमानी कविको आत्मवेदना तो ज़रूर होती है, लेकिन यहाँ इस प्रश्नका औचित्य है कि इसमें दोष किसका है?

इतना ही नहीं। वह जीवनसे भागकर जीवनकी विषमताओंसे सन्तुष्ट होने और तज्जनित करुणावस्थाको गौरवान्वित करनेकी कोशिश करता है! यह जानकर भी कि समाजका एक वर्ग 'रङ्गरेलियाँ' करता रहता है, उसका जीवन 'उल्लास', 'हर्ष' और प्रेमसे परिपूर्ण है, छायावादी कवि उस जीवनकी आकांक्षा नहीं करता, वह उसे असार और क्षणिक समझने लगा है। अतएव वचन जो उस पथसे हटजाना चाहते हैं, जिसपर ऐसे 'युवक और युवती' 'मदमाते' 'उत्सव मनाने' आते हैं, जिनके 'नयनमें स्वप्न, वचनमें हर्ष, हृदयमें अभिलाषाएँ' भरी हैं। वे नहीं चाहते कि उनकी इन 'मधुमय घड़ियों' में वे कोई 'अमङ्गल शब्द निकालें' या 'अमङ्गल अश्रु बहावें।' लेकिन सुखमय जीवनकी अस्थिरता और क्षण-

बाज़ारमें क्रय-विक्रयकी वस्तु बनादिया है। अतः कलाकी सृष्टि समाजके लिए नहीं, बल्कि बाज़ारकेलिए कीजाती है। इस अराजक बाज़ारमें प्रत्येक कलाकार अपने व्यक्तिगत लाभके ही लिए कलाकी वस्तुओंका उत्पादन करता है। विवश होकर कवि इस बाज़ारको ही अपना पाठक, अपना श्रोता, दर्शक या जनता मानलेता है। लेकिन उसकी यह मध्यमवर्गी 'जनता' भावशून्य, अस्थिर-चित्त और उत्साह-हीन होती है। पूँजीवादी शोषण और बाज़ारकी अराजकताकी शिकार होकर भी इस मध्यवर्गी जनताकी आशाओं, अभिलाषाओंका केन्द्र पूँजीपति वर्ग ही होता है, उसका प्रतिष्ठित सदस्य बननेकी आकांक्षासे वह आकुल रहती है। अतः उसकी मनोवृत्ति अत्यन्त संकुचित, भावनाएँ छिछली और कला-पारखी रुचि अत्यन्त विकृत होती है। छिछली, निकृष्ट कला ही इस जनताको अधिक सन्तोष प्रदान करती है, क्योंकि अपनी पराधीनताको स्वीकार कर वह अपने जीवनको उसीके अनुकूल ढालनेकी कोशिश करती है।

यह भ्रामक जनता, जिसे छायावादी कवि 'मानवता' मान बैठे हैं, वास्तवमें पल्लव, गुञ्जन, नीहार, सान्ध्यगीत, परिमल, गीतिका या अनामिकाकी उत्कृष्ट कलाका रस नहीं परख पाती, क्योंकि साम्राज्यवादने भावोंका इतना गहरा शोषण कररखा है कि मध्यमवर्गी जनताकी सौन्दर्य भावनाएँ इतनी परिष्कृत नहीं होपातीं कि कलाके परिमार्जित रूपकी माधुरीका रसास्वादन करसकें। इसलिए यदि छायावादी कविको इस बातका खेद है कि दुनिया उसे समझ नहीं पाती तो यह स्वाभाविक ही है। और इसके फलस्वरूप उसमें समाज-विरोधी दृष्टिकोणका जन्म लेना भी स्वाभाविक है।

आधुनिक कविके इस खेदने और तदनन्तर उसके समाज-विरोधी रुखने ही 'कला कलाकेलिए' वाले सिद्धान्तको जन्म दिया है। यदि यह (भ्रामक) जनता उच्च कोटिकी कलाका रसास्वादन करनेमें असमर्थ है तो रुचि देखकर कलाको निकृष्ट नहीं बनाया जासकता। यदि समाज उसे नहीं अपनापाता तो यह समाजकी कमज़ोरी है, उसकी सांस्कृतिक हीनताकी द्योतक है, लेकिन कलाकी चीज़ तो अपनेमें उत्कृष्ट एवं प्रशंसनीय होसकती है। हरेक व्यक्ति कविके समान भावुक, और सौन्दर्य-पारखी तो नहीं होता, इने-गिने ही कलाकी क़द्र जानते हैं, अतः कला उन्हींकेलिए है। एक प्रतिभावान् कविके मस्तिष्कमें इस प्रकारकी प्रतिक्रिया होती है और वह कलाको कलाके

लिए ही मानकर उसकी आराधना करने लगता है।

छायावादी कवि नहीं चाहता कि कोई 'अनधिकारी कल्पनाशून्य व्यक्ति' उसके कविता-काननमें प्रवेश कर उसके सौन्दर्यकी वेक़द्री करे। किन्तु उसकी संकीर्ण रुचिवाली जनता आज भी वही है। इससे दुखित हो वह अपने चारों ओर 'अहं' की दीवारें खड़ी कर कला कलाकेलिएके बन्द स्तूपमें अपने-आपको बन्द करलेता है। समाजसे 'दूर, सुदूर, निभृत, निर्जन' में लेजाकर वह अपनी 'कविता-कामिनी' से अभिसार करता है, उसके रूप को सँवारता है, उसे रिझाता है, अश्रु-हार पहनाता है, अपने हृदयके सङ्गीत से मुग्ध करता है, और इस प्रकार अपने हृदयकी अतृप्त तृष्णाको शान्त करनेकी चेष्टा करता है। वह नहीं चाहता कि निर्दय समाज उसकी इस 'एकान्त साधना' में दखल दे या उसकी तन्मय एकाग्र अनुराग-रतिको भङ्ग करे। इस एकान्त-साधनामें निरत छायावादी कवि 'कविता कामिनी' के रूपको विभिन्न प्रकारकी रङ्ग-बिरङ्गी साड़ियों, ऊँची एड़ीके जूतों, जैकेट, ब्लाउज़, पाउडर, क्रीम, सेण्ट, स्नो आदिसे सँवारनेकी कोशिश करता है। आज उसके अथक प्रयत्नोंसे इस कामिनीने 'नख-शिख' का शृङ्गार छोड़ दिया। अंगिया, लँहगा, दुपट्टा, चोली आदिका तिरस्कार कर वह अब आधुनिक वेष-भूषामें बाहर निकलने योग्य होगयी है। तात्पर्य यह कि छायावादी कविने समाजसे हटकर भी हिन्दीकी काव्य-शैलीमें एक क्रान्तिकारी परिवर्तन करदिया है।

छायावादी कवि प्रारम्भमें एक क्रान्तिकारीके रूपमें अवतरित हुआ। उसने कविताको सामन्ती बन्धनोंसे मुक्त करदिया; किन्तु पूँजीजीवी मनोवृत्ति होनेके कारण वह नवीन समाज (पूँजीवादी समाज) के संश्लिष्ट बन्धनोंकी कल्पना न करपाया। उनमें स्वयंको भी जकड़ा पाकर वह समस्त बन्धनों और समाज-सम्बन्धोंके प्रति विद्रोही बनगया। जिस अनियमित स्वतन्त्रताकी उसने कल्पना की थी वह उसे प्राप्त न होसकी। इस भ्रमका पर्दा हटते ही जीवन उसे औरभी विकराल और कठोर लगा। वह इस आघात को सहन न करपाया, क्योंकि पूँजीवादने उसे न केवल अपना व्यक्तिवादी मनोवृत्तिका ही उत्तराधिकारी बनाया, वरन् अपनी ही तरह सामूहिक जीवन और सामाजिक श्रमसे अलग कर भाग्यकी अन्ध-शक्तियोंका दास भी बना दिया। उसके जीवनका विषमता-जनित विद्रोह और असन्तोष पूँजीपति

करके आज जीवनकी परिवर्तनशीलताका तिरस्कारकर उसका उपहास करते हैं। उदाहरणके लिए :—

जग बदलेगा किन्तु न जीवन ... ...

प्रणय-स्वप्न की चंचलता पर
जो रोयेंगे सिर धुन धुन कर
नेताओंके तर्क वचन क्या उनको देदेंगे आश्वासन ?

भावी समाजकी कठिनाइयोंको विकृत रूपमें हमारे सामने पेशकर बच्चनजीने यह सिद्ध करनेकी कोशिश की है कि जो कठिनाइयाँ आज हैं, वे भविष्यमें भी दूर नहीं की जासकतीं, क्योंकि 'नियतिके न्यायकी' तरह वे 'मानव भाग्य-पटल' पर अङ्कित हैं, इसलिए नवीन समाजके निर्माणकी ज़रूरत क्या ? जीवन कभी बदलता नहीं, फिर उसे बदलनेकी व्यर्थ चेष्टा क्यों? इस अवैज्ञानिक तर्कमें गम्भीरताकी झलक अवश्य है। लेकिन आधुनिक विज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र इस तर्कका खण्डन करते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक वस्तु विकासोन्मुख है, परिवर्तनशील है, और जीवन इसकी परिधिसे बाहर नहीं रहता। कदाचित् 'युग-युगकी वाणी' लिखनेके भ्रमसे भ्रमित बच्चन-जीका इशारा इस ओर है कि जीवनके भाव और सौन्दर्य-मूल्य सनातन हैं और सदैव इसी रूपमें रहेंगे। लेकिन समाजशास्त्र या सौन्दर्यशास्त्र इस धारणा को भी स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार मनुष्यके भाव-मूल्योंकी सृष्टि सामाजिक जीवनमें ही होती है और समाज-विशेषके व्यक्तियोंके पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा उनकी अभिव्यक्ति होती है। प्रेम, क्रोध-ईर्ष्या, अभिमान आदि-भावोंकी अभिव्यक्ति समाज-व्यवस्थाके अनुरूप ही होती आयी है। तुलसी, विहारी और पंतके भाव-मूल्योंमें क्या कोई अन्तर नहीं है ? इसी सिद्धान्तके आधारपर पूँजीवादी कलाके आलोचकोंने क्या सामन्ती कलाके भाव-मूल्यों और उनकी सौन्दर्य भावनाओंको हेयता सिद्ध नहीं की ? फिर आज 'आलोचकोंके आलोचक' देखकर 'शाश्वत' और 'सनातन' के पर्देकी आड़में क्यों शरण लीजारही है ? किन्तु बच्चनजीका इशारा भाव-मूल्यों के बारे प्रश्नकी ओर नहीं लगता, क्योंकि न वे एक 'निष्पक्ष' कलाकार हैं और न 'युग-युगकी वाणी' ही लिखते हैं। उनकी वाणी इसी युगके असन्तुष्ट मनुष्यके समाज-विरोधी सन्देहों और अन्धविश्वासोंकी प्रतिध्वनि है। इसीलिए उन्होंने एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न उठाया है। उन्हें सन्देह है कि

शायद समाज बदलजानेपर भी मनुष्यकी मनोदशा इतनीही विकृत या विक्षिप्त रहेगी जितनी वह आज है। लेकिन वैज्ञानिक समाज-ज्ञान उनके इस सन्देहको निर्मूल करदेगा। आज जो अधिकांश व्यक्तियोंकी मनोदशा इतनी विकृत है, वह समाजसे अलग कर व्यक्ति विशेषके मनोऽवरोधके कारण ही नहीं है, बल्कि समाज-सम्बन्धोंकी आधुनिक वास्तविकता ही व्यक्तिके इस मनोऽवरोधका मुख्य कारण है। अतः जब समाजवादमें समाज-सम्बन्ध इस रूपमें बदल जायँगे कि प्रत्येक व्यक्तिको अपने शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक एवं भावात्मक विकासका पूरा अवसर और सुविधा मिलेगी, तो मनोदशाकी विकृतिका स्रोत भी बन्द होजायगा। इसका यह अर्थ नहीं कि समाजवादमें मनोवैज्ञानिक प्रश्न उठेंगे ही नहीं, बल्कि यह है कि उनका स्वरूप बदल जायगा और वे एक उच्चतर धरातलपर उठेंगे।

संक्षेपमें पूँजीवादी समाजकी वास्तविकताने इन छायावादी कवियों के एक वर्गको इतना अहंवादी, आत्मापेक्षी, समाज-विरोधी और व्यक्तिवादी बनादिया है कि वे अपने 'असन्तोष' का अस्त्र भी फेंकचुके हैं। उन्होंने समाज और जीवनसे भाग निकलनेकी लाख कोशिशें कीं लेकिन आधुनिक समाजकी असङ्गतिपूर्ण वास्तविकताने उन्हें बरबस अपनी ओर खींच रखा है, और वे पूँजीपतिवर्ग तथा आधुनिक कालके समाज-सम्बन्धोंके सामूहिक भावोंकी ही अभिव्यक्ति करते हैं। उनका 'मैं', उनकी अन्तर्वृत्तियाँ, 'सामूहिक व्यक्तिका' 'मैं' या समाज द्वारा प्रदत्त कीगयी वृत्तियाँ नहीं रहीं। न वे अपने 'मैं' को समस्त मानव जातिका 'मैं' बनाना चाहते हैं, और न अपनी अन्तर्वृत्तियोंको सामूहिक जीवन और सामाजिक चेष्टाके अनुभवद्वारा सचेत ही बनाना चाहते हैं। इसके विपरीत अधिकार-वञ्चित-वर्गके सन्देहोंको ही शाश्वत और चिरन्तन भाव मानकर वे उन्हींकी अभिव्यक्ति करना अपना परम कर्तव्य समझते हैं। खेद केवल इस बातका है कि जीवन और स्वतन्त्रताकी आवश्यकताकी चेतनाके अभावने उनकी 'चिर-अधीरता' और 'चिर-असन्तुष्टि' का दुरुपयोग कर, उनमें अपने जीवनकी निरर्थकतामें सार्थकताका आभास प्रदान करनेवाली निरर्थक कलाके प्रति आसक्ति उत्पन्न करदी है। और परिवर्तनशीलताके ये समर्थक कवि अब जीवनकी परिवर्तनशीलताकी चेतनाका तिरस्कार कररहे हैं। इसीलिए उनकी दशा प्रतिदिन दयनीय होती जारही है, और उनके प्रथम उत्थानकी शुभ्र प्रति-

मापर कालिमा छानेलगी है।

छायावादकी यह असन्तोषवाली भावना [illegible] बनी रही है। श्रीमती महादेवी वर्मा, [illegible] आदि अधिकारवञ्चित वर्गके सन्देहोंको अभिव्यक्त करनेवाली भावाके प्रचारक हैं। इसके विपरीत, आधुनिक [illegible] छायावादी कवितामें एक और भाव प्र[illegible] आकांक्षाओंकी अभिव्यक्ति करनेवाला भाव कहा जाता है। इस लेखमें मेरा उद्देश्य इस दूसरी भावके कवियों या उनकी कविताओंकी विवेचना करना नहीं है, क्योंकि यद्यपि यह नवीन भाव छायावादसे निकला है और इसकी शैली भी अभीतक छायावादकी शैली है, तोभी इसकी भाव-व्यञ्जना, इसकी विषयवस्तु, उसके सौन्दर्य-मूल्य छायावादी कविताओंसे भिन्न हैं। इसलिए हम इस नवीन धाराको छायावादके अन्तर्गत नहीं रख सकते।

श्री सुमित्रानन्दन पन्तने युगवाणीमें कवियोंसे एक प्रश्न किया है—

कवि नवयुग की चुन भावराशि
नव छन्द आभरण रस विधान
तुम बन न सकोगे जन मन के
जाग्रत भावों के गीत गान ?

अधिकार-वञ्चित-वर्गके सन्देहोंकी अभिव्यक्ति करनेवाले छायावादी कवि इस प्रश्नका अनुकूल उत्तर देकर ही छायावादकी 'असन्तोष'-प्रधान परिपाटीको जीवित एवं विकसित करसकते हैं।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त

आधुनिक समाजकी संस्कृति-विरोधी प्रवृत्तिने विश्वके अधिकांश लेखकों, कलाकारों और वैज्ञानिकोंकी भावनाओंका निरंकुश दमन कर उन्हे सचेत और जाग्रत बनादिया है और वे क्रान्ति और प्रगतिकी शक्तिके निकट खिचआये हैं—जैसे रोम्याँ रोलाँ, टॉमस मान, आन्द्रे मॉलरो, लू सुन आदि। इस जागृतिका प्रभाव भारतवर्षपर भी पड़ा है। स्वर्गीय सर इकबाल और रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी कृतियोंमें भी हमें उसके चिन्ह दृष्टिगत होते हैं। लेकिन श्री प्रेमचन्दने प्रगतिशील लेखक संघमें प्रविष्ट होकर प्रगतिवादी आन्दोलनको गौरव और औचित्य प्रदान करदिया। इसके पश्चात् हिन्दी, मराठी, बंगालीके प्रमुख लेखक प्रगतिवादी आन्दोलनकी ओर आकृष्ट हुए, और आज अधिकांश लेखकोंकी कृतियोंपर इसकी छाप नजर आती है।

श्री प्रेमचन्दके बाद श्री सुमित्रानन्दन पन्तका प्रगतिवादी आन्दोलन में सक्रिय रूपसे प्रविष्ट होना एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। अबतक पाठक पन्तजीको छायावादके सर्वश्रेष्ठ कविके रूपमें ही जानते थे, लेकिन 'युगान्त' के पश्चात् उनका विकास प्रगतिवादके दृष्टिकोणकी तरफ रहा है और 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' मे आकर यह दृष्टिकोण यथेष्ट रूपसे परिपक्व होगया है। इस लेखमें मेरा उद्देश्य 'पन्त' के इस अन्तिम विकासका ही विवेचन करना है।

'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में श्री सुमित्रानन्दन पन्तकी कविताका विकास एकदम नये ढङ्गका हुआ है। आधुनिक हिन्दी काव्य साहित्यमें यह विकास बेजोड़ है।

छायावादी कविताने रीतिकालीन नख-शिख-शृङ्गारकी संकीर्ण, रूढ़िग्रस्त, स्थविर काव्य-परिपाटीके बन्धनोंसे उन्मुक्त हो व्यापक दृष्टिकोण और प्रगतिशील भावनाओंकी अभिव्यञ्जना की। सामन्ती युगकी समाज-

गरज कर भरो रुद्र हुंकार
यहीं पर करो नाश का भाव

नष्ट भ्रष्ट प्रासाद पड़े हों जल प्लावित संसार
शून्य कर रहा हो पागल-सी लहरों का चीत्कार
नीचे जल हो ऊपर जल हो बीच शून्य दुर्वार
बरसो-बरसो और सघन घन महाप्रलय की धार

इस सांकेतिक पदावली-द्वारा उन्होंने आकांक्षा प्रकट की है कि 'प्रतिहिंसाके प्रतिघात' बनकर 'उल्कापात' की तरह वे 'मगन मन' 'उत्पीड़न' पर बरस पड़ें ताकि उसमें 'जगका कलुषित हाहाकार' डूबकर विलुप्त होजाय। लेकिन इसका परिणाम क्या होगा? संसार जलप्लावित होजाय, और सारी सृष्टि प्रलयमग्न हो विराट् शून्यकी गोदमें सोजाय!

इसी तरह दिनकरकी क्रान्ति-कल्पना रचनात्मक नहीं, ध्वंसात्मक है। श्री रामवृक्ष बेनीपुरीके शब्दोंमें, 'हमारे क्रान्ति-युगका सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व कवितामें इस समय दिनकर कररहा है।' इस वाक्यका प्रयोग इस बातका स्पष्ट द्योतक है कि बेनीपुरी स्वयं आवेशपूर्ण भावनात्मक सहानुभूति की प्रेरणासे क्रान्तिका पक्ष-समर्थन कररहे हैं, आवश्यकताकी चेतना उनमें भी जाग्रत नहीं हुई है। इसीलिए अनिश्चित, अस्पष्ट भावनाओंकी प्रधानता रखनेवाली ध्वंसात्मक कविताके प्रति उनका इतना अनुराग है! किन्तु चेतना-प्राप्त कोईभी प्रगतिवादी आलोचक दिनकरकी कविताकी सीमाओं को स्पष्ट देखलेगा। दिनकरमें साम्यवादी चेतनाका अभाव है और वे राष्ट्रीयता या जातीयताकी भावनाओंसे ओत-प्रोत हैं। किन्तु राष्ट्रीयता या जातीयताकी कोई भिन्न विचारधारा नहीं होती, कोई भिन्न जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण नहीं होता, कोई भिन्न समाज-दर्शन नहीं होता। उसमें केवल बलिदान होनेकी उत्कट अभिलाषा, स्वतन्त्र होनेकी हार्दिक कामना रहती है। दिनकरके अन्दर भी इसी भावनाका प्राधान्य है। उनके मानसके अन्धकारमें अनजान अन्ध-शक्तियाँ ही प्रेरक बनकर उनके हृदय को चिर-व्याकुल किये रहती हैं।

जिस समय दिनकर 'सुधा-वृष्टि' के बीच अपने 'क्लान्त मन-प्राण' जुड़ारहे थे कि सहसा किसी अपरिचित मोहनी शक्तिका आह्वान सुनायी

पड़ने लगा। उन्होंने सोचा, क्या कल्पनाकी इस रमणीय वाटिकाको छोड़ कर जाना होगा? उन्होंने कुछ अस्त-व्यस्त होकर पूछा—

तुम्हारी भरी सृष्टि के बीच
एक क्या तरल अग्नि ही पेय
सुधा-मधुका अक्षय भण्डार
एक मेरे ही हेतु अदेय?

वासन्ती मलयानिलका मर्मर, कोकिलाके गान, लताओंका नया शृङ्गार, विस्तृत आकाशका सौन्दर्य, प्रकृतिकी अभिनव सुषमा कविका हृदय आकर्षित करती है, उसके रोम-रोममें पुलक पैदाकर उसे क्रीड़ा-कौतुकके लिए आमन्त्रित करती है, लेकिन यह 'असमय आह्वान'? नहीं, कवि स्वप्नों के आलोक-जगतमें विचरण नहीं करेगा। वह गरजकर कहता है—

फेंकता हूँ मैं तोड़-मरोड़
अरी निष्ठुर! वीन के तार
उठा चाँदीका उज्ज्वल शङ्ख
फूँकता हूँ भैरव हुंकार
नहीं जीते जी सकता देख
विश्व में झुका तुम्हारा भाल
वेदना मधु का भी कर पान
आज उगलूँगा गरल कराल

यह प्रतिवादकी भावना मध्यवर्गी-भावना है। दिनकरकी 'हाहाकार' कवितामें इस सत्यकी पुष्टि औरभी स्पष्ट होजाती है। दिनकरके प्रति 'नियति' इतनी विषम है कि उनकी कविता उन्हें मनुष्यके विषादकी करुण कथा लिखनेकेलिए प्रेरित करती है और उन्हें सृष्टि-तापमें अपने कोमल हृदयको दग्ध करना पड़ता है। दिनकरका यह दुर्भाग्य है कि वे जीवन के सुखद-उपादानोंसे वञ्चित हैं और उनकी कल्पना रमणीय सौन्दर्यकी सृष्टि नहीं करती। इसलिए वे कविताके प्रति अपने उद्गार प्रकट करते हुए लिखते हैं:

वही धन्य जिनको लेकर तुम
बसी कल्पना के शतदल पर

जिनका स्वप्न तोड़ पाती है
मिट्टी नहीं चरण तल बजकर

और दिनकर उसके सामने आकांक्षाओंसे भरा अपना हृदय खोल कर रखदेते हैं :

मेरी भी यह चाह विलासिनि
सुन्दरता को शीश झुकाऊँ
जिधर-जिधर मधुमयी बसी हो
उधर वसन्तानिल बन धाऊँ

और

जनारण्य से दूर स्वप्न में
मै भी निज संसार बसाऊँ
जग का आर्त्तनाद सुन अपना
हृदय फाड़ने से बच जाऊँ

किन्तु निरुपाय दिनकर क्या करें ? जीवनके अनुभवने जोकुछ भी चेतना उन्हें प्रदान की है, वह आकाशमें उनकी कुटी नहीं बनने देती और अगर वह बन भी जाती है तो तुरन्त वास्तविकता अपना अग्निबाण छोड़कर उसे भस्म करदेती है। पंखहीन खगकी तरह दिनकर फिर पृथ्वी की हलचलमें गिर पड़ते हैं और पृथ्वीकी वास्तविकता कैसी है ? यहाँ 'निज सिंह-पौर' पर आधुनिक 'संस्कृति' 'दलित-दीन' की 'अस्थि-मशालें' जलाती हैं, कृषक अविश्राम परिश्रम करते हैं, माताओंके स्तनमें दूध नहीं है, बालक बिलख-बिलखकर मरजाते हैं, इन बालकोंकी क़ब्रोंसे रोती, भूखी हड्डीकी 'दूध-दूध' की सदा सुनायी पड़ती है !

दिनकर इस हाहाकार-चीत्कारको अपनी नज़रोंसे ओझल नहीं कर पाते और वे तिलमिलाकर उठखड़े होते हैं और निश्चय करते हैं—

'दूध-दूध !' फिर सदा क़ब्र की
आज दूध लाना ही होगा
जहाँ दूध के घड़े मिलें
उस मन्जिल पर जाना ही होगा

और वे क़ब्रमें सोये बालकोंको आश्वासन देतेहुए कहते हैं—

है कि वे अपने कठोर करमें राष्ट्रकी बागडोर लेकर दम्भोंका नाश करदें, पाखण्ड तोड़दें और देश-देशके घर-घरमें करुणा, शान्ति और स्नेहकी वर्षा करदें।

उनकी 'किसान' कवितामें किसानकी मेहनत, हिकमत, कूवत और दौलतसे निर्मित सभ्यता-संस्कृति और विश्व वैभवका विशद चित्रण किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दीके कई बड़े-बड़े लेखक-कवि क्रान्ति की आकांक्षाओंकी अभिव्यञ्जना करनेलगे हैं। § इस नयी काव्य-धारा की क्या-क्या विशेषताएँ और सीमाएँ हैं? इसकी विशेषताएँ हैं—

(१) इन कविताओंमें छायावादकी अन्तर्मुखी, व्यक्तिवादी, केवल सौन्दर्योपासक, समाज-विरोधी कवितासे पृथक होकर प्रतीकवादी-यथार्थ-वाद (Symbolic Realism) की शैलीके प्रारम्भकी झलक है।

(२) इन कविताओंमें क्रान्तिको गौरवान्वित कियागया है।

(३) इन कविताओंमें जिस अनीति, हाहाकार, वैषम्य, उत्पीड़न या आर्त्तनादके विरुद्ध क्रान्ति या परिवर्तनका ओजपूर्ण आवाहन किया गया है, वह इसी समाजकी देन है; अर्थात् पूँजीवादी समाज और भारतकी परतन्त्रताके फलस्वरूप उत्पन्न हुई हैं। इसलिए ये कविताएँ वर्तमान समाज-व्यवस्थाके विरुद्ध जन-मतका सङ्गठन करनेमें सहायक सिद्ध होरही हैं।

(४) इन कविताओंमें गहरा विद्रोह है और ये एक मूलगत सांस्कृतिक परिवर्तनकी द्योतक हैं। उनके नाशवादकी तहमें गहरे मानववाद का स्रोत है।

इस नयी काव्यधाराकी सीमाएँ भी हैं :—

§ लेखकका आशय हिन्दीकी प्रगतिशील कविताका क्रम-बद्ध विवेचन नहीं था, इस कारण 'प्रवृत्तियों' का निरूपण करनेकेलिए कतिपय उदाहरण दियेगये हैं। अतः सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, बालकृष्ण शर्मा नवीन, नरेन्द्र शर्मा, अज्ञेय आदि उच्चकोटिके कवियोंकी कविताओंसे यदि उदाहरण नहीं दियेगये हैं तो इसका यह अर्थ नहीं कि लेखक उनके महत्त्वको गौण समझता है।

(१) इन कविताओंका जन्म बुद्धि-तत्व और भाव-तत्वके सामञ्जस्य से नहीं हुआ है, बल्कि भावात्मक आवेशके गर्भसे ये उत्पन्न हुई हैं।

(२) ये कवि नयी प्रगतिशील कलाके रूप-विधान या शैली और उसके विषय, बुद्धि-तत्व या वस्तुके प्रति पूर्णतः सचेत नहीं हैं।

(३) इन कविताओंमें व्यक्त भावनाएँ जीवन या क्रान्तिकी आवश्यकताओंके प्रति सचेत नहीं हैं, इसीलिए वे ध्वंसात्मक या नाशवादी हैं, नवांकुरित-जीवन और गर्भजात-भविष्यकी रूप-रेखाके विशिष्ट सौन्दर्यकी कल्पनाका उनमें अभाव है।

(४) इन कविताओंमें आधुनिक जीवनकी जिन प्रतारणाओंके विनाशकी कामना और जिस सुख, शान्ति, करुणा और स्नेहसे परिपूरित स्वतन्त्र जीवनकी आकांक्षा कीगयी है, उनकी आकांक्षा मध्यमवर्गकी आकांक्षा है, और उनकी स्वतन्त्रताकी कल्पना वर्तमान समाज-व्यवस्थाकी ही आदर्शवादी कल्पना है। स्पष्ट विचारधाराके अभावके कारण सुख, शान्ति, न्याय, प्रेम और स्वतन्त्रताकी उनकी कल्पना अधूरी, अस्पष्ट, अमूर्त्त एवं आदर्शवादी है, इसलिए नये जीवनकी कल्पना करनेमें असमर्थ है। उसका आधार अवचेतन भावनाएँ हैं।

(५) इन कविताओंमें जिस क्रान्तिका वर्णन कियागया है वह वास्तवमें क्रान्ति नहीं अराजकता है। क्रान्तिमें सङ्गठित एवं स्व-उत्पन्न असङ्गठित शक्तियोंका सामञ्जस्य रहता है, अराजकतामें आतंकवाद और व्यक्तिवादकी प्रमुखता होती है। क्रान्तिके विध्वंसमें नव-जीवनकी रूपरेखा समायी रहती है, अराजकतामें केवल संहार-प्रवृत्ति ही प्रधान होती है। क्रान्ति, क्रान्ति या परिवर्तन-वाहक है, अराजकता समाजके नष्ट-सन्तुलन को औरभी नष्ट कर पुराना समाज-सन्तुलन ही स्थापित करती है। अतः वह पूँजीवादका नाशकर पूँजीवादकी ही पुनर्स्थापना कराती है। इसीलिए इन कविताओंमें क्रान्तिकी स्पष्ट कल्पनाका अभाव है, केवल नयी-नयी अतिशयोक्तियोंकी सृष्टि कर क्रान्तिका चित्रण कियागया है। उनमें क्रान्तिका विध्वंसात्मक रूप मूर्तिमान है, रचनात्मक रूप अगोचर है। अतः वे यद्यपि विस्फोटक 'विद्रोह' की द्योतक हैं पर क्रान्तिकारी नहीं हैं। उनका नाशवाद मूलतः मानववादी होतेहुए भी संस्कृति-विरोधी है।

(६) इन कविताओंमें यथार्थवादका भी अभाव-सा ही है, क्योंकि

उनमें विराट् प्रतीकोंका प्रयोग अधिक कियागया है, जीवनकी अनुभव-गत वास्तविकताका यथार्थवादी चित्रण कम। श्री भगवतीचरण वर्माकी 'भैंसागाड़ी' कविता एक अपवाद है। 'भैंसागाड़ी' एक यथार्थवादी कविता है और उसमें भाव और वस्तुका सुन्दर समन्वय हुआ है। अन्यथा, अधिकांश कविताएँ उद्‌बोधनात्मक हैं।

(७) विचारधाराके अभावके कारण चूँकि इन कवियोंमें क्रान्ति की आवश्यकताओंकी चेतनाका अभाव है, इसलिए वे वास्तवमें अन्त तक क्रान्तिका स्वागत करते जायँगे, इसमें सन्देह है। जबतक क्रान्ति आ नहीं जाती उस समय तक उसके आगमनकी पग-ध्वनि सुनकर उल्लसित होना आसान है। लेकिन यदि क्रान्ति-उपासक चेतनाहीन है, न्याय, शान्ति, स्वतन्त्रता और समानताके विचार जीवनमें कार्य-परिणत होकर कैसा व्यावहारिक रूप धारण करेंगे, यदि उसके अन्दर इसकी कल्पना अस्पष्ट है, नव-जीवनके नव-संगठनकी नव रूप-रेखाकी कल्पनाका यदि उसमें अभाव है, स्वयं क्रान्ति प्रतिदिनकी बदलती परिस्थितियोंमें कौन-कौनसे रूप धारण करसकती है, यदि इसके विषयमें उसका साधारण अनुमान संकीर्ण है, तो किसीभी समय, क्रान्तिके आगमनपर, वह क्रान्ति-विरोधी बना सकता है। और इन कवियोंकी यही सबसे बड़ी कमज़ोरी है। इस राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्तिके ज़मानेमें वे शीघ्रही प्रतिक्रियाकी शक्तियोंके बहकावे में आसकते हैं। इस खतरेके सङ्केत-चिह्न प्रकट होने लगे हैं। श्री भगवती-चरण वर्माने 'नया वर्ष' कविता 'विशाल-भारत' में लिखी है। इस कविता में उन्होंने वर्तमान योरपीय युद्धका वर्णन करतेहुए प्रश्न किया है कि क्या दुःख-पीड़ित मानवताको कभी शान्ति और हर्ष प्राप्त होगा, और हिंसाके ताण्डव नर्तनका कभी अन्त होगा, क्या गांधीका अहिंसाका सन्देश संसार को त्राण दिला सकेगा,

या फिर वे हिटलर, स्टैलिन ही
अपनी हिंसा की बर्बरता
को ही रक्खेंगे यहाँ अमर?

वर्तमान विचारधाराने भगवती बाबूको साम्राज्यवादी प्रचारका निरपराध शिकार बनादिया है। उन्होंने फ़ासिस्ट हिटलर और कम्युनिस्ट स्टैलिनको एक ही कोटिमें रखदिया है। एक साम्राज्यवादी स्वार्थोंके वशीभूत

होकर लड़रहा है, दूसरा क्रान्तिके प्रतीक साम्यवादी राष्ट्रकी रक्षाके निमित्त। लेकिन उनकी प्रेरणाके स्रोत ब्रिटिश-साम्राज्यवादी प्रचार-केन्द्रने तो इस भेदपर असत्यकी यवनिका डाल रक्खी है, फिर विचारधाराकी रोशनी कहाँ कि भगवती बाबू इस यवनिकाके पीछे छिपे सत्यको देखलें। वे क्रान्तिके सूक्ष्म द्वन्द्वात्मक रूपको नहीं समझ सकते जिसके कारण किन्हीं परिस्थितियों में—विशेषकर आज फ़ासिज़्मके उदयके कारण—श्रमजीवी क्रान्ति 'प्रजातन्त्रवादकी रक्षा' का स्वरूप धारण करसकती है और ऊपरी तलपर देखने से साम्राज्य-विरोधी लगनेवाला विस्फोट वास्तवमें क्रान्ति और स्वतन्त्रता की शक्तियोंको अशक्त बनाने और फ़ासिज़्मको सशक्त बनानेवाला होसकता है। यह भेदाभेद उनकेलिए अगम है, वे आधुनिक जीवनकी वास्तविकता को केवल विभिन्न चौरस-स्तरों या समतलोंके रूपमें ही देखसकते हैं, जब कि वह वास्तवमें त्रिगुणात्मक(three dimensional)है और भूत-वर्तमान-भविष्यका द्वन्द्वात्मक प्रवाह है। विचारोंकी यही अपरिपक्वता इस काव्य-मनोवृत्तिके लेखकोंको क्रान्ति-विरोधी बनासकती है। और विचारोंकी इसी अपरिपक्वताने इन कवियोंकी कविताके चारों ओर संकीर्ण परिधि खींचदी है। जहाँतक क्रान्तिके प्रति अस्पष्ट, अतिशयोक्ति-पूर्ण भावात्मक अनुराग-प्रदर्शन करनेका प्रश्न है, वे स्वच्छन्द रूपसे ऐसा करसकते हैं, लेकिन वे तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवनके संघर्षोंकी अभिव्यंजना नहीं करसकते, क्योंकि इन संघर्षोंकी पूर्ण चेतना उन्हें प्राप्त नहीं है।

क्रान्तिकी आकांक्षाओंकी अभिव्यञ्जना करनेवाली दूसरी काव्य-धारा का प्रतिनिधित्व श्री सुमित्रानन्दन पन्त कररहे हैं।

पन्तकी 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की कविता साहित्यमें 'भविष्यवाद' की कविता है। रूसी समाजवादी क्रान्तिके समय वहाँ 'भविष्यवाद' की कविता सर्वप्रधान थी। क्लेब्नीकॅव और मयकॅवस्की प्रभृति कवियोंने 'भविष्यवाद' की कविताका विकास किया था। इस कविताने प्रतीकवादी प्रवृत्तिकी कविताओंकी सौन्दर्य-प्रियता और रहस्यवादी शैलीका विरोध कर क्रान्तिकी रूप-रेखाका चित्राङ्कन किया। रूसी क्रान्तिके समय 'भविष्यवाद' की कविताने खुलकर क्रान्तिका पक्ष-समर्थन किया। पन्तकी 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की कविताओंमें रूसी भविष्यवादकी कविताओंकी-सी मांसल-रक्तिम कला नहीं है; लेकिन उनमें नूतनकी बौद्धिक कल्पना अवश्य है।

युगवाणी 'युगवाणी' की कला बुद्धिजीवी है। उसमें भावना-तत्त्व का अभाव-सा है। क्यों? क्योंकि छायावादकी जीवनसे भाग निकलनेवाली कविता स्पष्ट दृष्टिकोणसे रहित, मुख्यतः भावना-प्रधान थी, उसके कवियों की अन्तर्वृत्तियाँ अवचेतन एवं असंगठित, वैयक्तिक एवं असामाजिक थीं और इस अबुद्धिवादी कविताके प्रति प्रतिक्रिया बुद्धि-प्रधान ही होसकती थी। इसलिए 'युगवाणी' में हमें नये विचारों, नये भावों, नये सौन्दर्य-मूल्यों, नये जीवन-सम्बन्धोंके बारेमें वक्तव्य मिलते हैं।

पन्तजीके सम्बन्धमें यह बात उल्लेखनीय है कि वे प्रारम्भसे ही प्रगति के समर्थक रहे हैं, जीवन-संघर्षसे भागनेकी प्रवृत्ति उनपर अधिकार न कर-सकी। 'पल्लव' में भी उन्होंने परिवर्तनका स्वागत किया है और 'गुञ्जन' में उनके 'विदग्ध हृदयकी भावुकता और कोमल कल्पनाका लय आत्म-चिन्तन और लोक कल्याणकी भावना' में होगया था। यद्यपि 'गुञ्जन' में वे नवजीवन की विकसित कल्पना नहीं प्राप्त करसके और न उस समयतक जीवन-वैषम्य के मूलकारणोंकी चेतना प्राप्त करपाये थे, जिसके कारण उन्होंने 'सुख' और 'दुख' की नित्यता स्वीकार कर उनमें सामञ्जस्य स्थापितकर, मानव-जीवन की अपूर्णता और उसके उत्पीड़नको दूर करनेकी कोशिश की थी, लेकिन उस समय भी उन्हें विश्व प्रिय था, तृण-तरु, पशु-पक्षी, नर-सुरवर सभीके प्रति उनका अनुराग था। 'गुञ्जन' में पन्तजीने कहा भी है—

मैं प्रेमी उच्चादर्शों का
संस्कृति के स्वर्गिक स्पर्शों का
जीवन के हर्ष-विमर्शों का

लगता अपूर्ण मानव जीवन
मैं इच्छा से उन्मन उन्मन

और चूँकि मानव-जीवनकी अपूर्णताकी चेतना उन्हें 'इच्छा' से 'उन्मन उन्मन' बनाये रहती थी इसीलिए उच्चादर्शोंके प्रेमी पन्त अपने मार्गको प्रशस्त करते आगे बढ़तेआये और आज वे प्रगतिशील शक्तियों के साथ हैं। उस समय भी उनकी कामना थी कि—

नव छवि, नव रँग, नव मधु से
मुकुलित, पुलकित हो जीवन

युगवाणीमें उनकी चेतना परिपक्व होगयी है। आत्मचिन्तन और कठोर अन्तर्द्वन्द्वके पश्चात् पन्तजीको मानव-विकासका एक मात्र मार्ग मिलगया है, वह मार्ग है साम्यवादका। इस चेतनाके प्राप्त करतेही उन्हे स्वयं अपनी कविताके बन्धन टूटते नज़र आये हैं :

खुल गए छन्द के बन्ध
प्रास के रजत् पाश,
अब गीत मुक्त
औ' युगवाणी बहती अयास।
बन गए कलात्मक
जगत के रूप नाम
जीवन संघर्षण देता सुख
लगता ललाम।

इसलिए अब वे सुख और दुःखकी नित्यतामें विश्वास नहीं करते और न उनमें सामञ्जस्य उत्पन्न करनेकी चेष्टामें ही संलग्न हैं। अब उन्हें इस बातकी चेतना प्राप्त होगयी है कि,

जगजीवन के तम में
दैन्य, अभाव शयन में
परवश मानव !

इस 'परवश मानव' का उद्धार तभी होगा जब नयी मानवताकी रचना कीजायगी। इस नयी मानवताका एक नयी संस्कृतिके अन्दर ही निर्माण किया जासकता है। इस नयी संस्कृतिकी क्या रूप-रेखा होगी ? पन्तके अनुसार इस नयी संस्कृतिमें मृत-आदर्शोंका बन्धन न होगा, रूढ़ि और रीतियोंकी आराधना न होगी, उसमें मनुष्य श्रेणी-वर्गमें विभाजित न होंगे, और न उसमें धन-बलसे जन-श्रम-शोषण होगा। उसमें जीवन सक्रिय होगा, और जीवनको उन्नत बनानेवाले सभी प्रयोजन-साधन उपस्थित होंगे। ऐसी नव संस्कृतिमें वाणी, भाव, कर्म, मन तो संस्कृत होंगे ही, जनवास, वसन और मनुष्यके शरीर भी सुन्दर होंगे। पन्तकी नव-संस्कृतिकी कल्पना अतिशयोक्तियों या वर्तमानके तिरस्कारपर ही अवलम्बित नहीं है, वरन् उसमें नव-संस्कृतिकी रचनात्मक विशेषताओंकी छवि भी मौजूद है।

'शिल्पी' कवितामें पन्तजीने मनुष्यके आध्यात्मिक जीवनको ऊँचा

'युगवाणी' 'युगवाणी' की कला बुद्धिजीवी है। उसमें भावना-तत्त्व का अभाव-सा है। क्यों? क्योंकि छायावादकी जीवनसे भाग निकलनेवाली कविता स्पष्ट दृष्टिकोणसे रहित, मुख्यतः भावना-प्रधान थी, उसके कवियों की अन्तर्वृत्तियाँ अवचेतन एवं असंगठित, वैयक्तिक एवं असामाजिक थीं और इस अबुद्धिवादी कविताके प्रति प्रतिक्रिया बुद्धि-प्रधान ही होसकती थी। इसलिए 'युगवाणी' में हमें नये विचारों, नये भावों, नये सौन्दर्य-मूल्यों, नये जीवन-सम्बन्धोंके बारेमें वक्तव्य मिलते हैं।

पन्तजीके सम्बन्धमें यह बात उल्लेखनीय है कि वे प्रारम्भसे ही प्रगति के समर्थक रहे हैं, जीवन-संघर्षसे भागनेकी प्रवृत्ति उनपर अधिकार न कर-सकी। 'पल्लव' में भी उन्होंने परिवर्तनका स्वागत किया है और 'गुञ्जन' में उनके 'विदग्ध हृदयकी भावुकता और कोमल कल्पनाका लय आत्म-चिन्तन और लोक-कल्याणकी भावना' में होगया था। यद्यपि 'गुञ्जन' में वे नव जीवन की विकसित कल्पना नहीं प्राप्त करसके और न उस समयतक जीवन-वैषम्य के मूलकारणोंकी चेतना प्राप्त करपाये थे, जिसके कारण उन्होंने 'सुख' और 'दुख' की नित्यता स्वीकार कर उनमें सामञ्जस्य स्थापितकर, मानव-जीवन की अपूर्णता और उसके उत्पीड़नको दूर करनेकी कोशिश की थी, लेकिन उस समय भी उन्हें विश्व प्रिय था, तृण-तरु, पशु-पच्छी, नर-सुरवर सभीके प्रति उनका अनुराग था। 'गुञ्जन' में पन्तजीने कहा भी है—

मैं प्रेमी उच्चादर्शों का
संस्कृति के स्वर्गिक स्पर्शों का
जीवन के हर्ष-विमर्शों का

लगता अपूर्ण मानव जीवन
मैं इच्छा से उन्मन उन्मन

और चूँकि मानव-जीवनकी अपूर्णताकी चेतना उन्हें 'इच्छा' से 'उन्मन उन्मन' बनाये रहती थी इसीलिए उच्चादर्शोंके प्रेमी पन्त अपने मार्गको प्रशस्त करते आगे बढ़तेआये और आज वे प्रगतिशील शक्तियों के साथ हैं। उस समय भी उनकी कामना थी कि—

नव छवि, नव रँग, नव मधु से
मुकुलित, पुलकित हो जीवन

युगवाणीमें उनकी चेतना परिपक्व होगयी है। आत्मचिन्तन और कठोर अन्तर्द्वन्द्वके पश्चात् पन्तजीको मानव-विकासका एक मात्र मार्ग मिलगया है, वह मार्ग है साम्यवादका। इस चेतनाके प्राप्त करतेही उन्हे स्वयं अपनी कविताके बन्धन टूटते नजर आये हैं :

खुल गए छन्द के बन्ध
प्रास के रजत् पाश,
अब गीत मुक्त
औ' युगवाणी बहती अयास।
बन गए कलात्मक
जगत के रूप नाम
जीवन संघर्षण देता सुख
लगता ललाम।

इसलिए अब वे सुख और दुःखकी नित्यतामें विश्वास नहीं करते और न उनमें सामञ्जस्य उत्पन्न करनेकी चेष्टामें ही संलग्न हैं। अब उन्हे इस बातकी चेतना प्राप्त होगयी है कि,

जगजीवन के तम में
दैन्य, अभाव शयन में
परवश मानव !

इस 'परवश मानव' का उद्धार तभी होगा जब नयी मानवताकी रचना कीजायगी। इस नयी मानवताका एक नयी संस्कृतिके अन्दर ही निर्माण किया जासकता है। इस नयी संस्कृतिकी क्या रूप-रेखा होगी? पन्तके अनुसार इस नयी संस्कृतिमें मृत-आदर्शोंका बन्धन न होगा, रूढ़ि और रीतियोंकी आराधना न होगी, उसमें मनुष्य श्रेणी-वर्गमें विभाजित न होंगे, और न उसमें धन-बलसे जन-श्रम-शोषण होगा। उसमें जीवन सक्रिय होगा, और जीवनको उन्नत बनानेवाले सभी प्रयोजन-साधन उपस्थित होंगे। ऐसी नव संस्कृतिमें वाणी, भाव, कर्म, मन तो संस्कृत होंगे ही, जनवास, वसन और मनुष्यके शरीर भी सुन्दर होंगे। पन्तकी नव-संस्कृतिकी कल्पना अतिशयोक्तियों या वर्तमानके तिरस्कारपर ही अवलम्बित नहीं है, वरन् उसमें नव-संस्कृतिकी रचनात्मक विशेषताओंकी छवि भी मौजूद है।

'शिल्पी' कवितामें पन्तजीने मनुष्यके आध्यात्मिक जीवनको ऊँचा

उठाने, उसकी अवचेतन अन्तर्वृत्तियोंको चेतन और उसके भावोंको संगठित करनेमें कविकी जो भूमिका होती है उसका वर्णन किया है :

निर्माण कर रहा हूँ जग का
मैं जोड़-जोड़ मनुजों के मन
मैं काट-काट कटु घृणा कलह
रचता आत्मा का मनोभवन
मैं जग जीवन का शिल्पी हूँ
जीवित मेरी वाणी के स्वर
जन-मन के मांस खण्ड पर
मुद्रित करता हूँ सत्य अमर

यद्यपि इस कविताका दृष्टिकोण आदर्शवादी है, क्योंकि 'मन' को जग-जीवनका अवलम्ब मानागया है, तोभी इसमें सत्यका अंश बहुत ज़्यादा है। जबतक 'जन-मनके मांस खण्ड' पर 'अमर-सत्य' मुद्रित नहीं किया जायगा, उस समयतक मनुष्यका भाव-जगत, उसका आध्यात्मिक जीवन क्षुद्र और सङ्कीर्ण ही बनारहेगा। लेकिन यह 'अमर सत्य' क्या है? क्या यह वर्ग-सत्य तो नहीं है? नहीं,

सत्य नहीं वह, जनता से जो
नहीं प्राण - सम्बन्धित

इस प्रकार पन्तजीने अनुभव किया है कि जीवनके वर्तमान वर्ग-मूल्योंका परित्याग कर नये मूल्योंकी सृष्टि करनी होगी, क्योंकि

आज असुन्दर लगते सुन्दर
प्रिय पीड़ित, शोषित जन

अतएव,

आज सत्य, शिव, सुन्दर केवल
वर्गों में हैं सीमित
ऊर्ध्व मूल संस्कृति को होना
अधो मूल है निश्चित।

यह कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। 'कला, कलाकेलिए' के समर्थक आज वर्ग-कलाका निर्माण करते हैं किन्तु यह कला पृथ्वीपर सिरके बल

खड़ी है, अगर संस्कृति और कलाका विकास होना है, तो संस्कृति और कलाको उलटकर पैरके बल खड़ा करना होगा, ऐसा करनेपर जीवन-मूल्यों मेंभी परिवर्तन करना होगा। ये जीवन-मूल्य सौन्दर्य-तत्त्वकी उपेक्षा नहीं करेंगे, बल्कि उनका सौन्दर्य-तत्त्व अधिक व्यापक और सर्व-जन-सुलभ होगा। इसलिए पन्तजी कहते हैं—

रम्य रूप निर्माण करो हे
रम्य वस्तु परिधान,
रम्य बनाओ गृह, जन पथ को
रम्य नगर, जन स्थान।

किन्तु जबतक पुरुष परवश और बन्धन-ग्रस्त है उस समयतक नयी सभ्यता, नयी संस्कृति और नये जीवनका निर्माण नहीं होसकता। इस आधुनिक संस्कृति और समाजने मनुष्यकी मनुष्यताका अपहरण करलिया है और उसमें अनेकानेक भेदभाव उत्पन्न कर उसे अलग-अलग बाँटदिया है। इसलिए पन्तजीका आदेश है—

आज मनुज को खोज निकालो
जाति वर्ण संस्कृति समाज से
मूल व्यक्ति को फिर से चालो

मनुष्यके वर्ग-समाजने नारी जतिको सदैव दासताके बन्धनमें जकड़ कर रखा है। पन्तजी उसे अब ऊँचा उठाकर स्वतन्त्र-जीवन प्रदान करना चाहते हैं। उनका आदेश है :

मुक्त करो नारी को मानव !
चि र व न्दि नि ना री को,
युग-युग की बर्बर कारा से
जननि, सखी, प्यारी को।

आज इस बन्दिनीकी क्या करुण दुर्दशा है ?

वह नर की छाया नारी !
चिर नमित नयन, पद विजड़ित
वह चकित, भीत हिरनी-सी
निज चरण चाप से शङ्कित !

मानव की चिर सहधर्मिणि-
युग-युग से मुख अवगुण्ठित
स्थापित घर के कोने में
वह दीप शिखा-सी कम्पित !

परन्तु स्त्री-पुरुष तभी स्वतन्त्र होसकते हैं जब उनके जीवनके अन्धकार, भेदभाव, पाशविकता, बर्बरता आदि जीवनके कुत्सित रूप मिट जायें और नये विचार, नयी संस्कृतिकी रोशनी उनमें पैदा होजाय। इसलिए—

कातो अन्धकार तन-मन का,
नव प्रकाश के रजत स्वर्ण से
बुनो तरुण पट नव-जीवन का।

पर इसका यह अर्थ नहीं कि पुरातनकी जीवित निधियाँ भी हम नष्ट करदें या देश-देशकी सांस्कृतिक विशेषताको एकदम मिटादें, नहीं—

सजा पुरातन को कर नूतन
देश-देश का रंग अपनापन
निखिल विश्व की हाट-बाट
में लेन-देन हो मानवपन का।

पन्तजीकी नव-जीवनकी यह कल्पना उस समयतक कार्य-रूपमें परिणत नहीं होसकती जबतक वर्तमान पूँजीवादी समाज स्थापित है, उसके विनाशपर ही नव-संस्कृति, नव-मानवता पल्लवित-फलित होसकती है। इस लिए वे आधुनिक जीवनमें आमूल परिवर्तनकी आवश्यकताका अनुभव करते हैं। क्रान्तिके कृष्ण-घनको उठते देख वे कहते हैं—

मुस्काओ हे भीम कृष्ण घन !
गहन भयावह अन्धकार को
ज्योति मुग्ध कर चमको कुछ क्षण
दिग् विदीर्ण कर, भर गुरु गर्जन,
चीर तड़ित से अन्ध आवरण,
उमड़-घुमड़ फिर झूम-झूम हे
बरसाओ नव-जीवन के कण।

'पन्त' की क्रान्तिके प्रतीक 'कृष्ण घन' भगवतीचरण वर्मा या दिन-

मरणोन्मुख साम्राज्यवाद, कर वह्नि और विष वर्षण
अन्तिम रण को है सचेष्ट, रच निज विनाश आयोजन।
विश्व क्षितिज में घिरे पराभव के हैं मेघ भयंकर
नवयुग का सूचक है निश्चय यह ताण्डव प्रलयंकर।

इस नवयुगकी सूचना उन्हें अनायास ही प्राप्त होगयी है, बल्कि उनके ऐतिहासिक दृष्टिकोणने उन्हें सूचना दी है—

साक्षी है इतिहास,—आज होने को पुनः युगान्तर,
श्रमिकों का शासन होगा अब उत्पादन यंत्रों पर।
वर्गहीन सामाजिकता देगी सब को सम साधन,
पूरित होंगे जन के भव जीवन के निखिल प्रयोजन।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पन्तकी 'युगवाणी' की 'विचार-वस्तु' हिन्दी काव्यसाहित्यमें एकदम नयी है। 'युगवाणी' में प्रकट विचारों में गूढ़-चिन्तन, अध्ययन और अनुभवकी झलक है। उनमें परिपक्वता और सारपूर्ण व्यापकता है। क्रान्तिकी आकांक्षाओंकी अभिव्यंजना करने वाले किसी अन्य कविकी विचार-वस्तु इतनी परिष्कृत, समन्वित एवं प्रगतिशील नहीं रही है।

पन्तजीकी युगवाणीका हिन्दीमें स्वागत भी हुआ और विरोध भी। विरोधियोंके मुख्य तर्कबाण कुछ इस प्रकारके हैं—(१) युगवाणीमें पन्तजी की कलाका ह्रास हुआ है, क्योंकि उन्होंने कल्पनाके रजत-पंखोंपर उड़ना छोड़दिया है। (२) युगवाणीमें बुद्धिवादकी प्रधानताने गद्यको ही कविता का जामा पहनादिया है, भाव और अनुभूतिका पन्तजीमें लोप होगया है। (३) पन्तजीकी काव्य-सरिता शुष्क होगयी है, और लोक-भावनाका आश्रय लेकर उन्होंने स्वयंही अपनी कविताकी भावमयताको नष्ट करदिया है। (४) पन्तजीकी भाषा उनकी लोक-भावनाके अनुकूल नहीं है, और ऐसी दुरूह भाषामें लिखकर वे अपने उद्देश्यका स्वयंही हनन कररहे हैं, आदि।

इस लेखमें पन्तकी युगवाणीके कलापक्ष अर्थात् शैलीकी एकाग्रता, रस रमणीयता, पद-विन्यास, गुण-प्रकाशनकी क्षमता, शब्द-चयन, उपमा-रूपक आदि भाव-प्रकाशनकी प्रणालियाँ, सौन्दर्य-सृष्टिकी रीतियाँ, संगीत एवं ध्वनि आदिका निरूपण करना मेरा उद्देश्य नहीं रहा है, किन्तु तोभी आक्षेपोंके उत्तरमें कुछ कहना आवश्यक है। मेरा अपना विचार है कि

की कल्पना करते हैं, और आजके समाजकी संघर्षमय वास्तविकता, उसके अन्तर्गत बहनेवाली नवजीवनकी धाराओं, उसके गर्भमें पड़े नव-जीवनके बीज, समाज परिवर्तनकी शक्तियोंकी अपने ऐतिहासिक-कार्यके प्रति जागरूकता और चेष्टाने उनके मनमें इस विश्वासकी पुष्टि करदी है कि, यह यूटोपिया अवश्य कभी-न-कभी, कदाचित् शीघ्र-ही, फलित होगी। इसलिए वे नूतनकी मधुर-कल्पनामें ही तन्मय होजाते हैं, उसके रचनात्मक-तत्त्वको ही देखते हैं, और उसके दूसरे आवश्यक अङ्ग, विध्वंसात्मक-तत्त्वको नज़रन्दाज़-सा करजाते हैं। लेकिन विध्वंसात्मक तत्त्वके विना क्रान्ति सफल नहीं होसकती और नूतन जीवन प्रतिफलित नहीं हो सकता। यूटोपिय होनेके कारण ही पन्तजीकी कविता यथार्थवादी न होकर, आदर्शवादी है

किन्तु आधुनिक प्रगतिशील-वास्तविकताका सर्वाङ्गपूर्ण चित्रण उसके विध्वंसात्मक एवं सृजनकारी दोनों तत्त्वोंका सामञ्जस्यपूर्ण चित्रण आदर्शवादी शैलीमें नहीं किया जासकता। जहाँतक शोषित मनुष्यके व्यक्ति गत हर्ष-विमर्ष, प्रेम विरह, जीवनके अभाव और असहायताकी प्रगति शील अभिव्यञ्जना करनी है, छायावादकी शैली उसका तीव्र संवेदनात्म चित्रण करनेमें सफल होसकती है और किसी प्रगतिशील कविको छायावादकी अति-उन्नत, परिमार्जित विकसित शैलीका इस आधारपर तिरस्कार नहीं करनाचाहिए कि उसमें अबतक जीवनकी कठिनाइयोंसे पराङ्मुख होनेवाली भावनाकी ही अभिव्यक्ति कीजाती थी। शोषित मानवता भी व्यक्तियोंकी समष्टिसे निर्मित हुई है और इन व्यक्तियोंके सुख-दुःख, प्रेम और विरहके चित्र उच्चवर्गोंके व्यक्तियोंके सुख-दुःख और प्रेम-विरहसे कहीं अधिक तीव्र, सत्य और सुन्दर होंगे, क्योंकि उनमें हमें मानवताके यथार्थ रूपका दर्शन मिलेगा, जो वैभव-विलासके क्रोड़में पले उपजीवियोंकी कृत्रिम, स्व-रचित वेदनामें कदापि नहीं मिलसकता। अतः छायावादकी शैलीके नितान्त परित्यागके हम समर्थक नहीं। किन्तु इसका दूसरा पहलू भी है। प्रगतिशील काव्यशैली छायावादी शैलीतक ही अपनेको सीमित नहीं रख सकती। क्योंकि आधुनिक जीवनकी संघर्षमयी वास्तविकताके अनुभव, अपने विनाशसे बचनेकेलिए मरणोन्मुख साम्राज्यवाद-पूँजीवादकी अन्तिम मन्द चेष्टाकी विकरालता, क्रान्तिकी शक्तियोंकी कठिनाइयाँ, उनकी शक्ति-संग्रह एवं ऐक्य-स्थापनकी अनवरत चेष्टा, उनके विरोधियोंकी हिंसा,

क्रूरता और बर्बरता, और नये समाजकी प्रसव-वेदनाके अनुभवकी भाव-पूर्ण, कल्पनात्मक, कलापूर्ण अभिव्यञ्जना छायावादकी आदर्शवादी शैली द्वारा नहीं कीजासकती, वह इस कठोर अनुभूतिका भार नहीं उठासकती। प्रतीकोंका प्रयोग वास्तविकताका सर्वाङ्गपूर्ण चित्रण नहीं करसकता। इसलिए पन्तकी कवितामें एक और ऐतिहासिक विकासकी आवश्यकता है—वह है आधुनिक वास्तविकताके अनुकूल ही छायावादकी टेकनीकके उत्कृष्ट गुणोंसे विकसित एक नयी यथार्थवादी शैलीका विकास।

मेरा कथन बुद्धिगम्य है। भाव-विचारोंके अनुकूल ही उनके प्रकाशनकी शैली भी होनाचाहिए। जिस समय शृङ्गार-कालकी कविताका परित्याग कर छायावादी कवियोंने कवितामें नये भाव, रस और विचारोंकी सृष्टि की थी, उस समय उन्होंने शृङ्गार-कविताकी रीति-शैलीका भी परित्याग किया था। इसी प्रकार आज जब फिर कवितामें युग-परिवर्तन होरहा है और उसमें नये भाव-विचार प्रवेश कररहे हैं, तो इन नये भाव विचारोंका केवल छायावादकी आदर्शवादी शैलीमें ही प्रकाशन कर हम 'मांसल-रक्तिम' कला उत्पन्न नही करसकते। छायावादकी कविता वैयक्तिक-भाव-प्रकाशनकी कविता है, इसलिए उसमें व्यक्तिगत अनुभवकी ही अभिव्यञ्जना होसकती है, मनुष्यके सामूहिक अनुभवकी अभिव्यक्ति उसमें नही कीजासकती। युगवाणीकी एक कमी यहभी है कि पन्तजीने नयी विचारधाराके अनुकूल शैलीको यथार्थवादी नही बनाया। ग्राम्यामें यह दोष अंशतः, केवल अंशतः ही दूर होगया है और युगवाणीमें भी 'दो लड़के' जैसी अभिनव शैलीकी कविताएँ हैं। कदाचित् पन्तजी अपनी कविताके इस अभावके प्रति सचेत हैं। उन्होंने स्वयं प्रश्न किया है—

कवि नव युग की चुन भाव राशि
नव छन्द आभरण, रस विधान
तुम बन न सकोगे जन मन के
जाग्रत भावों के गीत यान ?

इसके अतिरिक्त 'जन मनका गीत यान' कवि तभी बनसकता है जब वह कविताके विनष्ट मूल-तत्त्व, सामूहिक-भावनाकी अभिव्यक्तिको पुनः प्रतिष्ठित करदे। 'खोज' और 'लेन देन' कविताओंमें हमें इस दिशामें किये

गये प्रयत्नका आभास मिलता है, क्योंकि इन दो कविताओंमें कबीर, सूरदास और मीराके पदोंकी-सी सामूहिक-गेयताका तत्त्व वर्तमान है।

ग्राम्या—पन्तजीकी नवीनतम कृति 'ग्राम्या' है। 'ग्राम्या' में पन्तजीकी कलाका विकास स्पष्ट है। 'युगवाणी' में 'दो लड़के' के अतिरिक्त और कोई ऐसी कविता नहीं है जिसमें वास्तविक जीवनका यथार्थवादी चित्रण मिलता हो। जैसा हम ऊपर कहचुके हैं, 'युगवाणी' की अधिकांश कविताओंमें हमें 'नये विचारों, नये भावों, नये सौन्दर्य-मूल्यों और नये जीवन-सम्बन्धों' के बारेमें वक्तव्य मिलते हैं। 'ग्राम्या' में पन्तजीने 'ग्रामीणोंके प्रति··· बौद्धिक सहानुभूति' प्रकट की है। 'ग्रामीणोंके प्रति'—ग्रामीणोंके प्रति भी बौद्धिक सहानुभूति उस समयतक प्रकट नहीं कीजासकती जबतक इन ग्रामीणोंके जीवन, उनके दुःख-सुख, उनके हर्ष-विमर्श, उनकी यातनाओं-विडम्बनाओंका अनुभव लेखकको न हो। 'ग्राम्या' में हमें इस अनुभव का चित्रण मिलता है। पन्तजीके प्रगतिशील विकासका यह दूसरा चरण है, दूसरा रूप है। 'युगवाणी' में यदि शुष्क सिद्धान्तवादने उनके प्रगतिशील दृष्टिकोणका शिलान्यास किया था तो 'ग्राम्या' में 'यथार्थ चित्रण' ने उनके दृष्टिकोणको अंशतः जीवन प्रकृत रूप देदिया है। ग्राम्यामें दार्शनिकता है, तो उससे भी अधिक कवित्व है—

पन्तजीका विकास अवरुद्ध नहीं हुआ।

'ग्राम्या' में ग्राम्य जीवनका चित्रण कैसा है? 'ग्राम चित्र' और 'भारत ग्राम' में भारतके ग्रामोंका चित्र मिलता है। इन ग्रामोंमें 'अन्न-वस्त्र पीड़ित असभ्य निर्बुद्धि पङ्कमें पालित' मनुष्य रहते हैं।

झाड़ फूँस के विवर,—यही क्या जीवन शिल्पी के घर?
कीड़ों से रेंगते कौन ये? बुद्धि प्राण नारी नर?

यह भारत ग्राम—रवि-शशिका लोक, जहाँ पक्षियोंकी चहचहाहट से सारा वातावरण मुखरित रहता है, जहाँ खेतोंकी हरियालीसे पृथ्वीपर मखमल-सी बिछीहुई है, जहाँ फूल, ओस, कोकिल, आमकी डाली, नीला नभ, बोई धरती, सूरजका चौड़ा प्रकाश और ज्योत्स्नाका नीरव प्रसार सभी कुछ है; जो प्रकृति धाम है, जहाँका तृण-तृण, कण-कण प्रफुल्लित और जीवित है लेकिन,

'यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विषण्ण जीवन्मृत !!'

केवल ग्रामही नहीं, वरन् समूचा भारत आज इन्हीं जीवन्मृत निवासियोंका एक महाग्राम बनाहुआ है जिनका आध्यात्मिक और भौतिक विकास रुकाहुआ है। इस महाग्राममें 'सामाजिक जन' नहीं वरन् 'अहंकाम व्यक्ति' निवास करते हैं, जिनकी चेतना क्षुद्र है, जो व्यक्तिगत रागद्वेषसे पीड़ित हैं, जो परम्परा प्रेमी, अन्ध-विश्वासी, परिवर्तन-विमुख, भाग्यके क्रीत दास और पाप-पुण्यसे संत्रस्त हैं। इन मनुष्योंमें आज भी आदिम मानव ही निवास करता है। वे सभ्य नहीं हैं; उनके वेश [illegible]। किन्तु अब युग परिवर्त्तन समीप है क्योंकि,

ललकार रहा जग को भौतिक विज्ञान आज,
मानव को निर्मित करना होगा नव समाज
विद्युत औ' वाष्प करेंगे जन निर्माण काज,
सामूहिक मङ्गल हो समान :>

अतः पन्तजी ग्रामोंके जीवनके प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति ही नहीं प्रदर्शित करते, 'विषण्ण-जीवन्मृत' मनुष्योंको देखकर दया और करुणा सेही नहीं भरजाते, बल्कि परिवर्तनकी अनिवार्यताकी ओरभी इशारा करते हैं, जिसके बिना उसमें पुनर्जीवन नहीं उत्पन्न होसकता। [illegible] बात है कि इस 'अहंकाम,' 'संत्रस्त', 'अन्ध-विश्वासी' मानव (अर्थात् भारतीय किसान) को उसके खण्ड-खण्ड कमज़ोर रूपमें देखना [illegible] है, जिसके कारण पन्तजी यह नहीं देखपाते कि ग्राम जनता ही वह 'भौतिक विज्ञान' ललकाररहा है जिसके कारण 'युगपरिवर्तन' समीप है, जो स्वयं 'भौतिक विज्ञान' बिना इस 'विषण्ण जीवन्मृत' मानवके सामूहिक संगठन के 'युगपरिवर्तन' करही नहीं सकता (अतः [illegible], क्योंकि यदि यह मानव कमज़ोर और अन्धविश्वासी है तो समूचे रूपमें नव क्रान्ति और मौलिक परिवर्तनकी शक्तियोंका ज्वालामुखी भी है, अतः उसके सामूहिक सङ्गठित 'अमल' के अन्दर जो शक्ति गर्भजात है उसे स्वीकार न करना इस मानव का उपहास-चित्र खींचना भी होसकता है

इन ग्रामों के निवासी कैसे हैं ?

उन्मद यौवन से उभर
घटा-सी नव असाढ़ की सुन्दर,

एक ग्राम-युवतीका चित्र है। कितनी क्रियाशील, यौवनके सहज उत्साहसे कितनी उल्लसित-चकित, हर काममें कितनी दत्तचित्त; किन्तु अपने यौवनोल्लासके कारण कितनी चिन्तित! उसका वह खल-खल हँसना, वह मटकना, लचकना, पनघट पर केलि करना, उसका वह यौवन उन्माद!

रे दो दिन का उसका यौवन!
....
दुःखों से पिस, दुर्दिन में घिस
जर्जर हो जाता उसका तन!

और ग्राम नारी! वह वर्ग-नारियोंकी तरह न 'सुभ्र' है, न 'संस्कृत', न उसके 'कपोल', 'भ्रू', 'अधर' रँगेहुए हैं और न उसके अङ्ग 'सुरभित वासित' हैं। न वह उनकी तरह 'रङ्ग प्रणय' की कलामें कुशल है, क्योंकि सम्मोहन, विभ्रम, अङ्ग-भङ्गिमा उसे आती ही नहीं। वह तो एक सरल, अबोध स्त्री है, जिसकी मांसपेशियोंमें दृढ़ कोमलता भरीहुई है, जिसके अवयव सुगठित हैं, 'उरोज' 'अश्लथ' हैं। उसमें न कृत्रिम रतिकी आकुलता है और न कल्पित मनोज उसके मनको उद्दीप्त करता रहता है। सच तो यह है कि—

वह स्नेह शील, सेवा, ममता की मधुर मूर्ति
यद्यपि चिर दैन्य, अविद्या के तम से पीड़ित
कर रही मानवी के अभाव की आज पूर्ति
अग्रजा नागरी की,—यह ग्राम वधू निश्चित।

पन्तने क्यों इस ग्राम नारीकी इतनी प्रशंसा की है? क्योंकि यद्यपि वह सुसंस्कृत नहीं है, पर अमानवी भी नहीं है; उसमें एक मानवीके गुण अभी मौजूद हैं, जिनको प्रकाशमें लाकर एक श्रेष्ठ, भावी मानवीकी जीवित प्रतिमा ढाली ज़ासकती है।

'कठपुतले', 'गाँवके लड़के', 'वह बुड्ढा' और 'वे आँखें' कविताएँ यथार्थवादी-चित्रणकी श्रेष्ठ नमूना हैं। इन कविताओंमें पन्तजीने ग्रामीण जनोंका जो चित्र खींचा है वह एक लकीरकी तरह पाठकके हृदयपर भी खिंच जाता है। उन्हें भुलाया नहीं जासकता। 'ग्राम-युवती' और 'ग्राम नारी' का चित्र हम देखचुके। 'गाँवके लड़के' उनसे किसी मात्रामें अधिक

सुखी नहीं हैं। भावी-समाजके ये जीवित-स्तम्भ, ये भू-धन किस प्रकार पैदा होते, पाले-पोसे जाते हैं, उन्हें भावी-समाजका भार-वहन करनेके लिए कैसी शिक्षा-दीक्षा मिलती है, इनका स्वरूप क्या है?

मिट्टी से भी मटमैले तन,
अधफटे, कुचैले, जीर्ण वसन,–
... ...
... ...
कोई खण्डित, कोई कुण्ठित
कृश बाहु, पसलियाँ रेखाङ्कित
टहनी सी टाँगें, बढ़ा पेट,
टेढ़े-मेढ़े विकलाङ्ग घृणित!

हमारे वर्ग-सौन्दर्य-शास्त्री मानवकी इस विकृत पौधको, अपने सौन्दर्य-जगत्के इस अन्तर्जगत्को देखकर क्या सिहर नहीं उठते? इन बालकोंको देखकर जिनकी :

पशुओं सी भीत मूक चितवन
प्राकृतिक स्फूर्ति से प्रेरित मन

जो,

तृण तरुओं-से उग-बढ़, झर-गिर,
ये ढोते जीवन-क्रम के क्षण!

पन्तजीकेलिए उनकी यह दुर्दशा असह्य है।

इन कीड़ों का भी मनुज बीज
यह सोच हृदय उठता पसीज,
मानव प्रति मानव की विरक्ति
उपजाती मन में क्षोभ खीज!

'वह बुड्ढा'—एक भिखारीका चित्र है। इस 'जीवनके बूढ़े पञ्जर' की सिकुड़ी चमड़ी चिमटगयी है, उसकी सूखी ठठरीसे 'उभरी ढीली नसें जाल-सी' लिपटी हुई हैं, मानो एक ठूँठ पेड़से पतझड़में अमरबेल चिपटी

उसका लम्बा डील-डौल है,
हट्टी कट्टी काठी चौड़ी

इस खण्डहर में बिजली सी
उन्मत्त जवानी होगी दौड़ी ।

अपने बुढ़ापेमें 'बैठ, टेक धरती पर माथा' वह सबको सलाम करता है, अपनी 'मौन त्रस्त चितवन' से वह कातरवाणीमें अपना दुःख कहता है । भूखा है, पैसे पाकर वह घर चलाजाता है । पन्तजीके अन्दर वह पैशाचिक छायाकी तरह अपनी काली नारकीय छाया छोड़गया ! शायद दुःखोंसे उसमें मनुष्य मर गया है ।

'वे आँखें' एक विदग्ध-कल्पनाकी सृष्टि हैं । बिना उन आँखोंको देखे उनकी कल्पना नहीं कीजासकती । एक किसान है, जिसके लहराते खेत बेदखल होगये हैं, जिसका जवान बेटा कारकुनोंकी लाठीसे मारा गया है, जिसका घर-द्वार महाजनने कुर्क करालिया है, जिसकी बिटिया दूध न पानेसे मर गयी है, जिसकी लक्ष्मी-सी पतोहू कोतवालकी नृशंसताके कारण कुँएमें डूबकर मर गयी है—ये उसी किसानकी आँखें हैं, उनमें कितने दुःख और कितनी यातनाएँ समाचुकी हैं !

अन्धकार की गुहा सरीखी
उन आँखोंसे डरता है मन
भरा दूर तक उनमें दारुण
दैन्य दुःख का नीरव रोदन !
मानव के पाशव पीड़न का
देतीं वे निर्मम विज्ञापन !
फूट रहा उनसे गहरा आतंक,
क्षोभ, शोषण, संशय, भ्रम
डूब कालिमा में उनकी
कँपता मन उनमें मरघट का तम !
ग्रस लेती दर्शक को वह
दुर्ज्ञेय, दया की भूखी चितवन
भूल रहा उस छाया-पट में
युग-युगका जर्जर जन-जीवन !

और क्या ये 'आँखें' अकेली हैं ? भारतके सात लाख गाँवोंमें

ऐसी करोड़ों 'आँखें' हमें मिलती हैं जो एक दूसरेके दारुण दुःखकी गह-राई नापती रहती हैं, उनकी यह गहराई, यह कालिमा, यह अन्धकार मन ही उन्हें एक साथ बाहर निकलने, ऊपर उठनेकेलिए निरन्तर प्रेरित, आकुल कररहा है।

'सन्ध्याके बाद' में कविने गाँवके बनियेका चित्र खींचा है, जो दिन-रात मेहनत करके भी ग़रीब है, दरिद्र है। वह बनिया अपनी अव-स्थापर विचार करता है, सोचता है कि वह भी क्यों नहीं नगरके सेठों की तरह धनी बनजाता, महाजन बनजाता। क्या कारण है? इस व्य-वस्थामें कौनसा दोष है? क्या कोई व्यवस्था ऐसी नहीं बनसकती जिसमें सभी सुखी हों, सभी काम करते हों, एक सामूहिक जीवन हो, कर्म और गुणके अनुसार वितरण हो, जनका जन शोषण न करता हो—आदि। इतने ही में,

टूट गया यह स्वप्न वणिक का
आयी जब बुढ़िया बेचारी
आध पाव आटा लेने,—
लो, लाला ने फिर डण्डी मारी!

यह गाँवका बनिया अपने निम्न मध्यम-वर्गका कितना सच्चा प्रतिनिधि है? उसके विचार कितने उदार, उसका कर्म कितना कुत्सित है, उसकी नैतिक-भित्ति कितनी डाँवाडोल है? पन्तजीने इन पंक्तियोंमें कितनी खूबीसे एक समूचे वर्गकी मनोवृत्तिका व्यंग-चित्र खींचदिया है!

ग्राम-जीवनके ये कुछ दृश्य हैं, लेकिन यह केवल उसका एक पहलू है। यदि दुःख और दैन्य ही जीवनमें हो तो शायद मनुष्यकेलिए वह असह्य होजाय। सदियोंसे दुःख और दरिद्रता, शोषण और पराधी-नता-ग्रस्त ग्राम-निवासी किसानकी रीढ़ अबतक टूटगयी होती, लेकिन नहीं, वह आज भी जीवनसे चिपटा है, गिरता है, घसिटता है, उसके अङ्ग-अङ्ग छिलजाते हैं, रक्त-स्रावसे उसकी आकृति बिगड़जाती है, लेकिन उसने जीवनका दण्ड अपने हाथसे नहीं छोड़ा। अपनी भावनाओंको सरस बनानेकेलिए उसने अपने करुण-क्रन्दन-भरे जीवनमें भी मनोरञ्जनके साधन बनाये हैं, नृत्य और सङ्गीत! आत्माकी क्षुधा शान्त करनेकेलिए

'महात्माजी के प्रति' और 'बापू' दो कविताएँ महात्मा गान्धीके सम्बन्धमें हैं। इसमें सन्देह नहीं कि एक समाजवादी कवि भी महात्माजी के व्यक्तित्वकी उपेक्षा नहीं करसकता। महात्माजी एक महान व्यक्ति हैं। हमारे राष्ट्रीयजीवनपर उनकी छाप स्पष्ट अङ्कित है। पन्तजीने भी उनके इस महान् व्यक्तित्वको श्रद्धांजलि अर्पित की है, लेकिन अपनी अभिनव दृष्टिसे, महात्माजीके कार्यका मूल्य आँक कर :

निर्वाणोन्मुख आदर्शों के अन्तिम दीप शिखोदय !
गत आदर्शों का अभिभव ही मानव आत्माकी जय,
अतः पराजय आज तुम्हारी जय से चिर लोकोज्ज्वल !

अन्तमें हम राष्ट्रीय गीतोंपर विचार करेंगे। 'भारतमाता' में भारतमाताका चित्र अङ्कित कियागया है। 'वन्दे मातरम्' में हमें भारतमाता के एक स्वरूपका चित्र मिलता है, उसके 'सुजलाम्, सुफलाम्, सुखदाम्' स्वरूप, उसकी 'बहुबल धारिणीम्', 'रिपुदल वारिणीम्' अतुलशक्तिका परिचय मिलता है। लेकिन पन्तकी कल्पनाकी भारतमाता एक मनोरथ-सिद्ध आदर्शकी वन्दनीय प्रतिमा नहीं है, जिसकी वर्तमानसे कोई सङ्गति न हो। पन्तकी 'भारतमाता' वास्तविक भारतकी माता है, वर्ग-माता नहीं। वह उन तीस करोड़ भारतीयोंकी माता है, जिन्हें हम किसान-मज़दूर कहते हैं, जो ग्रामोंमें निवास करते हैं, जो पीड़ित और शोषित हैं। पन्तकी भारतमाता भी उन्हींकी तरह निर्धन और पीड़ित है, उन्हींकी तरह ग्रामवासिनी है—वह सच्ची भारतमाताकी मूर्त्ति है।

भारत माता
ग्राम वासिनी !

इस भारतमाताका 'धूल-भरा मैला-सा श्यामल अञ्चल' खेतोंमें फैलाहुआ है, 'गङ्गा जमुना में' उसका 'आँसूजल' भराहुआ है, वह 'मिट्टीकी प्रतिमा' के सदृश 'उदासिनी' है। उसकी चितवन नत है, जिसमें दैन्य भरा है, 'अधरों' में 'चिर नीरव रोदन' है, उसका मन 'युग-युगके तमसे विषण्ण' होरहा है, आज वह अपने ही घरमें 'प्रवासिनी' बनीहुई है। उसकी तीस कोटि सन्तान नग्न-तन, अर्धक्षुधित, शोषित और निरस्त्र

है, मूढ़, असभ्य, अशिक्षित और निर्धन है, उसका मस्तक नत है, यह प्रवासिनी माँ आज तरुतलकी निवासिनी बनीहुई है !

उसकी धन-सम्पदा विदेशियोंके पैरोंके नीचे कुचली जारही है, उसका सहिष्णु मन धरतीकी तरह कुंठित होरहा है, उसके क्रन्दन-कम्पित अधरोंपर मौन हास्य है, जो पूर्णिमाके चन्द्रकी तरह हास्यमयी थी वह आज 'राहुग्रसित' है !

जो कभी गीता-प्रकाशिनी थी आज ज्ञान मूढ़ है !

लेकिन उसका तप-संयम आज़ सफल होरहा है, अहिंसाका सुधोपम स्तन्य पिलाकर वह आज जनमनका भय निवारण कररही है, भवके तमका भ्रम दूर कररही है !

वह जगजननी
जीवन विकासिनी !

पन्तजीका 'राष्ट्रगान' भी एक नयी चीज़ है, कवीन्द्र रवीन्द्रके 'जन गन मंगलदायक जय हे, भारत भाग्य विधाता', के समान ही श्रेष्ठ राष्ट्र-गान है। पन्तका राष्ट्रगान वास्तवमें भारतकी स्वातन्त्र्य-संघर्ष निरत शोषित जनताका सामूहिक गान है। यद्यपि भाषा क्लिष्ट है, जैसी 'वन्दे मातरम्' में है, परन्तु उसके अन्दर छिपी भारतकी कल्पना अत्यन्त भव्य है। पन्तकी कल्पनाका भारत उन उच्चवर्गोंका भारत नहीं है जो राष्ट्र-नीतिके सञ्चालक हैं, वरन् जनताका भारत है—उस जनताका भारत जो जाग्रत एवं वर्ग-चेतनासे संघर्ष-प्रिय है। उसकी वन्दना करनेवाले भी भारतके श्रमजीवी सुत ही हैं। तभी—

जन भारत हे
जाग्रत भारत हे
कोटि-कोटि हम श्रमजीवी सुत
संभ्रम युत नत हे !

इस जन-भारतका 'इन्द्र चाप मत' तिरङ्गा झण्डा है, तो श्रम-जीवियोंका 'रक्त ध्वज' भी उसपर फहराता है। इन दोनों झण्डोंमें कोई विरोध नहीं है क्योंकि वे दोनों भारतीय जनताकी आकांक्षाओंके प्रतीक हैं।

इस राष्ट्रगान द्वारा भारतीय जनताकी अपनी आकांक्षाओंको अभिव्यक्त करनेवाली ध्वनि मुखरित होउठती है :

जाति धर्म मत, वर्ग श्रेणि शत
रीति नीति गत हे
मानवता में सकल समागत
जन मन परिणत हे
वर्ग मुक्त हम श्रमिक कृषक जन
चिर शरणागत हे
जन भारत हे
जाग्रत भारत हे

इस राष्ट्रगानका एक-एक शब्द सांकेतिक है, और अबतक हमारे विचारकोंने स्वतन्त्र भारतकी जितनीभी कल्पनाएँ की हैं, उन सबसे ज़्यादा जन-हितकारी आदर्शपूर्ण कल्पना पन्तके राष्ट्रगानमें हमें मिलती है।

ग्राम्या पन्तजीकी अनुपम कृति है।

श्री सुमित्रानन्दन पन्तने हिन्दी कवितामें एक युग-परिवर्तन उपस्थित किया है। अभी उनकी कवितामें विचार या बुद्धिकी प्रधानता है, शैली आदर्शवादी है, और क्रान्तिके कठोर विध्वंसात्मक रूपका अभाव है, किन्तु उनके प्रगतिशील विकासकी गतिको देखकर हम आशान्वित हैं कि वे उत्तरोत्तर शोषित मानवताकी संघर्षमयी द्वन्द्वमूलक वास्तविकताका यथार्थवादी चित्रण कर भारतकी जनताके भावोंको सचेतन और संगठित करने में समर्थ होंगे।

कविताका मूलस्रोत है अनुभव, सामाजिक अनुभव; उसका मूलकर्म है इस अनुभवकी कल्पनात्मक, भावपूर्ण अभिव्यञ्जना कर मनुष्यके भाव-जगत्की परिधिको विस्तृत बनाना, मनुष्यके उन्नतिशील-श्रमको मधुर बनानेकेलिए श्रमके प्रति अनुराग-वृत्ति उत्पन्न करना।

इसलिए अनुभव, अनुभव और अधिक अनुभव ही आधुनिक कविको प्रगतिशील शक्तियोंका गायक और उत्प्रेरक बना सकता है।

कविता की आधुनिक व्याख्या

कविताका जबसे जन्म हुआ है उसकी व्याख्याएँ भी होती आयी हैं। यह आवश्यक और अनिवार्य था। मनुष्यके भौतिक जीवनके विकास के साथ-साथ उसके मानसिक तथा भावात्मक जीवनमें जो विकास हुए उसके स्पष्ट चिह्न कवितामें भी अङ्कित होतेगये और कविताका रूप भी बदलता गया। इस परिवर्तनके अनुरूप ही कविताके मान भी बदले। उसके मूल्य नये अनुभवके मापदण्डसे आँकेगये और कविताकी युगीन व्याख्याएँ होती गयीं। पूर्वकालीन व्याख्याओंमें सत्यका अंश है क्योंकि वे अपने समयकी कविताकी यथासम्भव सही व्याख्याएँ हैं, और जिस प्रकार मनुष्यके अनुभवके विकासमें एक क्रम और तारतम्य है, उसकी कवितामें भी वह विकास-क्रम स्पष्ट है जिसके कारण वर्तमानमें प्राचीन समाहित है। उनका सूत्र कहीं टूटा नहीं है अर्थात् प्राचीन कवितामें आजभी सौन्दर्य सुरक्षित है और वह हमारे भावों और रागोंको छूकर स्पन्दित करती है, या कहें कि उसका सत्य आजभी अक्षुण्ण है। इसलिए श्रेष्ठ कविताकी तरह उसकी श्रेष्ठ व्याख्याओं में भी सत्यका अंश वर्तमान है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि आज मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ, अरस्तू, अफ़लातून या कोलरिज और आर्नल्ड की व्याख्याओंसे हम आधुनिक काव्यका मूल्यांकन करें। आधुनिक काव्य में, आधुनिक समाजकी विशेषताओंके जो अनुभव ग्रहीत हुए हैं, प्राचीन व्याख्याकार उनकी कल्पना भी नहीं करसकते थे, इस कारण उनकी व्याख्याएँ आंशिक सत्य रखतेहुए भी अधूरी हैं और पूर्वकालीन युगोंकी ही तरह आज हमें उसकी नयी व्याख्याकी आवश्यकता है जो हमें कविता, उसकी सौन्दर्यगत विशेषताओं, उसके संविधायक पक्ष, उसकी विकास-धाराकी दिशाओं और उसके उद्‌गमके मूल स्रोतोंका अन्वेषणकर हमें उसे समझनेमें सहायता दे। दार्शनिक डेकार्टेने कहा है: 'हर चीज़की जाँच करो। हर चीज़को सत्यकी एकमात्र सच्ची कसौटी, अनुभवपर कसो। सदैव यह जाननेकेलिए तैयार रहो कि नया अनुभव पुराने अनुभवसे जानेहुए सत्य

मशीनोंके विकासके कारण श्रमजीवी वर्गके उत्पन्न होजानेसे, पूँजीपति वर्ग मज़दूर पानेकेलिए सामन्त वर्गका आश्रित न रहा, उद्योग स्वतन्त्र रूपसे विकसित होनेलगे और यह गठबन्धन टूटगया। पूँजीपति वर्ग धन और शक्तिका सञ्चय करनेलगा। दस्तकारियोंकी सहायतासे होनेवाले उत्पादन के तरीक़े नये उद्योगके मार्गमें जब बाधक बने तो उदार दलके पूँजीपतियोंने सामन्त वर्गकी साधन-सुलभ सत्ताके प्रति विद्रोह खड़ाकिया। इसके अनुरूप ही कवितामें भी पुराने रूप-विधानोंके प्रति एक ज़बर्दस्त विद्रोहका सूत्रपात हुआ; बायरन्, कीट्स, शेली और वर्ड्स्वर्थ इस विद्रोहके अग्रणी थे। कविता हृदय और भावनाओंको अपील करे, इस नारेको उठाकर उन्होंने इस बातपर ज़ोर दिया कि कविताकी भाषा स्वाभाविक बोलचालकी भाषा हो और उसमें शेक्सपियर-कालीन कविताकी भाव-प्रगल्भता और रोमैण्टिक-शब्दावलीका प्राधान्य हो। इस नये विकासके साथ कविताके अन्दर अत्यन्त सूक्ष्म भावनाओंको व्यक्त करनेवाले शब्द और अमूर्त्त विचार प्रयोगमें आनेलगे। लय विमुग्धकारी होगयी और कविताकी टेकनीकमें अभूतपूर्व विकास हुआ, क्योंकि कवितामें अब एक नये उत्साह और नयी भावधारा प्रवाहित होनेलगी। वह व्यक्ति-प्रधान होगयी, उसने परम्पराके विरुद्ध विद्रोहकर एक अधिक समृद्ध और स्वतन्त्र जीवनकी कामना प्रकट की। लेकिन फ्राँसीसी क्रान्तिमें पूँजीपति वर्ग और जनताका सहयोग इतना घनिष्ट था कि क्रांतिके सफल होने पर श्रमजीवी वर्गकी स्वतन्त्रताकी माँग भी सामने आयी। पूँजीपति वर्गने इस से भयभीत होकर 'स्वतन्त्रता, समानता और भाईचारा' का जो नारा बुलन्द किया था वापस लेलिया और पुनः सामन्त वर्गसे समझौता करलिया। पूँजीपति वर्गके इस प्रतिक्रियावादी विकासका कवितापर यह प्रभाव पड़ा कि उसके स्वतन्त्र जीवनके भ्रम छिन्न-भिन्न होगये और वह रोमैन्सके व्यक्तिगत संसारमें अपनेको सीमित कर सामाजिक वस्तुस्थितिके साथ समझौता करनेलगी और विक्टोरियन कालमें पूँजीवादके ह्रासयुगके शुरू होनेके साथ साथ पूँजीवादी उत्पादन प्रणालीके परिणाम स्वरूप जब कविता बाज़ारकी प्रतियोगिताकी वस्तु बनगयी और उपेक्षित कवि समाजकी कार्यशीलतासे पीछे हटकर अपनी कल्पित दुनियामें आश्रय लेनेको बाध्य होगया तो उसके पास सिवाय इसके और कोई चारा न रहगया कि वह अपने एकान्तिक जीवनमें बैठकर कविता को नये रूपमें ढाले और उसकी टेकनीकको अधिकाधिक परिमार्जित तथा पूर्ण

बनाताजाय। टेनिसन, स्विनबर्न, ब्राउनिंग और आर्नल्ड, कविकी इस निरुपायता तथा विषमताकी ओर बढ़ते एकान्तिक जीवनके उदाहरण हैं।

इनके पश्चात् कविताके जो रूप विकसित होते हैं, उनमें पूँजीवाद साम्राज्यवाद द्वारा उत्पन्न अराजकवादी भाव-चेतनाकी प्रतिच्छाया है। उनमें व्यक्तिवादकी प्रधानता है क्योंकि पूँजीवादी समाजकी सामूहिक भावना व्यक्तिवादी है। इस अन्तिम कालमें आकर यह स्पष्ट होजाता है कि पूँजीवादी समाजमें कविता या क़लाके विकासकेलिए कोई स्थान नहीं है अथवा पूँजीवाद उसके प्रति उदासीन है और बड़े पैमानेपर वस्तुओं के उत्पादनके इस युगमें कविको भी अपनी रचनाको एक वस्तुके ही रूपमें बाज़ारके सन्मुख रखना है। वह एक श्रमजीवी है और उसके जीवनपर दूसरोंका अधिकार है। इन सामाजिक बन्धनोंके प्रति कविकी प्रतिक्रिया बड़ी तीव्र होती है और वह असन्तुष्ट होकर सामाजिक बन्धनोंके विरुद्ध अपना स्वर ऊँचा करता है लेकिन अभी उसके विद्रोहका ढंग पूँजीवादी है। वह पूँजीवादी समाजके इस भ्रमसे भ्रमित है कि समाजसे अलग होकर वह एकाकी ही अपनी शक्तियोंका विकासकर स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है, इसलिए उसका विद्रोह चरम-व्यक्तिवादका रूप धारण करलेता है। उसे लगता है कि उसकी आत्मापर समाजने बन्धन लगादिये हैं और उसका भावनात्मक शोषण कर समाज उसके व्यक्तित्वके विकासको रुद्ध कररहा है; यह भावना यद्यपि मूलमें क्रान्तिकी पूर्व-सूचना देती है, और केवल आजके ही समाजमें यह भावना उत्पन्न होसकती है क्योंकि आज के समाजमें ही बीज रूपमें और प्रत्यक्ष रूपसे भी वह शक्तियाँ उभरआयी हैं जिनमें एक ऐसे समाजका संगठन करनेकी क्षमता है जिसमें न आत्मा पर बन्धन होंगे, न भावनात्मक शोषण होगा और न व्यक्तित्वका विकास ही अवरुद्ध होगा, तोभी पूँजीवादकी सारी विचारधारा, व्यक्तिवादी होनेके कारण असन्तोष और क्रान्तिके इन अग्रदूतोंको अपने भ्रमजालमें डालकर ऐसा निष्क्रिय और असामाजिक प्राणी बनादेती है कि वे पूँजीवादी समाजकी संकुचित सीमाओंके अन्दर ही विद्रोह करते हैं और उसकी असंगतियोंको औरभी अधिक दृढ़ बनातेजाते हैं।

आधुनिक कविताके जिन स्कूलोंका हमने ऊपर उल्लेख किया है वे आधुनिक कविके इसी अभावजन्य असन्तोषकी असामाजिकता, निराशा,

पराजय और अराजकताके विभिन्न विकास-चरणोंका द्योतन करते हैं और उनकी व्याख्याओंमें भी इसका पूर्ण आभास मिलता है। 'कला कलाके लिए' वाला सिद्धान्त एक प्रकारसे इन व्याख्याओंके मूलमें किसी-न-किसी रूपमें वर्तमान है। आधुनिक जीवनकी विषमताओंसे क्षुब्ध होकर कवि इस बातका प्रयत्न करता है कि कला-जगत् और समाजमें कोई सम्बन्ध न रहे। कला-जगत्का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व हो क्योंकि वर्तमान समाजकी कलाभिरुचि निम्न कोटिकी और उपेक्षापूर्ण है। कविता और समाजका पारस्परिक सम्बन्ध अबतक अविच्छिन्न रहा है। शब्द, लय, छन्द, विचारवस्तु और भाव इन सबका सामाजिक अस्तित्व है। आधुनिक कविता और उसकी व्याख्याएँ कविताके इन सामाजिक उपकरणोंका क्रमशः परित्याग करनेकी चेष्टा करती हैं। पूँजीवादमें व्यक्तिगत कौशलकी उतनी अपेक्षा नहीं होती, इस कारण जिस प्रकार एक दस्तकारके मनमें यह प्रतिक्रिया होती है कि इस युगमें रक्खा ही क्या है, वह जैसे सुन्दर खिलौने बना सकता था, पत्थर पर नक्काशी करसकता था, ढाकेका-सा महीन मलमल तैयार कर सकता था, वैसा अब कोई क्या करेगा। इन गुणोंकी आज क़द्र भी कौन करता है, लेकिन पारखी हों या न हों ये गुण अपनेमें ही श्रेष्ठ हैं और यदि उनकी समाजको ज़रूरत नहीं तो न हो। वह अपनी चीज़ बनाता ही जायगा, अपने कला-कौशलको नष्ट न होनेदेगा, यह क्या कम सन्तोषकी बात है? और वह समाजकी आवश्यकताओंका विचार न कर अपनी दस्तकारीको ही साध्य मानकर छोटी-मोटी चीज़ोंके बनानेमें अपनी सारी साधना लगादेता है। ऐसीही व्यक्तिवादी प्रतिक्रिया आधुनिक कविके मनमें होती है। दस्तकार जिस तरह सामाजिक क्रिया और उपयोगके विरोधमें अपने कला-कौशलको महत्त्व देता है, उसी प्रकार कवि या कलाकार कलाको जीवनके विरुद्ध रखकर उसकी आराधना करता है। कलाका मूल्य अलग है, उसे समाजसे क्या वास्ता; समाज एक भौतिक परिवर्तनशील अचिर वस्तु है। इसके विपरीत कला शाश्वत और चिरन्तन है। इसलिए कलाको कलाकेलिए ही अपनाना चाहिए। लेकिन वास्तवमें यह कला 'कलाकेलिए' नहीं, 'कलाकारकेलिए' ही महत्त्व रखती है। कलाकार समाजसे कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहता क्योंकि समाज उसको यन्त्रणाएँ देता है। लेकिन कवितामें यदि सामाजिक सम्बन्धोंकी अभिव्यक्ति न होगी तो व्यक्तिगत सम्बन्धोंकी होगी।

क्योंकि कविता इतर मानवीय अथवा इतर सामाजिक दोनोंमेंसे कुछ न होकर अपनेआप तो नहीं तैयार कीजासकती, और यदि कवि सामाजिक उपकरणों का उपयोग अवांछनीय समझता है तो वह अपने व्यक्तिगत कल्पनाजन्य अद्भुत उपकरणोंका उपयोग करेगा। और इस तरह वह पूँजीवादी समाज के इस कालमें कलाके सामाजिक जगत्को नष्टकर अपनी व्यक्तिगत कल्पना के जगत्में विचरण करने लगता है और उसका असन्तोष चरम व्यक्तिवाद को जन्म देकर मार्क्सके शब्दोंमें सामाजिक सम्बन्धोंपरसे उसकी पकड़ खो देता है। कवि समझता है उसने निर्बन्ध स्वतन्त्रता प्राप्त करली, यद्यपि स्वतन्त्रता उसकी पकड़से पहलेही बाहर निकलगयी। आधुनिक कविताकी विभिन्न धाराओंकी तहमें 'कला कलाकेलिए' का सिद्धान्त किसी-न-किसी रूपमें वर्तमान है। एक प्रकारसे यहभी कहसकते हैं कि यह प्रवृत्तियाँ इसी सिद्धान्तकी अनेक बिखरी हुई विकृतियाँ हैं।

चित्र-कल्पनावादियोंका कहना है कि 'एक कविता एक अथवा क्रमशः अनेक चित्र-कल्पनाओंसे बनती है और चित्र-कल्पनासे तात्पर्य यह है कि किसीभी एक क्षणमें कोई बौद्धिक अथवा भावात्मक ग्रन्थि किसी चित्र-कल्पनासे उत्पन्न होजाय'—एडगर ऐलेन पो। चित्र-कल्पनावादियों के अनुसार लम्बी कविता व्यर्थ है क्योंकि उसमें अन्ततक उत्तेजनाका उद्रेक करनेकी क्षमता नहीं होसकती, कहीं-कहीं ही ज्योतिकणोंके समान एक-आध चित्र-कल्पनाएँ विद्युत्प्रकाश-सा करती हुई मिलसकती हैं और उन्हींके कारण कविताको कविता कहाजाना चाहिए। जिस प्रकार दृष्टिके सामनेसे कोई पक्षी उड़ताहुआ निकलजाय, आँखें उसका पीछा न करें और देखनेवालेके मनमें उसकी एक झलक उसकी चित्र-कल्पना बना जाय और उसके हृदयमें एक उत्तेजना उत्पन्न होजाय, उसी प्रकार कविता में भी ऐसी ही संक्षिप्त चित्र-कल्पनाएँ होनी चाहिए। कहनेका तात्पर्य यह है कि उसके अन्दर कोई विचार-वस्तु या भावकी सङ्गति या तारतम्य होना अनावश्यक है; केवल एक अथवा दो शब्दोंसे भी काम चल सकता है। इससे ही मिलाजुला प्रतीकवादका सिद्धान्त है। चित्र-कल्पनावाद अधिक दिनोंतक नहीं चलसका और आज उसका प्रभाव नष्ट होचुका है। चित्र-कल्पनावादियोंकी कविताकी व्याख्या अत्यन्त विकृत थी। यह स्पष्ट है। कवितामें चित्र-कल्पना ही केवल आवश्यक वस्तु नहीं

है। छिटफुट चित्र-कल्पनाएँ मनुष्यके भाव-जगत्की चेतनापर अपनी पकड़ स्थापित नहीं करसकतीं। क्रोचेका अभिव्यञ्जनावाद, जो कविताके रूप-विधानमें ही उसके सौन्दर्यकी अवस्थिति मानता है, 'कला कलाकेलिए' के सिद्धान्तका ही रूपान्तर है। अर्थात् कविताकी टेकनीकमें उसके व्यञ्जना-वैचित्र्य और शब्द-चातुर्यके सहारे अभूतपूर्व उन्नति कीजाय, लेकिन उसके रागात्मक तत्त्व और विचार-वस्तुको कोई महत्त्व न दियाजाय। प्रतीकवादी अपने सामाजिक दृष्टिकोणमें एक क़दम औरभी आगे बढ़ते हैं। उनकी व्याख्याके अनुसार कवितामें संकेतों और प्रतीकोंका ही प्रयोग होना चाहिए। यह संकेत या प्रतीक भौतिक जगत्की वस्तुओंके स्थानपर प्रयुक्त होते हैं। मलारमेने अपनी ही कविताके विषयमें व्याख्या करतेहुए कहा—'मेरा उद्देश्य बिना नामोल्लेख किये केवल सांकेतिक शब्दोंसे, कभी स्पष्ट शब्दोंमें नहीं, जानबूझकर छायाके अन्दरसे किसी वस्तु (object) की अभिव्यक्ति करना है।' समाजसे पलायन करनेवाली कविता द्वारा प्रतीकवाद को ग्रहण करना, स्वाभाविक ही था। कविता प्रतीकवादी दो ही दशाओं में होसकती है। एक तो यह कि वह वैयक्तिक रूपसे अर्थपूर्ण न हो, क्योंकि प्रतीक अभिधान और शब्दोंसे कोई सरोकार नहीं रखते, बल्कि वे जिन वस्तुओंके संकेत-चिह्न होते हैं उन्हींसे उनका सांकेतिक सम्बन्ध रहता है, उन्हींको वे इंगित करते हैं। जहाँतक बाह्य वास्तविकताका सम्बन्ध है उनके प्रतीक यदि कवितामें प्रयुक्त होते हैं तो इसका अर्थ है कि कवि बाह्य वास्तविकताको सीधे रूपमें व्यक्त करनेवाले शब्दोंसे घबराता है, क्योंकि उन शब्दोंमें सामाजिकताका तत्त्व विद्यमान है। इसलिए वह अपने चरम व्यक्तिवादके कारण आवश्यकता पड़नेपर बाह्य वास्तविकताको संकेतों द्वारा व्यक्त करता है, सम्भव है कि पाठक इन संकेतोंको समझे या न समझे। इसके अतिरिक्त आन्तरिक वास्तविकता अथवा अन्तर्वृत्ति-निरूपक दृष्टि-कोणसे ही उसका सम्बन्ध रहता है तो इसका अर्थ यह है कि उसके संकेत-शब्द बाह्य वास्तविकताका एकदम परित्याग करना चाहते हैं और ऐसी अवस्थामें वह कविता केवल संगीत बनकर रहजाती है, अर्थहीन ध्वनि-मात्र, ऐसी ध्वनि जिसमें रागात्मक तत्त्व ही अवशेष रहता है। प्रतीकवादी संगीतपर ज़ोर भी देते हैं। एडगर ऐलेन पोका कहना है कि कवितामें संगीत-तत्त्व अनिवार्य रूपसे विद्यमान रहना चाहिए। इससे कदाचित्

किसीको आपत्ति न होगी। लेकिन संगीतसे उसका अर्थ केवल लय और स्वरोंके आरोह-अवरोहसे नहीं है जैसाकि लोगोंकी धारणा होसकती है, बल्कि उस अनिश्चिततासे है जो कि व्यञ्जनाके माध्यमके रूपमें प्रयुक्त विशुद्ध ध्वनि में अन्तर्निहित रहती है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रतीकवाद आधुनिक कविता की सामाजिक सम्बन्धोंसे पलायन वृत्तिका ही प्रतीक है। उदाहरणकेलिए, टी० एस० इलियटको लिया जासकता है। उनकी कविताका निर्वैयक्तिकता का सिद्धान्त प्रतीकवादकी उस दयनीय अवस्थाका द्योतक है, जिसमें कवि अपनी कविताके प्रति किसी सम्बन्धकी अवधारणा नहीं करता। उसके अनुसार 'Poetry is not a turning loose of emotion, but an escape from emotion. It is not the expression of personality, but an escape from personality.' व्यक्तित्व, स्व,मैं, ये सब बातें जिनको प्रारम्भिक कालमें आधुनिक कवि इतना महत्त्व देते थे और कवि अपनेको साहित्य-स्रष्टा, नियामक आदि मानते थे वे अब अपने अस्त्र डालकर निर्वैयक्तिकताकी ओर प्रवृत्त होगये हैं। टी० एस० इलियटकी प्रसिद्ध कविता 'दी वेस्टलैण्डमें' एक पात्र आता है 'टायर्सिया' जिसके विषयमें स्वयं इलियटका कहना है कि वह जो कुछ देखता है वास्तवमें वही कविताका सार है। यह टायर्सिया अर्धनारीश्वरका प्रतिरूप है, उसका परिचय है—

I, Tiresias, though blind thro being between two lives,

Old man with wrinkled female breasts.........

इस समूची कविताके विभिन्न अङ्गोंमें जो पारस्परिक सम्बन्ध है और इस सम्बन्धका द्रष्टा जो कवि है 'टायर्सिया' उसीकी अभिव्यक्तिका एक प्रतीक है। प्रश्न उठता है कि क्या समाजके दैनिक जीवनमें ऐसे व्यक्ति मिलते हैं जो एक साथही पुरुष भी हों और स्त्री भी? अर्थात् जिनके पुरुष अङ्ग भी हों और स्त्रीके उरोज भी? ऐसे व्यक्तिकी सामाजिक पहचान क्या कहीं है? इससे केवल यह सिद्ध होता है कि कवि सामाजिक विषमताओंके कारण अपने सामाजिक कार्य्योंसे पलायन कर स्वयं अपने ही अस्तित्वकी चेतना खो बैठा है। आजके समाजमें वह क्या करे, क्या न करे, इसके विषयमें वह अनिश्चयात्मक दशामें है और पुरानी समाज-व्यवस्था तथा नयी समाज-

व्यवस्था, अर्थात् दो प्रकारके जीवनोंके खिंचावसे किंकर्तव्यविमूढ़ हो वह एक अन्धेकी तरह गुमराह होगया है और स्त्रीमें पुरुष और पुरुषमें स्त्रीकी कल्पना करनेलगा है। यह एक ऐसी कल्पना है जो इस बातको व्यक्त करती है कि वह पूँजीवादी व्यक्तिवादसे, जिसने उसके अहंकारको पग-पगपर चोट पहुँचायी है, उसे उपेक्षित और दयनीय बनाया है, छुटकारा तो पाना चाहता है लेकिन पुराने समाजकी सीमाओंसे, जिन्होंने उस व्यक्तिवादको जन्म दिया था, बाहर नहीं निकलना चाहता। इसके कारण उसे नित्य संघर्ष करना पड़ता है और समझौता भी। टी० एस० इलियट 'ओविड' (Ovid) की पौराणिक कथाका दृष्टान्त देकर इस अनिश्चितकी भावनाओंको ही एक प्रकार से स्वाभाविक, अपेक्षित और आनन्ददायिनी सिद्ध करना चाहता है क्योंकि इससे एक तो वह दो समाज-व्यवस्थाओंके विषयमें सचेत होकर अपना दृढ़ निश्चय प्रकट करनेसे मुक्त होजाता है, और दूसरे इस समाजने यदि अकर्मण्यता और अनिश्चितता उत्पन्न की है तो उसे ही क्यों न एक अनिवार्य्य सामाजिक क्रिया मानकर स्वीकार करलिया जाय, इसका समर्थन करता है। इलियटके दृष्टिकोणमें एक और असङ्गति स्पष्ट है कि यद्यपि वह व्यक्तिवाद और व्यक्तित्वसे जान छुड़ाना चाहता है तोभी 'टायर्सिया' नामका 'व्यक्ति' जो देखता है वही उसकी कविताका सार है, अर्थात् व्यक्तिवादको उगलकर वह उसे पुनः निगलता है। टी० एस० इलियटतक आधुनिक कविता उस मंज़िलपर पहुँचजाती है जबकि कविकी सामाजिक सम्बन्धोंकी चेतना भी लुप्त होनेलगती है। वह सबसे बड़ा व्यक्तिवादी होकर भी व्यक्तिवाद को अनावश्यक समझने लगता है और इस निर्वैयक्तिकताकी दूसरी मंज़िल है 'अतिवस्तुवाद' (Surrealism)। अतिवस्तुवादकी मंज़िलपर पहुँचकर कवितामें शब्द-प्रयोगोंका अर्थ केवल उनके व्यक्तिगत अचेतन महत्त्वके कारण होता है। अतिवस्तुवाद मनुष्यके अचेतन मनको सबसे अधिक महत्त्व देता है। फ्रॉयडके मनोविश्लेषण-शास्त्रसे और विशेषकर युङ्गके स्वप्न-मनोविज्ञानसे यह प्रवृत्ति प्रभावित है। युङ्गके अन्वेषणोंके अनुसार स्वप्न अविच्छिन्न रूपसे प्रवहमान अथवा 'स्वच्छन्द सम्बन्ध' (free association) का परिवर्द्धित रूप है। अर्थात् मस्तिष्कके अन्दर वास्तविकताके प्रति बिना कोई सचेत ध्यान रक्खे स्वच्छन्द रूपसे एक image का दूसरे image से 'स्वच्छन्द सम्बन्ध' होता है। अतिवस्तुवाद इस पूँजी-

वादी भ्रमकी अन्तिम परिणति है कि आवश्यकताकी अज्ञानता ही स्वतन्त्रता है, और इसीलिए 'स्वच्छन्द सम्बन्ध' पर अपनी शैली निर्धारितकर वह स्वतः एक कलात्मक अभिव्यक्ति प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है। उसके पहले प्रतीकवादमें ही अतिवस्तुवादके पूर्व-चिह्न प्रकट होगये थे। प्रतीकवादके दार्शनिक रेमी द गोरमाँने कहा था कि प्रतीकवाद स्वच्छन्दताका सिद्धान्त है। उसका आशय है विचार और रूप-विधानसे पूर्ण स्वतन्त्रता पाना। उसके द्वारा सौन्दर्य्यगत व्यक्तित्वका स्वच्छन्द और व्यक्तिगत विकास अभीष्ट है। और प्रतीकवादके सबसे बड़े कवि रेम्बॉने यह स्वीकार किया था कि 'मैं मस्तिष्ककी अव्यवस्थाओंको ही पवित्र मानने लगगया हूँ।' अतिवस्तुवादमें कविता स्वप्न बनजाती है। कविताके आधुनिक व्याख्याकार यह मानते हैं कि कविताका उद्देश्य भावों और विचारोंका 'साधारणीकरण' करना है। किन्तु प्रतीकवाद और अतिवस्तुवाद, जो संकेतों द्वारा अपनी अभिव्यक्तिको अधिक पूर्ण बनानेकी आशा करते हैं 'स्वच्छन्द सम्बन्ध' के कारण अपने इस उद्देश्यको ही नष्ट करलेते हैं, अर्थात् उनकी विच्छिन्न चित्र-कल्पनाएँ कवि द्वारा अभीष्ट चित्र कल्पनाके स्थानपर पाठकके हृदयमें सर्वथा भिन्न अथवा अनेक चित्र-कल्पनाओंकी अनुभूति करा सकती हैं, और लीविसने ठीक लिखा है कि उससे पाठक 'विमूढ़ता और अरुचिका अनुभव करेगा, मानों वह किसी ऐसे व्यक्तिकी बात सुनरहा है जो अपनी सुप्तावस्था में बोलरहा हो।' चित्र-कल्पनाओं द्वारा अनुभूतिका उद्रेक कहाँतक सम्भव है यह टी० एस० इलियटकी 'वेस्टलैण्ड' से स्पष्ट है। हरबर्ट रीडके अनुसार मस्तिष्कके अन्दर जो उपकरण अपनी असंस्कृत अवस्थामें हैं उन्हें ही व्यक्त करना कविताका कार्य्य है। अतिवस्तुवाद अभिव्यक्तिके समस्त प्राचीन रूप-विधानोंको अस्वीकृत करता है, लेकिन भाषा वही प्रयोगमें लाता है जो प्राचीन कालसे व्यवहृत होतीआयी है। अतिवस्तुवादके अनुसार मनकी अवचेतनावस्थामें प्रवेशकर उसके असम्बद्ध विकारों और रुद्ध समवेदनोंकी ज्यों-की-त्यों अभिव्यक्ति करना श्लाघ्य है। हरबर्ट रीडका कहना है कि इस प्रकार अतिवस्तुवाद एक अति-वास्तविकतासे समन्वय स्थापित करता है, इसलिए यह दृष्टिकोण क्रान्तिकारी भी है और भौतिकवादी भी। और इस प्रकार हरबर्ट रीड पूँजीवादी भ्रमको उसकी अन्तिम सीमातक खींच लेजाता है। अर्थात् अराजकवादी बनजाता है।

प्राबल्य होउठता है और उसके फलस्वरूप उसमें निराशा, पलायन और आत्मसमर्पणके भाव मुखरित होउठते हैं, जिस प्रकार सामाजिक जीवनसे कविताका क्षेत्र विलग होकर व्यक्तिके एकान्तिक जीवन अथवा उसके मनोराज्यमें ही सीमित होगया और कवि अपनी सूक्ष्म अनुभूतियोंसे उसे अव्यक्त और अमूर्त्त भावनाओंकी अभिव्यक्ति बनातागया और उसकी टेकनीकमें अनवरत उन्नति करतागया, और इसके विपरीत किस प्रकार श्रमिक वर्गकी चेतना प्राप्तकर कुछ कवि प्रगतिवादकी ओर बढ़रहे हैं और कविताके सौन्दर्यगत दृष्टिकोणमें आमूल परिवर्तनकर उसको पुनः सामाजिक जीवनके संवेदनोंकी अभिव्यक्ति बनारहे हैं, इसका अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। *

'पल्लव' के पन्त और 'यामा' की महादेवी या 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकान्त-सङ्गीत' के बच्चन और 'पल्लव' के पन्त और 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' के पन्तमें जो भेद है वह हिन्दी कविताके इस दोमुखी विकास का इतिहास है। एक धारा पलायन वृत्ति, चरम व्यक्तिवादकी द्योतक है तो दूसरी उसके सामाजिक दृष्टिकोणके विकासकी। इसी प्रकार हिन्दीकी आधुनिक काव्य-व्याख्याओंमें भी एक विकास-क्रम मिलता है। और यह दो धाराएँ आज साथ-साथ बहरही हैं। आचार्य्य रामचन्द्र शुक्लने भारतीय और योरपीय काव्य-सिद्धान्तोंका जो समन्वित रूप उपस्थित किया था, आजके व्याख्याकार उसे स्वीकार नहीं करते। 'दिनकर' की 'रसवन्ती' की भूमिकामें टी० एस० इलियटका 'अर्द्धनारीश्वर' का सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है। 'अज्ञेय' अपने निबन्ध 'परिस्थिति और साहित्यकार' में डी० एच० लॉरेन्सके व्यक्तिवादका समर्थन करते हैं, यद्यपि अपने दूसरे निबन्ध 'रूढ़ि और मौलिकता' में टी० एस० इलियटके निर्वैयक्तिकताके सिद्धान्त को स्वीकारकर अपनी पिछली स्थापनासे पीछे भी हटते हैं और अतिवस्तुवाद और हरबर्ट रीडके इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं कि 'रूढ़िकी रूढ़िग्रस्त परिभाषा हमें छोड़नी होगी, हमें उदार दृष्टिकोणसे उसका नया और विशाल अर्थ लेना होगा।' यह दोनों कवि प्रगतिवादी कहेजाते हैं।

---

* इसका विस्तृत अध्ययन इसी संग्रहमें 'छायावादी कवितामें असन्तोषकी भावना' तथा 'श्री सुमित्रानन्दन पन्त' निबन्धोंमें मिलेगा—लेखक।

लेकिन उनकी व्याख्याओंमें पूँजीवादी विचार-धाराकी वही असङ्गतियाँ ऊपर उभरकर सामने आती हैं जिनका उल्लेख हम प्रतीकवाद और अतिवस्तुवादका विवेचन करते समय करचुके हैं। इसीलिए उनकी व्याख्याओंके मूलमें वही पूँजीवादी भ्रम अन्तर्निहित है जिसके अनुसार आवश्यकताकी अज्ञानता ही स्वतन्त्रता है। इसके विपरीत प्रगतिवादकी धाराके साथ जो काव्य-समीक्षाकी प्रणाली चली उसने कविताकी नये ढङ्ग से व्याख्या करनेका प्रयत्न किया। प्रगतिवादकी व्याख्याएँ अभी स्पष्ट स्थापनाएँ नहीं करपायी हैं, लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि उसने जो दिशा पकड़ी है वह सही है।

ऊपरके विवरणसे हमारे सामने दो-तीन बातें स्पष्ट होगयी हैं। पहली तो यह कि आधुनिक कविता चाहे वह योरोपीय हो या भारतीय, अङ्गरेज़ीकी हो या हिन्दीकी, एक संक्रान्ति-कालीन कविता है। और इस कारण उसकी व्याख्याओंमें इस संक्रान्ति-युगकी सामूहिक चेतना और सामूहिक मनोवृत्तिकी गहरी छाप है। दूसरे यह कि यह व्याख्याएँ कविता को जहाँतक सम्भव है सामूहिक भाव-जगत्की अभिव्यक्ति न मानकर उसे व्यक्तिकी भावनाओंकी अभिव्यक्ति मानती हैं। और अन्तमें प्रतीकवाद और अतिवस्तुवादके कालमें वे व्यक्तिवादी होकर भी 'व्यक्तिवाद', 'अहं', 'मैं', आदिको अस्वीकृत करती हैं। स्पष्ट है कि कविताकी आधुनिक व्याख्याएँ आधुनिक कविताके सत्यका ही निरूपण करती हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार आधुनिक कविता आधुनिक समाज (पूँजीवादी समाज) के सामूहिक जीवनकी विश्रृङ्खलित बौद्धिक और भावात्मक चेतनाकी ही अभिव्यक्ति करती है। अतिवस्तुवाद तककी कविता चाहे असन्तोष और निराशाकी कविता क्यों न हो, लेकिन उसे अपना असन्तोष पूँजीवादी समाजके ढाँचे को स्थायी और अनिवार्य स्वीकार करके ही प्रकट किया है, जिसके कारण वास्तविकताके प्रति उसने जो दृष्टिकोण विकसित किया है वह विरोधाभास और असङ्गतियोंसे भराहुआ है और अत्यन्त विश्रृङ्खलित एवं प्रतिक्रियावादी है। इसीके अनुरूप उसकी व्याख्याओंका दृष्टिकोण भी है। इस कारण यह दृष्टिकोण आधुनिक समाजका सत्य होकर भी समाजके सामूहिक विकास के समूचे प्रवाहको प्रगतिशील दृष्टिसे देखनेपर असत्य और प्रतिक्रियावादी ठहरता है। इसकी प्रतिक्रियासे, और सामाजिक परिस्थितियोंके

प्रभावसे उत्पन्न प्रगतिशील कविताके विकासके साथ-साथ यह स्पष्ट होता जाता है कि सारा प्रश्न दृष्टिकोणका है। अतः प्रश्न उठता है कि कविताकी सही आधुनिक व्याख्या क्या है? हम यहाँ संक्षेपमें उस प्रश्नका उत्तर देने का प्रयत्न करेंगे।

कविता क्या है, उसे हम परिभाषा देकर न समझ सकते हैं, न समझा सकते हैं। इसकेलिए हमें यह जानना आवश्यक है कि प्राथमिक युग (primitive age) से लेकर अबतक कविताका मनुष्यके सामाजिक जीवन से क्या द्वन्द्वात्मक (dialectical) सम्बन्ध रहा है, और उस सम्बन्धमें उत्पन्न वे कौनसे गुण हैं जो कविताके सत्य और उसके सौन्दर्यकी सृष्टि करते हैं जिससे उसकी रसोद्रेक करनेकी शक्ति चिरकालिक है। क्योंकि यह जानकर ही हम कविताके विषयमें सच्ची स्थापनाएँ बना सकते हैं।

प्राथमिक युगमें जब कविताका जन्म हुआ था उस समय मनुष्य की संस्कृति : उसका शिल्प-विज्ञान, समाज-सङ्गठन और चेतना अपने प्रारम्भकालमें थी। समाज-जीवन अलग-अलग फिरक़ों (tribes) में सङ्गठित था, मनुष्य-मनुष्यका सम्बन्ध या तो प्राथमिक साम्यवाद (primitive communism) का था या वर्गोंका अभी जन्म ही होरहा था, और इससे समाज-जीवनमें कर्म-भेद और पद-भेद शुरू होरहा था। इस युगकी सबसे बड़ी आवश्यकताएँ थीं प्रकृतिके अन्ध प्रकोपोंसे आत्म-रक्षा करना और प्रकृतिके विधानसे सङ्घर्षकर खेती या फ़सल उगाना। मनुष्य ने प्रकृतिसे सङ्घर्षकर उसके कुछ अङ्गोंको तो विजितकर अपना सहचर बना लिया था, और उनके प्रति उसमें रागात्मक सहानुभूति उत्पन्न होगयी थी; कुछ अपने प्रकोपोंसे उसे, उसके किये-करायेको असह्य क्षति पहुँचाते थे, और उनसे वह कुछ चिढ़ता था, या भय खाता था। उसके जीवनका सब से महत्त्वपूर्ण कार्य उसका प्रकृतिसे सङ्घर्ष था। इस सङ्घर्षमें मनुष्य व्यक्तिगत रूपसे विजयी होनेकी कल्पना ही न करसकता था, इसकेलिए यह आवश्यक था कि वह सामूहिक जीवन व्यतीत करे और सामूहिक रूपसे ही सङ्घर्ष करे। किन्तु इस सामूहिक सङ्घर्षका सङ्गठन कैसे हो? निश्चय ही वाणी द्वारा या भाषाद्वारा। लेकिन उस युगमें लय-विहीन (गद्य) भाषा व्यक्तिगत आग्रह-आदेशकी ही भाषा होसकती थी, सामूहिक भावोंको जाग्रत करनेकी नहीं, किन्तु लय-युक्त (गद्य) भाषा, जो 'प्रभाव युक्त भाषा heightened

language होनेके कारण, और सङ्गीतके संयोगसे सामूहिक रूपसे गेय होने के कारण सामूहिक रूपसे मनुष्यके भावोंको जाग्रत करसकती थी, उन्हें कर्म करनेकेलिए प्रेरित करसकती थी, उनके श्रमको मधुर बना सकती थी। इस लिए उस युगमें पद्यबद्ध भाषाका ही प्रयोग हुआ। यहींपर कविताका जन्म हुआ। क्योंकि इस पद्यबद्ध भाषामें यद्यपि अविभाजित undifferentiated जीवनकी वैविध्यविहीनता होनेके कारण, तथा उस समय तक ज्ञान की विभिन्न शाखाएँ न फूट पानेके कारण कविता सामूहिक ज्ञानका एक-मात्र माध्यम थी, उसीमें सारा ज्ञान सञ्चित था, तथापि उसमें प्रकृतिके प्रकोपों, और उससे सङ्घर्ष, फ़सल और प्रकृतिके निश्चित सहचरोंके प्रति मनुष्यके रागात्मक सम्बन्धकी अभिव्यक्ति होनेलगी थी, अर्थात् कविताका जन्म हो गया था। और जिस प्रकार विकासमान समाजने वातावरणके साथ सङ्घर्ष करनेमें पृथ्वीपर अपने अस्तित्वके साथ non-biological और 'मानवीय' तादात्म्य (adaptation) अथवा अनुकूलता स्थापित करनेकेलिए, कॉडवेलके शब्दोंमें, फ़सल उगानेकी टेकनीकको जन्म दिया उसी प्रकार उस फ़सलके प्रति उस फ़िरक़े (tribe) के सम्बन्धको व्यक्त करनेकेलिए भावात्मक, सामाजिक एवं सामूहिक मनोदशा (collective complex) की अभिव्यक्ति करनेवाली कविताको भी जन्म दिया। इस कवितामें सत्य का एक जाल बुनारहता था, किस भाव या अनुरागसे, किस साहचर्य्यकी भावनासे, किस परिश्रमसे, किस लम्बी प्रतीक्षासे और अन्तमें किस आनन्द और उल्लाससे वह फ़सल तैयार कीजाती थी; और कविता सामूहिक भ्रम उत्पन्न कर इस कार्यमें लगे श्रमको मधुर बनाती थी, उसके बीचमें पड़नेवाले सभी विघ्नोंकी भयङ्करता दिखाकर मनुष्यको सामूहिक रूपसे उनका सामना करनेकेलिए पहलेसे तत्पर करदेती थी, इसकी व्यञ्जना उस काल की कवितामें सुरक्षित है। जिस प्रकार मनुष्यका फ़सलसे सम्बन्ध अन्तर्वृत्ति-प्रेरित न होकर आर्थिक और सचेत था, उसी प्रकार कविताका सत्य अप्रत्यक्ष, अमूर्त्त भावनाएँ अथवा उसकी तथ्य-प्रियता नहीं, वरन् समाजमें उसकी गत्यात्मक भूमिका, अर्थात् उसमें अभिव्यक्त सामूहिक भाव ही कविताका सत्य था और जिस प्रकार प्रकृति और वातावरणसे संघर्ष करनेकेलिए सामाजिक जीवन अनिवार्य था उसी प्रकार इस संघर्षमें प्रवृत्त करनेकेलिए सामूहिक भावोंको सङ्गठित कर उन्हें आग्रही, सचेत और जाग्रत बनाना

भी आवश्यक था। इस प्रकार सामाजिक जीवनके समान ही कविता भी मनुष्यकी स्वतन्त्रताका अस्त्र थी। मनुष्यका प्रकृति और वातावरणसे संघर्ष इसीलिए तो था और है कि उसे वशीकृत कर वह उसे अपने अनुकूल बनाये और वह अपने व्यक्तित्व, सामाजिक जीवन-द्वारा वैविध्य और प्रकृत गुणोंका विकास कर अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्राप्त करताजाय।

इसके पश्चात् वर्ग-समाजका विकास हुआ। सामाजिक जीवनमें कार्य-विभाजन हुआ, और कविता जो पहले सामूहिक-जीवनके समस्त ज्ञानकी कोष थी, अब स्वतन्त्र रूपसे एक 'कार्य' के रूपमें विकसित होने लगी, जिस प्रकार दर्शन, धर्म, नाटक, संगीत आदि। जिन वर्गों के हाथ में सत्ता थी, उनपर ही प्रकृति और वातावरणसे संघर्ष करनेकेलिए सामाजिक जीवनका सङ्गठन करनेका दायित्व पड़ा और कविता जो स्वतन्त्रता का अस्त्र थी इस वर्गकी चेतनाके भुवपर आसीन होगयी, उसीकी भावनाओंको अभिव्यक्त करनेलगी, क्योंकि इस वर्गकी भावनाएँ उसकी सत्ता क़ायम रखनेके भ्रमोंकी सृष्टि करनेके साथ-साथ समस्त समाजकी सामूहिक विकासकी भावनाकी भी अभिव्यक्ति करती थीं। लेकिन पूँजीवादके काल में आकर पूँजीवादी संस्कृति एक अ-सामाजिक दृष्टिकोणका विकास करती है—उत्पादनपर व्यक्तिका एकाधिकार होनेके कारण और विशेषकर एक ऐसे वर्गके उत्पन्न होजानेके कारण जो शोषणका अन्त कर एक वर्गहीन समाज स्थापित करनेकी क्षमता रखता है। इसलिए पूँजीवादी विचारधारामें व्यक्तिवादका प्राधान्य होता है, और पूँजीवादी संस्कृति इस भ्रम की सृष्टि करती है कि मनुष्यकी अन्तर्वृत्तियों (instincts) की शक्ति 'व्यक्तिवाद' द्वारा ही विकसित कीजासकती है, और सामाजिक जीवन की आवश्यकताओंकी अवमानना ही स्वतन्त्रता है। और इसके फलस्वरूप हम जानते हैं कि रूसोसे लेकर फ्रॉयड और अतिवस्तुवादियोंने समाज और उससे उत्पन्न चेतनाको महत्वहीन ठहराकर प्राथमिक युगके प्राकृतिक मनुष्य और अचेतन-अवचेतन मनको कितना महत्व दिया है और कविता के उन्हीं तत्त्वोंको, जिनके कारण वह अपने प्रारम्भ कालमें मनुष्यकी स्वतन्त्रता प्राप्त करनेका अस्त्र थी, सामाजिक मनुष्यके जीवनके मूल सार [illegible] थी, [illegible] पदार्थकी और सामूहिक भावोंका उद्रेक [illegible] सामाजिक थी, निष्कृत कर वे उसे निर्जीव और

निष्प्राण बनाना चाहते हैं, क्योंकि यदि कवितामें आज भी वे तत्त्व वर्तमान रहते हैं तो इसका अर्थ है कि वह आजके सामूहिक मानव (जनता, श्रमिक वर्ग) की भावनाओंकी अभिव्यञ्जना करेगी, अर्थात् पूँजीवाद (प्रकृति) और उसकी संस्कृति (विचार जगत्) के विरुद्ध विद्रोह करेगी। और आजकी प्रगतिशील कविता उसके इसी स्वाभाविक विद्रोहको व्यक्त करती है। अर्थात् यदि वह एक वर्गहीन समाजके निर्माणकेलिए सामूहिक भावना (भ्रम) की सृष्टि करती है तो यह भावना या भ्रम यूटोपिया बनानेवालोंकी तरह वर्गहीन समाजकी यूटोपिया नहीं होती; न होनी ही आवश्यक है, वरन कॉडवेलके अनुसार वह इस भावनात्मक ग्रन्थि (कॉम्प्लेक्स) की अभिव्यक्ति करती है कि मनुष्यको एक-दूसरेके साथ और वर्गहीन समाजके साथ एक ऐसे सम्बन्धमें रहना होना चाहिए, उनकी अन्तर्वृत्तियोंका सङ्गठन इस ढङ्गसे होना चाहिए कि उसका सम्बन्ध बाह्य वातावरण (पूँजीवाद) और दूसरे मनुष्योंके साथ ऐसा हो कि एक वर्गहीन समाजकी स्थापना सम्भव होजाय अर्थात् वह वर्तमान वास्तविकता के प्रति, उसे बदलनेकेलिए, एक नये दृष्टिकोणसे मनुष्यके भाव-जगत्का सङ्गठन करनेका प्रयत्न करती है, और कविताके जिन गुणों अथवा मूल तत्त्वोंका पूँजीवादमें तिरस्कार हुआ था उन्हें पुनः स्थापितकर उसे मनुष्य की स्वतन्त्रता प्राप्त करनेका अस्त्र बनाना चाहती है।

कविताकी मूल प्रवृत्तिके इस संक्षिप्त विकाससे कुछ बातें स्पष्ट हो जाती हैं, जिन्हें हम कविताकी विशेषताएँ कह सकते हैं। पहली बात तो यह कि कविता 'शब्दों' से रची जाती है। 'शब्दों' के दो पक्ष होते हैं: एक तो वे प्रत्यक्ष जगत् (perceptual world) के किसी अङ्गका संकेत करते हैं, दूसरे वे वास्तविकताके उस अङ्गके प्रति मनुष्यके अन्तर्जगत्के रागात्मक सम्बन्ध या दृष्टिकोणका द्योतन करते हैं। और चूँकि शब्दोंका प्रयोग 'व्यक्ति' द्वारा ही होता है, इसलिए वास्तविकताके द्रष्टाके रागात्मक सम्बन्धकी भी वे अभिव्यक्ति करते हैं, जिससे 'प्रत्यक्ष जगत्' में वह वर्ण, गन्ध, ताप, भाव, स्पर्श आदिका अनुभव करता है, और यह एक सामूहिक अनुभव होता है।

दूसरे, कविता 'प्रभावयुक्त भाषा' heightened language है, अर्थात् वह लययुक्त होती है। कविता लययुक्त इसलिए होती है कि वह

मनुष्यकी अन्तर्वृत्तियों और भावोंमें और उन सामाजिक सम्बन्धोंमें जिसके द्वारा सामूहिक रूपसे भाव अपनी पूर्णता प्राप्त करते हैं सूक्ष्मरूपसे एक निश्चित सन्तुलनकी अभिव्यक्ति करती है। इसीलिए समाजके प्रति मनुष्य जब अपनी भावनाओं और अन्तर्वृत्तियोंका नये सिरेसे मूल्य आँकता है तो छन्द और लयकी परम्पराओंके प्रति उसका दृष्टिकोण भी बदलजाता है। आज मुक्तछन्दपर इतना ज़ोर दिया जाता है तो इसीलिए कि पूँजीवादी समाजकी अन्तर्वृत्तियाँ समाजके साथ एक अराजकवादी तादात्म्य स्थापित करना चाहती हैं। इसीलिए मुक्तछन्द आजकी संस्कृतिकी अराजकवादी एवं व्यक्तिवादी प्रवृत्तिका द्योतन करता है। और कविताके सामूहिक गेयताके तत्त्वका तिरस्कार करता है, जिसके कारण कविता शक्ति प्राप्त करती है। किन्तु प्रगतिशील अथवा क्रान्तिकारी कविता लयका तिरस्कार नहीं करसकती, क्योंकि वह उसे कविताका आवश्यक गुण मानती है।

तीसरे, कविता, चूँकि उसका सङ्गठन 'काल' (time) में नहीं वरन् 'देश' (space) में होता है, अर्थात् कवितामें व्यक्त भाव ऐतिहासिक विकास-क्रमके अनुसार नियोजित नहीं होते हैं, जिस प्रकार उपन्यासकी कथाका घटना-चक्र, बल्कि उनके 'प्रभाव' प्राचीन और अर्वाचीन भाव-धाराओंसे ग्रहण कियेजाते हैं, इसलिए उसमें 'व्यक्त' बाह्य वास्तविकता में तारतम्य या साम्य होना आवश्यक नहीं होता, किन्तु उसमें आन्तरिक वास्तविकता अर्थात् उसके भाव और अन्तर्वृत्ति-निरूपक मनःस्थितियोंमें तारतम्य और साम्य होता है। इससे एक और बात सिद्ध होती है कि कविता प्रतीकवादी नहीं होसकती, क्योंकि प्रतीक शब्दोंसे सम्बन्ध नहीं रखते, वरन उन वस्तुओंसे सम्बन्ध रखते हैं जिनके वे संकेत-चिन्ह होते हैं, और उनमें व्यक्तिगत राग-तत्त्वका सम्मिश्रण नहीं रहता। प्रतीकवादी होकर कविता केवल ध्वनि-मात्र या सङ्गीत-मात्र रहजाती है। लेकिन यद्यपि कवितामें बाह्य प्रतीकत्व नहीं होता, उसमें आन्तरिक अथवा भावात्मक प्रतीकत्व अवश्य होता है, अर्थात् वह भावात्मक सम्बन्धोंका संकेत करता है। किन्तु जैसा हम ऊपर देखचुके हैं प्रत्येक शब्दके दो पक्ष होते हैं, इसलिए कवितामें भावात्मक पक्ष होता है तो वे भाव बाह्य वास्तविकता के किसी अङ्गका भी द्योतन करते हैं। उसमें दोनों पक्षोंका समावेश रहता

है। कविताके प्रतीकवादी न होनेसे एक बात और सिद्ध होती है कि कविताका अनुवाद नहीं होसकता, अर्थात् अनुवाद करनेसे चाहे उसके अर्थ समझा दिये जासकें लेकिन उसके अन्दर प्रयुक्त शब्दोंके तारतम्य, उसकी लय आदिमें जो ध्वनि, जो भावात्मक आभा रहती है, उसका अनुवाद नहीं किया जासकता।

इसके अतिरिक्त कविताका क्षेत्र मनुष्यका भाव-जगत् है। मनुष्य के चेतन-जगत्में वास्तविक वस्तुएँ हैं, और उनके प्रति आन्तरिक या भावात्मक सम्बन्धको प्रकट करनेवाले दृष्टिकोण। विज्ञानका कार्य बाह्य वास्तविकताका सङ्गठन करना है। कविता इन आन्तरिक दृष्टिकोणोंको साधारणीकरण-द्वारा व्यवस्थित कर मनुष्यके सामाजिक 'अहं'को स्फुरित करती है। यह 'अहं' अकेला एक ऐसा प्रतीक है जो समस्त आन्तरिक वास्तविकताको अपनी पकड़में लेआता है। इस 'अहं' की दृष्टिसे वास्तविकता कभी ओझल नहीं होती, क्योंकि जिन भावोंका उद्रेक कर यह आन्तरिक वास्तविकताका सङ्गठन-परिवर्तन करता है वे बाह्य वास्तविकता के अङ्गोंसे सम्बद्ध रहते हैं। इसीलिए कविता मूर्त्त होती है।

अन्तमें, कवितामें सौन्दर्य और सत्य अवस्थित होता है, अर्थात् उसकेलिए इतना ही काफ़ी नहीं है कि वह भावात्मक हो। यदि उसके अन्दर व्यक्त भाव या अनुभूतिका आधार ऐसा वैयक्तिक अनुभव है जो सामाजिक रूपसे अनुभूत नहीं किया जासकता तो वह सौन्दर्यकी सृष्टि नहीं करसकता। क्योंकि सौन्दर्य-भावनाका उद्रेक चेष्टाशील मनुष्यके पारस्परिक सम्बन्धोंमें निहित रागात्मक सम्बन्धपर निर्भर करता है। अतः यदि व्यक्तिका अनुभूत भाव सामाजिक मनुष्यके अन्दर उसका उद्रेक नहीं करसकता तो वह सौन्दर्य या सत्यकी सृष्टि भी नहीं करसकता। इस प्रकार सौन्दर्य कोई अप्रत्यक्ष वस्तु नहीं है। कविता इसी सौन्दर्यकी सृष्टि कर बाह्य जगत्के प्रति आन्तरिक वास्तविकताके तादात्म्य, सम्बन्ध और दृष्टिकोणकी अभिव्यक्ति करती है। अतः उसके मूल्यांकनके माप भी इसी सौन्दर्यानुभूतिके नियमोंसे निरूपित होते हैं।

इस प्रकार कविता अपनी लयसे मनुष्यकी बाह्य-चेतनाको तीव्र कर उसे वातावरणके प्रत्यक्ष ज्ञानसे विमुख कर, स्वचेतन और अन्तर्मुखी बनाकर, हमारे ध्यानको वास्तविकताके बाह्य रूपोंके गह्वरमें उतारकर,

भावात्मक जगत्‌को प्रत्यक्ष करदेती है। कहनेका तात्पर्य यह है कि कविता अपने शब्द-प्रयोगों द्वारा बाह्य वास्तविकताको विकृत कर और उसके ढाँचे को अस्वीकृत कर सामाजिक 'स्व' या 'अहं' के ढाँचेको ऊपर उठाती है, उसे प्रमुखता प्रदान करती है। इस कार्यमें लय, छन्द, उपमा, अनुप्रास आदि उसके साधन बनते हैं। और इस प्रकार बाह्य वास्तविकताका जगत् दृष्टिसे ओझल होजाता है और अन्तर्वृत्तियोंका जगत्, शब्दोंके पीछे छिपे भावमय सूत्रोंको एकत्र कर, ऊपर उठआता है। सामाजिक जगत्‌से सामाजिक 'अहं' का जन्म होता है।

कविताकी रचना कवि-द्वारा होती है। कवि व्यक्ति है, द्रष्टा है। वास्तविकताके किसी अङ्गका प्रत्यक्षकर उसके मनमें एक नया अनुभव उत्पन्न होता है। वह उस नये भावकी कविताके रूपमें अभिव्यक्ति करता है, इसे आत्माभिव्यक्ति कहाजाता है। लेकिन वास्तवमें यह आत्माभि-व्यक्ति नहीं, बल्कि आत्म-समाजीकरण होता है, व्यक्तिगत अनुभवको समाजके अनुभवमें सम्मिलित करना। इस प्रकार द्वन्द्वात्मक भाषामें विगत अनुभवोंको negate कर जो नया अनुभव व्यक्तिने प्राप्त किया है, कविता-द्वारा समाजके अनुभवमें गृहीत होकर वह अपनी वैयक्तिकताको negate करदेता है।

प्रश्न उठसकता है कि जब कविताका रचयिता व्यक्ति होता है और वह अपने व्यक्तिगत अनुभवको कविताद्वारा समाजके अनुभवमें सम्मिलित करता है तो किसी कविताका केवल समसामयिक महत्त्व ही होसकता है, किन्तु बात इसके विपरीत भी क्यों है? कॉडवेलके अनुसार यह अनुभव दो प्रकारका होना चाहिए, अर्थात् पहले तो वह 'महत्त्वपूर्ण' हो, अर्थात् उसके भाव अपरिवर्तनशील अन्तर्वृत्तियों (instincts) को गहरे भावोद्रेकसे हिलासके। मनुष्यकी अन्तर्वृत्तियोंमें परिवर्तन नहीं होता, बल्कि संस्कृतिके परिवर्तनशील रूपोंके तादात्म्यके नीचे वे एक कङ्कालके रूपमें मौजूद रहती हैं और सामाजिक 'अहं' का सङ्गठन करतीरहती हैं। इस सामाजिक 'अहं' का निर्माण युगोंकी कलाने किया है। दूसरे यह अनुभव 'सामान्य' general होना चाहिए। अर्थात् उसमें कलाकारद्वारा अनुभूत कोई परस्पर-विरोधी अनुभवकी वस्तु न हो या वह एक-दो मनुष्योंके विशिष्ट अनुभवकी ही वस्तु न हो वरन् मौन अवचेतन रूपमें अधिकांश मनुष्यों द्वारा अनुभूत हो, क्योंकि

यदि ऐसा न हुआ तो वह अधिकांश मनुष्योंकेलिए अर्थशून्य कैसे होसकती है ?

पहली बातसे महान् कला या कविताको चिरन्तनताका गुण प्राप्त होजाता है, क्योंकि मनुष्यकी अनुभूतियाँ चिरन्तन हैं। दूसरी बातसे उसे समसामयिकताका महत्त्व प्राप्त होजाता है। यही कारण है कि यदि आजके कलाकार या कविकी कृति हमारेलिए महत्त्व रखती है तो होमर, शेक्सपियर, कालिदास या तुलसीदासकी कविता भी हमारेलिए अर्थहीन नहीं होसकती। अतः कवितामें व्यक्त भाव या अनुभव किस समाजकी उपज हैं अर्थात् किन सामाजिक परिस्थितियोंका मानस-प्रतिबिम्ब हैं, और समकालीन तथा परवर्ती समाजकी बदलती परिस्थितियोंको वह किस तरह प्रभावित करते हैं, इसका विवेचन कविताकी सामाजिक पृष्ठभूमि और उसके शाश्वत मूल्यका निरूपण करनेकेलिए आवश्यक होता है।

संक्षेपमें यह कविताकी प्रगतिवादी व्याख्या है, और पलायनवाद, भविष्यवाद और अतिवस्तुवादसे विमुख होकर अनेक प्रतिभाशाली कवि और आलोचक अब यह स्वीकार करने लगे हैं कि कविताको आधुनिक वास्तविकताके प्रति एक सचेत, प्रगतिशील दृष्टिकोण व्यक्त करना चाहिए, ऐसा करके ही वह एक वर्गहीन समाजके निर्माणकेलिए मनुष्योंके भाव-जगत्का सङ्गठन करसकती है और पुनः समस्त मानव जातिकी स्वतन्त्रता-प्राप्तिका अस्त्र बनसकती है।

रेखाचित्र

आधुनिक यन्त्र-युगने मनुष्य और समाजके जीवनमें आमूल परिवर्तन करदिये हैं। सामन्ती-कालकी वह सहज मन्थरता जीवनमें नहीं रही, उसमें द्रुतगति आगयी है। आज कलकत्ते, बम्बई, रामेश्वर या जगन्नाथ-पुरीकी यात्राकेलिए बैलगाड़ियोंपर चढ़कर जाना हास्यास्पद लगता है। आजकी विरहिणी अफ्रीका या योरॅपमें बैठे अपने प्रियतमकी 'प्रेमपाती' पानेकेलिए बरसोंतक मार्गपर आँखें बिछाये आँसू नहीं बहाया करती और न पश्चिम-दिशासे प्रत्येक आगन्तुकसे विह्वल होकर पूछती है कि वह उसके प्रियतमका सन्देश लाया है या नहीं। कबूतर या पवन जैसे द्रुतगामी किन्तु अविश्वस्त तथा अनिश्चित सन्देश-वाहकोंका स्थान तार और टेलिफ़ोनने लेलिया है जो उनकी अपेक्षा कहीं जल्दी सन्देश ला और पहुँचा देते हैं। वाणीने रेडियो और टेलिफ़ोन-द्वारा, पैरोंने हवाई जहाज़-द्वारा, दृष्टिने दूरवीक्षण यन्त्र द्वारा देश (space) पर विजय प्राप्त करली है; मशीन और विद्युत्ने काल (time) पर विजय प्राप्तकर उत्पादनमें सहस्र-गुणी वृद्धि करदी है। पाठक मनुष्यके इस सामाजिक कला और शिल्प-विज्ञान (Social technology) के विकाससे भली-भाँति परिचित हैं, क्योंकि जीवनमें पग-पगपर उसका उपयोग करनेकेलिए वे विवश हैं। अतः इस औद्योगीकरणका प्रभाव मनुष्यके पारस्परिक सम्बन्धोंपर पड़ना अनिवार्य था, जिसके फलस्वरूप हमारे सामाजिक जीवनके सामने नित्य नयी समस्याएँ उठीं और नयी परिस्थितियोंके अन्दर उनके नये हल पेश होते रहे, भावाभिव्यंजनके रूप-विधानों और सिद्धान्त तथा आदर्श-मूलक विचारोंमें भी परिवर्तन हुए। सामन्ती कालमें भी श्रम-विभाजनकी विविधता और सामाजिक-जीवनकी संश्लिष्टता इतनी बढ़चुकी थी कि प्रागैतिहासिक अथवा अत्यन्त प्राचीन कालकी तरह केवल काव्य ही विज्ञान, गणित, ज्योतिष, दर्शन, नीति और मनुष्यके सामाजिक अनुभव, सौन्दर्यानुभूति और व्यक्तिगत भाव-प्रक्रियाओंकी अभिव्यक्तिका माध्यम न रहगया था;

गणित, विज्ञान और दर्शनसे अलग होकर ललित-साहित्य स्वतन्त्र रूपसे विकसित होनेलगा था, यद्यपि उसके अङ्ग-उपाङ्ग जैसे काव्य, नाटक, कथाएँ आदि उस जीवनकी मन्थरतासे सामञ्जस्य रखते आये। और जब समाज बदला और जीवनकी रफ़्तार तेज़ होचली तो उसने उससे साम-ञ्जस्य स्थापित करनेवाले भावाभिव्यक्तिके अभिनव रूपोंको जन्म दिया। ये अभिनव कलात्मक रूप-विधान (forms) नयी सामाजिक वास्तविकता की वस्तु (content) की कलात्मक अथवा रचनात्मक ग्रहणशीलताका द्योतन करते हैं। जिस प्रकार आधुनिक समाजके अत्यन्त संश्लिष्ट संगठनकी अभिव्यक्ति करनेवाली सवाक्-चित्र और उपन्यास कलाएँ विकसित हुई उसी प्रकार उसकी द्रुतगामिताकी अभिव्यक्ति करनेवाली आधुनिक कहानी, रेखाचित्र और रिपोर्टाजकी कलाओंका विकास हुआ। कहानीकी सर्वप्रियता, स्टेशनपर और बाजारमें कहानी-पत्रिकाओंका इतना प्रचार, अन्य बातोंके साथ-साथ आधुनिक जीवनकी द्रुतगामिताका भी प्रमाण देता है। कहानी से सभी पाठक परिचित हैं, अतः कहानीके विषयमें कुछ न लिखकर यहाँ मैं केवल 'रेखा चित्र' पर ही अपने विचार प्रकट करूँगा।

ऊपरसे देखनेपर रेखाचित्र और रिपोर्टाज दोनोंमें समरूपता दिखायी देती है, परन्तु दोनोंके विधान भिन्न हैं; और आज जब हिन्दीमें भी रेखाचित्र और रिपोर्टाज लिखेजाना शुरू होगये हैं तो दोनोंका भेद समझना, आधुनिक गतिशील वास्तविकताके चित्रणकी क्षमताको जानलेना और उनके विकासकी आवश्यकतासे परिचित होना औरभी आवश्यक होजाता है। हिन्दीमें रेखाचित्र तो यदा-कदा प्रकाशित भी हुए हैं, जैसे श्री प्रकाश-चन्द्र गुप्तकी पुस्तक 'रेखाचित्र', हंसका 'रेखाचित्रांक' या श्रीमती सत्यवती मल्लिक, श्री यशपाल, श्री अज्ञेय आदिके फुटकर प्रकाशित रेखाचित्र। रिपोर्टाजका हिन्दीमें अभी अभाव-सा है। श्रीरामवृक्ष बेनीपुरीकी किसान-आन्दोलन सम्बन्धी कुछ कहानियाँ, दिसम्बर १९३८ के 'रूपाभ' में प्रका-शित इन पंक्तियोंके लेखकका 'लक्ष्मीपुरा' रिपोर्टाजकी श्रेणीमें रखे जासकते हैं। इनके अतिरिक्त यदि कहीं कुछ औरभी प्रकाशित हुए हैं तो लेखकको उनकी सूचना नहीं है। इस प्रकार रेखाचित्र और रिपोर्टाज दोनोंही हिन्दी-साहित्यकेलिए नयी चीजें हैं, नये अङ्ग हैं। काव्यमें भी रेखाचित्र अङ्कित करनेकी प्रवृत्ति प्रमुख होउठी है, और श्री निराला, पन्त, भगवतीचरण

वर्मा, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, रामविलास शर्मा, केदारनाथ अग्रवाल और शिवमङ्गलसिंह 'सुमन' आदिने सुन्दर, कलात्मक रेखाचित्र प्रस्तुत किये हैं। लेकिन यहाँ हमारा उद्देश्य गद्य-साहित्यके रेखाचित्रकी जाँच है, क्योंकि हमें रिपोर्ताज और रेखाचित्र दोनोंके सापेक्ष एवं अन्योन्य महत्त्वको समझना है।

साहित्यमें रेखा-चित्रकार एक ऐसा कलाकार है जो अपने पारिपार्श्विक जीवनकी वास्तविकताके किसी अङ्गको—पशु-पक्षी, वृक्ष, इमारत, खण्डहर, स्त्री, पुरुष, स्थान, गाँव, मुहल्ला, नगर आदि किसीभी जड़ अथवा चेतन वस्तुको—एक चित्रकारके समान अङ्कित करता है, वास्तविकताके उस अङ्गको कल्पनागत कर उसकी वास्तविकताको संक्षेपण और पुनर्संगठन-द्वारा अधिक प्रभावपूर्ण, संगठित और समतलसे उभार करके अपनी भाव-प्रक्रियासे उसके प्रभावोंको अतिरञ्जित करदेता है। चित्रकारके चित्रमें जिस प्रकार वास्तविकताकी संक्षेपित-अतिरंजित अभिव्यक्ति केवल देखनेका आनन्द ही नहीं प्रदान करती, वरन् भाव भी जागरित करती है, वास्तविकतापर हमारी पकड़ मज़बूत करती है, हमें उसे ग्रहण करनेमें सहायक होती है, उसी प्रकार रेखाचित्र पढ़कर किसी वस्तुका चित्र ही हमारे सामने नहीं खिंचजाता, बल्कि अभिव्यक्ति और चित्रणके पीछे अनासक्ति-भावका उपक्रम किये छिपी लेखककी सहानुभूतिसे भी अप्रत्यक्ष रूपसे पाठक प्रभावित होता है, वास्तविकताके उस टुकड़ेको उसके विराट् संदर्भसे हटा कर जैसे खुर्दबीनसे देखकर वह उसे पूरी तौरपर जानलेता है और उसके सम्पूर्ण-स्वरूप (whole) से उसके आन्तरिक सम्बन्धोंको पहचानलेता है। लेखकके व्यक्तित्वका प्रक्षेपण तटस्थताका उपक्रम-सा करता इस सूक्ष्म सहानुभूतिमें विद्यमान रहता है। इस प्रकार रेखाचित्रमें किसी वस्तु, मनुष्य या स्थानके बाह्य रूपसे उसकी आन्तरिक सुन्दरता-कुरूपता, सम्पन्नता-विषमताको पकड़नेकी चेष्टा होती है, उसमें अनुभूति और अनुभाव का चित्रण ही मुख्य है। उदाहरणकेलिए किसी व्यक्तिके रेखाचित्रमें यह विशेषता होगी कि उसके व्यक्तित्वने (जिन परिस्थितियोंने उसके व्यक्तित्व को गढ़ा, उनका भी चित्रकी पृष्ठभूमि बनानेकेलिए निर्देश होसकता है) जो विशेष मुद्राएँ, चेष्टाएँ, शारीरिक अवयवोंकी बनावटमें जो विकृतियाँ रूपको उभार दी हैं, उनके आभासको चित्रमें ज्यों-का-त्यों पकड़ा जाय,

ताकि लेखककी अनुभूतिके साथ उसके व्यक्तित्वकी रेखाएँ औरभी सघन होकर दिखायी पड़नेलगें। रेखाचित्र साहित्यमें चित्रकलाके अनुरूप है। उसमें वर्ण्य-वस्तुका सङ्गठन प्रधानतः कविता और चित्रकलाकी तरह देश (space) में होता है। और जिस प्रकार चित्रकलामें अनेक आधुनिक प्रवृत्तियाँ—रोमैंटिसिज्म, प्रतीकवाद, प्रभाववाद, अभिव्यञ्जनावाद, रूप-विधानवाद, निराकारवाद, परावस्तुवाद, भविष्यवाद, यथार्थवाद आदि प्रचलित हैं, उसी प्रकार लेखककी विचार-धाराके अनुसार रेखाचित्रके चित्र भी विविध प्रवृत्तियोंके द्योतक होसकते हैं। रेखाचित्रके चित्र वर्ण्य वस्तुका स्थिर चित्र भी खींच सकते हैं और गत्यात्मक भी। स्थिर चित्रमें वर्ण्य-वस्तुकी स्थिर रूपमें यथार्थवादी अभिव्यक्ति करके भी उसके गुण-दोष, सुन्दरता-असुन्दरता, बाह्य और आन्तरिक द्वन्द्व और परस्पर-विरोधी प्रभावों का ज्यों-का-त्यों चित्र ही उपस्थित किया जासकता है, लेकिन गत्यात्मक चित्र खींचनेकेलिए उसमें नयी चेतनाकी अभिव्यक्ति रहेगी, वर्ण्य-वस्तु को एक विशिष्ट भौतिकवादी दृष्टिकोणसे आँकनेका आग्रह होगा, अर्थात् नयी चेतनाकी भाव-ग्राहकता चित्रका प्रमुख गुण होगी। तोभी हर दशा में रेखाचित्र एक चित्र है, अतः साहित्यमें उसका उपयोग अनुभूतिको तीव्र और प्रखर बनाना है।

पाठक कहसकते हैं कि अनुभूतिको तीव्र और प्रखर बनाना तो एक प्रकारसे प्रत्येक कलाका गुण है, यहाँतक कि साहित्यके सभी अङ्ग यही कार्य करते हैं। काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास, ये सभी अपने-अपने ढङ्गसे अनुभूतिको प्रखर और तीव्र बनाते हैं। फिर रेखाचित्रमें विशेषता क्या है? उसकी विशेषता इसीमें निहित है कि वह विशेष ढङ्गसे आधुनिक वास्त-विकताका चित्रण करता है, अर्थात् वास्तविकताके किसी अङ्गको अलग (isolate) करके वह संश्लेषण और अतिरंजन द्वारा उसकी बाह्य और आ-न्तरिक सुन्दरता-कुरूपताकी रेखाओंको उभार देता है ताकि पाठक उसे सन्निकटसे देखी वस्तुकी तरह शीघ्र अपने अनुभव और चेतनामें ग्रहण करले। और जैसा हम पहले कहचुके हैं कि आधुनिक समाजने जीवनको इतना द्रुतगामी बनादिया है कि आजकी वास्तविकताको अपने अनुभवके दायरेमें ग्रहण करना असम्भव-सा होगया है, अतः रेखाचित्र इस द्रुतगामी वास्तविकताके किसी एक अङ्गको संश्लेषण-अतिरंजन द्वारा हमारी पकड़में

लेआता है। इससे यह स्पष्ट है कि रेखाचित्र आधुनिक जीवनकी द्रुतगामी वास्तविकतासे ही उत्पन्न हुआ है, उसके अङ्गोंको टुकड़े-टुकड़ेकर ग्राह्य बनाने या पकड़में लानेकेलिए वह इस जीवनकी द्रुतगामिताका ऐतिहासिक चित्रण नहीं करता। कहानी या उपन्यासका दायरा इतना सीमित नहीं है, इसी कारण उनमें किसी वस्तुकी वैयक्तिक विशेषताएँ इतनी उभरी रेखाओं द्वारा, इतने संक्षेपमें प्रस्तुत नहीं की जासकतीं, उनमें लगातार परिवर्तित होनेवाले बाह्य वातावरण या आन्तरिक भाव-प्रक्रियाओंके प्रभाव प्रमुख होउठते हैं जो काल (time) के अन्दर ही अभिव्यक्त किये जासकते हैं। यह ठीक है कि उपन्यास और कहानीमें ऐसे स्थल आते हैं जहाँ मोटी, उभरी रेखाओं द्वारा किसी परिस्थिति, स्थान या पात्रका चित्रण कलाकार करता है; लेकिन वह स्वतन्त्र चित्रण नहीं होता, आगे चलकर बाह्य वातावरणके प्रभावोंको ग्रहण करनेकेलिए ही इन मोटी और उभरी रेखाओं का प्रयोग कियाजाता है। किन्तु कलाके अन्दर रेखाचित्रकी एक स्वतन्त्र सत्ता है, उसे पढ़नेके बाद पाठकको समाज या व्यक्तिकी जीवन - धाराके अगले मोड़ या प्रवाहोंको जाननेकी आवश्यकता नहीं रह जाती। वह उस पूरी तसवीरको पढ़कर सन्तुष्ट होजाता है। और चूँकि रेखाचित्र एक चित्र है इस कारण उसका वर्ण्य विषय कल्पना-प्रधान भी होसकता है, वास्तविक भी। वर्ण्य विषयको आज देखकर लेखक उसका रेखाचित्र एक-दो-चार वर्ष बाद भी अङ्कित करे तोभी उसकी ताज़गी ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी, क्योंकि उसमें काल (time) का तत्त्व गौण होकर ही रहता है। चित्रकलाके समान ही वह देश-प्रधान है। इसी कारण आधुनिक समाज के द्रुतगामी जीवनकी आवश्यकताओंसे उत्पन्न होकर भी वह ललित साहित्य का विशिष्ट अंग होनेका गौरव पासकता है। उसमें सौन्दर्यानुभूतिके सापेक्षतः अधिक स्थायी तत्त्व दिखायी देते हैं, समसामयिकताके कम। लेकिन उसका यह गुण आजके वर्ग - समाजमें कला या साहित्यके अन्य रूपोंके समान उसके दुरुपयोगका कारण भी बनसकता है। प्रगतिशील लेखक रेखाचित्रमें भी यथार्थवादकी शैलीको ही अपनाता है, क्योंकि स्थूल और सूक्ष्म रूपचित्रों (images) द्वारा ही वह अपने चित्रोंको सबसे अधिक मूर्त्त और प्रभविष्णु बनासकता है।

रिपोर्टाज

रिपोर्टाज हिन्दीमें नहींके बराबर हैं। यह साहित्यका ऐसा रूप-विधान (form) है जिसका महत्व बिना आजकी सामाजिक परिस्थिति को जाने नहीं समझा जासकता, क्योंकि उसका जन्म इन्हीं परिस्थितियोंसे हुआ है। योरॅप, विशेषकर सोवियत यूनियनसे रिपोर्टाजका प्रारम्भ हुआ, और अमेरिकन लेखकोंने इसको सबसे ज़्यादा अपनाया। योरॅपमें पिछले महायुद्धके बादसे जो बड़ी-बड़ी घटनाएँ घटीं उनके रिपोर्टाज प्रस्तुत करने की कोशिश लेखकोंने की। जैसे, रूसकी समाजवादी क्रान्तिका रिपोर्टाज जॉन रीडने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'टेन डेज़ दैट शुक द वर्ल्ड' में किया। और जोज़ेफ़ फ़्रीमनके शब्दोंमें यह निश्चित रूपसे कहा जासकता है, कि पिछले दिनों योरॅप और अमेरिकामें समाजकी नींव हिलादेनेवाला जो साहित्य लिखागया है उसमेंसे अधिकांश रिपोर्टाज है।

आजका समाज इतना द्रुतगामी है, उसका रूप इतनी तीव्रतासे बनता, बिगड़ता और बदलता जाता है कि आजकी समस्याएँ कल पुरानी होजाती हैं, कलकी समस्याएँ परसों। उसके साथ पग मिलाकर चलनेके लिए इतनी सतत सतर्कताकी आवश्यकता है कि ज़रा चूके और पिछड़ गये। आज आर्थिक संकटसे विश्वमें त्राहि-त्राहि मचती है। कल क्रान्तियाँ होती हैं। फिर परसों नात्सी पार्टी सत्ता धारण करती है, और फिर आज इस देशपर तो कल दूसरे देशपर आक्रमणोंका क्रूर अध्याय खुलजाता है और सारा विश्व महायुद्धकी आगमें कूद पड़ता है। ये इक्की-दुक्की फुटकर घटनाएँ नहीं हैं कि उन्हें बिना जाने काम चलजाय। वे आजके समाज की वृहद् वास्तविकताके अन्दर एक सूत्रमें बँधी हैं। और वे जो समस्याएँ उठाती हैं उनके हलपर सारी मनुष्य जातिकी सभ्यता और संस्कृतिका भविष्य निर्भर करता है। इन घटनाओंका व्यक्तियों, परिवारो, समूहों और वर्गोंके दैनिक जीवनपर भी प्रभाव पड़ता है। इन प्रभावोंको प्रतिदिन विश्व के करोड़ों व्यक्तियों तक पहुँचानेका कार्य-भार यदि लिखित शब्द अथवा

वाणी पर आपड़ा है तो यह स्वाभाविक है। रेडियो, सिनेमा और प्रेस जैसे यान्त्रिक-आविष्कारोंने इस कार्यको सरल करदिया है और वास्तविकताके साथ पग मिलाकर चलनेकी क्षमता मनुष्यको प्रदान की है। ललित-साहित्य सामाजिक प्रभाव और स्वतन्त्रता प्राप्त करनेका एक तीव्र अस्त्र है। लेकिन वह आजकी समस्याका आजही हल पेश करनेमें असमर्थ है। इसका प्रभाव युगों तक चलता है। दैनिक जीवनकी विशिष्ट समस्याओं तक उसकी पहुँच नहीं होती। इसलिए आधुनिक जीवनकी इस नयी द्रुतगामी वास्तविकतामें हस्तक्षेप करनेकेलिए मनुष्यको नये साहित्यिक रूप विधानों को जन्म देनापड़ा है। रिपोर्ताज उनमेंसे सबसे प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण रूप-विधान है।

ये घटनाएँ किस प्रकार व्यक्ति और समाजके जीवनपर असर डालती हैं, यह जाननेकेलिए हम अपने दैनिक जीवनसे एक उदाहरण लें।

यह कलकत्ता शहर है, इसमें क़रीब बीस-तीस हज़ार मेहतर, पाँच हज़ार बिजलीके मज़दूर, तीन लाख जूटकी मिलोंमें काम करनेवाले, पाँच हज़ार पानी-कलके मज़दूर और तीन हज़ार ड्राइवर हैं। बाक़ी व्यापारी, सेठ, साहूकार, राजकर्मचारी, डाक्टर, वकील, क्लर्क, लेखक, कलाकार, विद्यार्थी और घरोंमें काम करनेवाले नौकर हैं। योरॅपमें युद्ध छिड़ता है। चीज़ोंका भाव गराँ होजाता है। मज़दूरोंके कामके घण्टे बढ़जाते हैं। अब उनका काम नहीं चलता, पेट नहीं भरता, और वे वेतनमें वृद्धिकी माँग करते हैं। उनकेलिए एक-दो रुपयेकी बढ़ती जीवन-मरणका प्रश्न है। अतः सभी मज़दूर अपने यहाँके अधिकारियोंके पास अपनी माँगें लिखकर भेजते हैं। शहरके आम लोग अखबारमें पढ़कर जानलेते हैं कि मज़दूरों में कुछ हलचल पैदा होरही है। लेकिन वे अपना कार्य कियेजाते हैं। सैरको भी जाते हैं। 'मेट्रो' में सिनेमा भी देखते हैं। निश्चिन्त हैं। उनके आमोद-प्रमोदमें कोई बाधा नहीं पड़ती। इधर कॉर्पोरेशन मज़दूरोंकी माँगों को ठुकरादेता है। मज़दूर काम करना चाहते है। कामसे दिल चुरानेका बहाना उनके सामने नहीं है। इतनी महँगीके दिनोंमें अपने स्वल्प वेतन से अपना या अपने परिवारका पेट वे नहीं पाल सकते। इसलिए, उनके सामने अब कोई चारा नहीं रहजाता। और मेहतर, बिजलीघर और पानी-कलके मज़दूर और ड्राइवर हड़तालका नोटिस देते हैं। शहरके लोग यह

नोटिस पढ़कर कुछ चिन्तित तो होते हैं, लेकिन अभी खतरा उनसे दूर है। एकदिन जब वे सोकर उठते हैं तो अखबारमें पढ़ते हैं कि शहरके मेह-तरोंने हड़ताल करदी। उनकी चिन्ता बढ़जाती है। शाम होते न होते उनके घरोंके चारों ओर सड़क और गलियोंकी नालियां भरजाती हैं और सड़कों पर घरोंमेंसे फेंका कूड़ा-करकट जहाँ तहाँ छितरा होता है। दूसरे दिन चारों ओरसे दुर्गन्ध उठनेलगती है। शामको जब लोग अपने घरोंमें बत्ती जलाते हैं तो देखते हैं कि बिजली फ़ेल होगयी है। सारे शहरमें ब्लैकआउट-सा होगया है। सुबहको पता लगता है कि मेहतरोंकी मदद देने और अपनी भी माँगोंकेलिए बिजलीघरके मज़दूरोंने हड़ताल करदी है। उसी दिन शाम तक पानीकलके मज़दूरोंने भी हड़ताल करदी और नलसे पानी आना बन्द हो गया। सारे शहरमें त्राहि-त्राहि मचगयी। बाहर-भीतर अन्धेरा-ही-अन्धेरा। न कहीं रोशनी, न कहीं पानीकी बूँद। सारा कारोबार, ट्रामें, मोटरकारें, टैक्सियाँ—ठप। कॉलरा और ऐसीही बीमारियाँ बच्चोंको और बालिगोंको मौत की गोदमें सुलाने लगती हैं। कुछ लोग मज़दूरोंको कोसते हैं तो कुछ कॉर-पोरेशनको। वे किसी जवाँमर्द, सूटबूट-धारी अँग्रेज़के नेतृत्वमें एक स्वयं-सेवक दल तैयारकर कूड़ा ढोने और सड़कें साफ़ करनेके काममें जुटजाते हैं। मज़दूरोंकी सभाओंपर ईंटें बरसाते हैं, गालियां बकते हैं—ये वे स्वयं-सेवक हैं, शान्तिके दूत हैं, अहिंसा-वादी हैं! दूसरी ओर जो कॉरपोरेशन को कोसते हैं, कारपोरेशन-भवनके सामने जाकर नारे लगाते हैं। वेखुले माँग करते हैं कि मज़दूरोंकी माँगें मंजूर कीजायें, क्योंकि दोष कॉरपोरेशन का है, और उसकी हठ-धर्मी या शोषक वृत्तिकेलिए वे गन्दगी, बीमारी, अन्ध-कार और प्यासके शिकार नहीं बनना चाहते। इन दिनोंमें अखबारोंके दफ़्तरों की चहल-पहल देखतेही बनती है। टेलिफ़ोनसे खबर आतेही तड़ाकसे घण्टी फिर बजउठती है। नये-नये वक्तव्योंकी दोनों ओरसे बौछार होरही है। सम्वाददाता बेतहाशा पसीनेमें भीगे दौड़ते आते हैं। वापस देखकर धड़ाम से दरवाज़ा बन्दकर घटना-स्थलकी ओर झपटजाते हैं। अखबार छपकर तैयार होरहा है। बेचनेवालोंका झुण्ड दरवाज़ेपर खड़ा है। कापियाँ मिलते ही वह झुण्ड तितर-बितर होकर शहरके गली-कूचोंमें टिड्डीकी तरह चारों ओरसे घुसपड़ता है। सैकड़ों हाथ उठते जाते हैं और अखबारके लिए इस तरह टूटपड़ते हैं मानो वह प्यासोंकेलिए पानीका सोता हो। वे आँखें फाड़-फाड़

कर देखते हैं कि हड़तालके बारेमें कोई समझौता हुआ या नहीं। और समझौतेके कहीं आसार न देखकर उनके दिल बैठजाते हैं। हैज़ा, गन्दगी, अन्धकार और प्यास, सूखे कण्ठोंकी आर्त्त दशा उनकी आँखोंके सामने फिर नाचने लगती है। अखबार इस हड़तालके बारेमें लोक-मत तैयार करते हैं। अगर वे मज़दूरोंका पक्ष लेते हैं तो शहरके अन्य लोग भी कॉरपोरेशन पर दबाव डालते हैं। यदि वे विरोध करते हैं तो केवल शहरके लोग ही मज़दूरोंपर ईंट - पत्थर नहीं चलाते, पुलिस तो गोलियाँ भी बरसाती है। इस प्रकार ये दैनिक घटनाएँ हमारे दैनिक जीवनसे इतना गहरा सम्बन्ध रखती हैं कि एक-एक घटना हज़ारों-लाखों प्रश्न उपस्थित करदेती है। इन प्रश्नोंका हल हमें इतनी तीव्र गतिसे करना पड़ता है कि उनपर स्थिर-चित्त होकर सोचनेका अवसर ही नहीं मिलता। ऐसी परिस्थितिमें कला और साहित्य की युग-युगीन प्रेरणाएँ निरर्थक जानपड़ने लगती हैं। लेकिन कला और साहित्य जो मनुष्यके सामूहिक अनुभवकी अभिव्यञ्जना करते हैं, वे इस अनुभवको अङ्कित न करें और जीवनसे तटस्थ होजायँ, ऐसा नहीं होसकता। और आजकी परिस्थितियोंमें तो यह औरभी असम्भव है। हम जिस संक्रान्ति-कालसे गुज़ररहे हैं उसमें तो साहित्य और कलाके ऊपर सामाजिक चेतनाको जागरित करनेका उत्तरदायित्व औरभी बढ़गया है। और हमें हमारा इतिहासका अनुभव बताता है कि क्रान्ति और परिवर्तनके युगोंमें साहित्य और कलाने लघु रूपोंका ही विकास किया है। फ्रांसकी पूँजीवादी क्रान्तिसे परिचित पाठक जानते हैं कि उन दिनों पैम्फ़लेटोंके ज़रिये क्रान्तिका सन्देश घर-घर पहुँचायाजाता था। रूसो, वॉल्तेयर और बादमें विक्तर ह्यूगो आदिने पैम्फ़लेट-बाज़ीको ही एक श्रेष्ठ कला बनादिया था। आज जब विश्व युद्ध और शान्तिकी समस्याओंमें फँसा है, कलाके लघु रूप ही हमारे जीवनकी समस्याओंसे हमें अवगत करासकते हैं, विचार देसकते हैं, और उनके अर्थ समझा सकते हैं।

रिपोर्ताजके अन्दर लेखकको वर्ण्य घटना या वस्तुका चित्रण करनेकेलिए, उसपर तीन दिशाओंसे आक्रमण करना होता है। अर्थात् उसकी रिपोर्टमें तीन तत्वोंका समावेश रहता है। किसी घटनाका इतिहास और उसका परिवेश (environment) तो रहता ही है, एक तीसरा तत्त्व भी रहता है जो रिपोर्ताजकी कलाका क्रान्तिकारी रूप-विधान बनादेता है। यह

तीसरा तत्त्व है उस घटनामें भाग लेनेवाली शक्तियोंके भीतरी इरादों, उनके कार्य क्रमों, उनकी गति-विधि और रीति-नीति, और उनके संघर्षके परिणाम पर निर्भर भविष्यकी दिशाओंका स्पष्टीकरण।

और लेखकको यह सब अपने थोड़ेसे समयमें—क्योंकि कल या इस सप्ताहके समाचार-पत्रोंमें ही उसे प्रकाशित होना है—कलाके माध्यमसे करना होता है। अर्थात्. वास्तविकताका चित्रण संक्षेपण द्वारा भी हो और वह चित्रण एक सजीव अनुभवके रूपमें परिणत भी होजाय, ताकि अपने पाठकोंको वाक़-यातके दिखाने और उनकी अनुभूति करानेकी उसमें शक्ति हो। कोई घटना कानपुरमें हुई या बम्बईमें। पहली मईको हुई, छब्बीस जनवरी या सात अक्तूबरको; मिल मालिकोंकी ज़्यादतीसे हुई या सरकारकी दमन नीतिकी प्रतिक्रियाके रूपमें, इनका ज़िक्र तो उसमें रहेगा ही क्योंकि रिपोर्ताज रिपोर्ट है। लेकिन इसके साथ उसमें घटना अपने परिवेशकी सम्पूर्ण चित्रात्मकता के साथ-साथ, भावों और संवेदनाके ज्वार-भाटेकी तरंगोंसे एक सजीव अनुभव भी बनजाती है। और पाठकको सवाक् चित्र-पटकी भाँति, लेकिन यथार्थ और विश्वस्त रूपसे, उसका अनुभव प्रदान करती है।

और यह एक कष्ट-साध्य कर्म है। वैसेभी लोगोंकी यह धारणा रही है कि कलात्मक रचनाके सृजनमें काफ़ी समय लगना ही चाहिए, क्योंकि यह कार्य दुःसाध्य होता है। बात यद्यपि सही है, परन्तु सामन्तवाद या पूँजी-वादके प्रारम्भ-कालमें ही यह बात सम्भव थी कि कलाकार या लेखकको अपनी रचना तैयार करनेकेलिए काफ़ी समय मिलजाता था। पूँजीवादका पतन-काल या क्रान्तिका युग, कलाकार या साहित्यकारको अपनी रचनाको गढ़ने - सँवारनेका अवसर नहीं देते। पूँजीवादके पतनकालमें कला व्याव-सायिक वस्तु होजाती है और कलाकारको जीवित रहनेकेलिए बाज़ारकी माँग के अनुकूल कला और साहित्यकी सृष्टि करनी पड़ती है। इसके साथ-साथ यह देखनेकेलिए कि बाज़ारमें उसकी कृतियोंकी माँग बनीरहे, उसे कलाकी टेकनीकमें लगातार नये नये प्रयोग करने पड़ते हैं, ताकि वह समयसे पिछड़ (आउट-ऑव-डेट) न जाय। यह लेखक या कलाकारकी विवशता होती है जो उसकी आत्माको कुचलकर उसे असामाजिक मनुष्य बनादेती है। इसके विपरीत क्रान्तिका सङ्गठन करनेवाली कलासे यह अपेक्षा कीजाती है कि वह संघर्षसे उत्पन्न नयी-नयी समस्याओंका फ़ौरन उत्तर दे, और

भारतकी जन-नाट्यशाला

कलाओंके सङ्गठनकी बात उठायी तो बार बार जाती है, लेकिन उस के बुनियादी पहलूको हमेशा नज़रअन्दाज़ कियाजाता है। लम्बी-चौड़ी योजनाओंमें भी उस तत्त्वकी कमी रहती है जो अमलमें लायेजानेपर कलाके अन्दर प्राण फूँकसकता है, उसे टिकाऊ और प्रभावशाली बनासकता है। इन योजनाओंमें दो दृष्टिकोण प्रधान रहते हैं : व्यावसायिक लाभ और अवकाश - भोगी वर्गका मनोरञ्जन । लेकिन आजके समाजमें यह बात निर्विवाद है कि ये दोनों प्रेरणाएँ (incentives) कलाको उत्तरोत्तर विकास अथवा स्थायित्वका गुण नहीं प्रदान करपातीं, कुछ दिनों चमक-दमक दिखाकर कलाके विविध रूप मुरझाने लगते हैं। इसलिए कलाको सप्राण, सजीव, सबल और विकासोन्मुख बनानेकेलिए हमें अपनी इन योजनाओंमेंसे वे दोनों प्रेरक शक्तियाँ निकालदेनी होंगी और उनके स्थानपर मूल तत्त्वोंको रखना होगा । ये मूल तत्त्व आधुनिक जीवनकी वास्तविकताकी चेतनापर आधारित हैं, इस कारण अधिक गतिशील (dynamic) हैं ।

ये मूल तत्त्व क्या हैं ? हमारी कलाको भारतवर्षके तीस-पैंतीस करोड़ किसान - मज़दूर और निम्न - मध्यमवर्गसे 'प्राण - सम्बन्धित' होना चाहिए, क्योंकि समाजका यह वर्ग ही आज ऐतिहासिक दृष्टिसे समाजकी असङ्गतियों पर विजय प्राप्तकर एक नये समाजका निर्माण करनेकी क्षमता रखता है, पूँजीपति वर्ग या उपजीवी, अवकाशभोगी वर्गकी क्षमता अब समाजको आगे बढ़ानेमें नहीं वरन् पीछे ढकेलनेमें ही शेष रही है। अतः यदि कला शोषित वर्गोंसे अर्थात् जनतासे 'प्राण - सम्बन्धित' होगयी तो समझना चाहिए कि वह इतिहासके साथ क़दम मिलाकर चलनेलगेगी और समाज की प्रगतिमें सक्रिय - सचेत रूपसे सहायक होगी । इस कारण टिकाऊ भी होगी। अब प्रश्न उठता है कि जनतासे 'प्राण-सम्बन्धित' होनेकेलिए कला के रूप - विधानमें किन परिवर्तनोंकी आवश्यकता पड़ेगी ? इसकेलिए यहाँ केवल इतना जानना ज़रूरी है कि चूँकि कलाका सम्बन्ध मनुष्यके भाव-

जगत्से है, अतः कलाको जनताकी आध्यात्मिक आवश्यकताओंका निरूपणकर उसके भाव-जगत्के धरातलको ऊँचा उठानेका प्रयत्न करना होगा, ताकि जनतामें नवजीवन अथवा नये समाजका निर्माण करनेकी कल्पना स्पष्ट होजाय। आज उसका यही सबसे बड़ा ऐतिहासिक लक्ष्य है।

कलाके निर्माणके मूलमें व्यावसायिक लाभ तथा उपजीवी वर्गके कुत्सित मनोरञ्जनके स्थानपर शोषित जनताकी आध्यात्मिक क्षुधाको स्वास्थ्यकर मानसिक भोजन प्रदान करने तथा जनताको अपने मौजूदा तथा भावी कार्यके प्रति सजग और सचेत बनानेका तत्व चाहिए।

जनतासे कलाका 'प्राण-सम्बन्ध' स्थापित करनेकेलिए जनताके आध्यात्मिक-जीवनको हमें हर पहलूसे समझना होगा। इस जनताके आर्थिक-शोषणकी कहानीसे तो सभी परिचित हैं, यद्यपि वे यह नहीं जानते कि इस आर्थिक शोषणके साथ-साथ जनताका आध्यात्मिक शोषण कितना गहरा हुआ है। यह ठीक है कि हिन्दुस्तानमें पूँजीवादके आनेसे उत्पादनके तरीक़ों में उन्नति हुई है और कई क्षेत्रोंमें उत्पादन बढ़ा भी है, लेकिन उसके अनुपातमें यहाँकी 'मानसिक संस्कृति' नहीं बढ़पायी, यद्यपि सामाजिक नियमके अनुसार ऐसा होना आवश्यक था, वैसे देखनेको 'शिक्षित बेकारों' की समस्या ने विकट रूप धारण करलिया है, जबकि शिक्षित-वर्ग जनताकी संख्यामें पाँच-सात प्रतिशतसे ज़्यादा नहीं है। इसका कारण साम्राज्यवादी शोषण और पूँजीवादका अनैसर्गिक विकास कहा जासकता है। आर्थिक-शोषणसे ग़रीबी पैदाहुई है, और इस ग़रीबीने जनताको अशिक्षा, सामाजिक पिछड़ेपन, भावात्मक शून्यता और रोगोंका शिकार बनादिया है। जनताका भाव-जगत् ऊसर बनगया है, रुक्ष एवं अनुर्वर; उसकी उच्च सुखमय जीवनकी अभिलाषापर शंका और सन्देहोंका पाला पड़ाहुआ है, उसका कल्पना-जगत् एक ऐसा मरुस्थल बनगया है जहाँ मृगमरीचिकाके भी दर्शन नहीं होते; उसके हृदयकी आकांक्षाओंकी सरिता, जिसमें उज्ज्वल भविष्यका श्वेत चन्द्रमा अपना प्रतिबिम्ब डालकर उसकी लोल लहरोंको अपनी ओर खींचता रहता था, अब शुष्क पड़ी है। यहाँपर वाक्यालङ्कारका प्रयोग नहीं किया जारहा, क्योंकि विक्षिप्त बनादेनेवाली जिस आध्यात्मिक क्षुधाकी पीड़ासे आज हमारी जनता उद्भ्रान्त और किंकर्तव्य-विमूढ़ बनीहुई है, उसके जीवन की आन्तरिक विशृङ्खलताकी अभिव्यक्तिकेलिए यही भाषा सुगम है।

इसपर एक और पहलूसे विचार करें। रेडियो, सिनेमा, नाच, थियेटर, उपन्यास, समाचार-पत्र, काव्य-साहित्य, कला-चित्र, और स्कूल-कालेज, ये हमारी 'मानसिक-संस्कृति' के प्रमुख वाहक हैं, अथवा यों कहिए कि मिलकर ये सब हमारी 'मानसिक-संस्कृति' की रूप - रेखा गढ़ते हैं। आजके जीवन में इन कला-कृतियों अथवा सांस्कृतिक - केन्द्रोंका फैलाव क्या इतना है कि वे अपनी परिधिमें हमारी जनताको घेरलें ? इसके ठीक विपरीत, जनताकी इन चीज़ोंतक कोई पहुँच नहीं है, उसकी पहुँच प्राइमरी दर्जेकी उन पुस्तकों तकभी नहीं है जिनमें 'हे प्रभो आनन्ददाता, ज्ञान हमको दीजिए,' पढ़कर विद्यार्थी प्रभु द्वारा भेजे ज्ञानकी प्रतीक्षामें सारा जीवन गुज़ार देता है किन्तु प्रभु ज्ञान नहीं भेजता। इसीसे स्पष्ट है कि कला, संस्कृति और साहित्य इस समय एक अवकाशभोगी वर्गकी सम्पत्ति हैं, असंख्य जनतासे उनका कोई सम्बन्ध नहीं।

इधर कुछ दिनोंसे राजनीतिक उथल - पुथल, संगठन और प्रचार के कारण जनतामें एक नयी चेतनाकी लहर दौड़गयी है। उसकी वह नैराश्य-भावना जिसमें डूबकर उतराना भी सम्भव न था अब लुप्त होती जारही है। यह जीवन केवल पिसनेकेलिए ही नहीं है, बल्कि उसमें कुछ अपना भी हो सकता है, सुख और चैन मिलसकता है, इसकी अस्पष्ट अनुभूति उसे होनेलगी है। लेकिन इस अनुभूति और चेतनाकी बुनियाद गहरी नहीं होपाती, क्योंकि उसके हृदय आशङ्कित हैं, नित नये प्रश्न उठकर उसके सन्देहोंको मज़बूत करते रहते हैं। जनता सोचती है, 'क्या यह सच है ? क्या यह कभी सम्भव होसकेगा ? यह सब कैसे होजायगा ?' इन प्रश्नोंके मूलमें सन्देह है, उस चेतना और अनुभूतिके प्रति जिससे वे विचलित होरहे हैं। नेताओंके वक्तव्य, व्याख्यान, सभाएँ, प्रदर्शन, हड़तालें, आन्दोलन इन प्रश्नों और सन्देहोंका सन्तोषजनक उत्तर नहीं देपाते। कभी-कभी ये सन्देह औरभी दृढ़ होजाते हैं, क्योंकि इन प्रश्नोंके उत्तर और अपने वास्तविक जीवनमें जो तारतम्य, जो संगति, जो सम्बन्ध है, उसे वह अपनी कल्पनाके पर्देपर चित्रितकर उसकी पूरी तस्वीर नहीं देखपाती। बीचकी कोई-न-कोई कड़ी टूटजाती है और उसका दिल दहल उठता है। उसे सन्देह होता है, 'शायद ऐसा न होसके !' अतः यदि जनता हमारे साथ संघर्षमें आती है, या संघर्षमें हमें अपने साथ खींच लेती है तो केवल जीवनकी विषम परिस्थितियोंसे धक्का खाकर, तिलमिला

कर; सजग रूपसे, आवश्यकताकी चेतनासे नहीं। इसी कारण वह अभी तक अपने दिलके पूरे हौसलेसे सङ्घर्षमें शामिल नहीं होपायी, उसका नेतृत्व अपने हाथमें नहीं लेपायी।

किन्तु यह तो नहीं होसकता कि जिस जनताने अपने परिश्रमसे आर्य-संस्कृति, बौद्ध-संस्कृति और मुग़ल-संस्कृति जैसी तीन महान् संस्कृतियोंको गढ़ा हो, सींचा हो, और जिनका भार अपनी पीठपर वहन किया हो, उसमें स्वयं एक आध्यात्मिक क्षुधा न उत्पन्न होगयी हो। वह अफ्रीका और ऑस्ट्रेलिया या दक्षिणी अमेरिकाकी असभ्य और बर्बर जाति तो नहीं है जिसने संस्कृतिके दीपक दूरसे भी जलतेहुए न देखे हों, अतः कला और संस्कृति की उसमें उतनी गहरी प्यास न हो। यहाँकी जनताने तो अपने हाथों बड़ी-बड़ी सभ्यताओ और संस्कृतियोंका निर्माण किया है। इस कारण आज जब समाजकी व्यवस्थाने उसे पूँजीवादी कला और संस्कृतिसे वञ्चित करदिया है तो वह अपनी क्षुधाकी तृप्ति सामन्त-कालकी भग्नावशेष कलासे करती है। गाँवके किसी मेले-ठेलेमें जाइए, किताबोंकी दूकानोंपर ऐसे-ऐसे लेखकोंकी पुस्तकें मिलेंगी जिनका साहित्य-जगत्में कभी कोई अस्तित्व नहीं माना गया है।

इन पुस्तकोंमें गानेकी किताबोंकी अधिकता रहती है, उपन्यासों और कहानियोंकी नहीं। अभी जनताकी मानसिक संस्कृति पिछड़ी दशामें है, इस कारण वह-उन्हीं पुस्तकोंको चाहती है जो कण्ठस्थ होसकें। साहित्यके विविध रूप-विधानोंसे उसका अभीतक परिचय नहीं होपाया। सूर, तुलसी, कबीर और मीरा, येही कुछ बड़े बड़े कवि हैं जो जनता तक अपनी पैठ करपाये हैं, आजके कवियोंकी वहाँ गति नहीं। इससे दो बातें साबित होती हैं: पहली तो यह कि आधुनिक समाजने हमारे लेखकोंके साहित्यका जन-आधार अत्यन्त संकुचित करदिया है, दूसरी यह कि आजकी जनताकी विकृत, मृतप्राय संस्कृति और हमारे लेखकोंकी संस्कृतिमें उसने ज़मीन-आसमानका अन्तर पैदा करदिया है जिससे वे एक-दूसरेके सम्पर्कमें आ ही नहीं पाते। फलतः हमारी ग्रामीण अथवा मज़दूर जनताको साहित्यके अश्लील और कुत्सित रूपसे ही सन्तोष करना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त दृश्य-कलाओंकी भी इस जनतामें प्राचीन परिपाटी अपने विकृत रूपमें चली आरही है। इन दृश्य-कलाओंमें नाटक और नृत्य मुख्य हैं।

जनताकी नाट्यशालाओंके कई रूप हैं—रामलीला, रासलीला; भँड़ैती, स्वाँग, नौटङ्की। ये नाट्यशालाएँ अपने जर्जरित रूपमें हमारी जनताके हृदयमें गत वैभवकी स्मृति ताज़ी करती रहती हैं, उसको अपने अन्धकारमय, प्रताड़ित जीवनसे प्रेम पालनेको उत्प्रेरित करती हैं और छिछले-अश्लील मनोरञ्जन द्वारा उनके मानवी हृदयकी गुदगुदी उनकी आध्यात्मिक क्षुधाको शान्त करती रहती हैं। इन नाट्यशालाओं तक आधुनिक जीवनकी प्रकाश-किरणें नहीं पहुँचीं। यद्यपि ज़माना बदलगया, पर वे आज भी अकबर और राणा प्रतापके सामन्ती कालकी मृत-श्वास भररही हैं। इन नाट्यशालाओंमें बड़े-बड़े सामन्तों, शूरमाओं, अवतारोंके पराक्रमके दृश्य रहते हैं, उनके विरद् गाये जाते हैं—मज़दूर और किसान समझते हैं कि संसारसे पराक्रम उठगया; प्रजावत्सल, प्रजाकी पुत्र-तुल्य रक्षा करनेवाले नरेश नहीं रहे, अतः प्रजा ग़रीब होगयी। इस प्रकार यह प्राचीन सामन्तों की कीर्ति-गाथा जनताकी साम्राज्य-विरोधी भावनाको भी विकृत ढङ्गसे सन्तुष्ट करती है। वह साम्राज्यवादी शोषणसे त्रस्त है, उसे नहीं चाहती; लेकिन यह दशा बदलेगी कैसे इसका उत्तर उसे भविष्यकी आवश्यकताओंकी ओर नहीं ले जाता बल्कि पुरातनके आदर्श-पूर्ण जीवनको पुनः पानेकी टीस-भरी आकांक्षा पैदा करदेता है। फिर, नाट्यशालाओंमें आधुनिक जीवनका उपहास भी कियाजाता है, बी० ए०-पास बीबी या विलायतसे लौटेहुए बेटेकी छीछालेदर होते तो सभीने देखी होगी, किन्तु शिक्षा, मशीनों, स्त्रियोंकी स्वतन्त्रता आदि का मज़ाक भी उड़ायाजाता है। जनता समझती है कि चूँकि प्राचीन रहन-सहन, रस्म-रिवाज आचार-विचार नहीं रहे, बदलगये, इस कारण उसका जीवन इतना विषम और विपाक्त होगया है। जनता आधुनिक जीवन और आधुनिक सभ्यताको दुश्मनकी दृष्टिसे देखने लगजाती है। और जब राष्ट्रीय—मज़दूर या किसान—आन्दोलनका जाग्रत-सन्देश वह सुनती है तो इसी भाव-वस्तुसे अपने भावी जीवनकी कल्पना करने लगती है। लेकिन संगति नहीं बैठती, भावी-जीवनकी कल्पना मूर्त्तिमान नहीं होपाती। हो भी कैसे सकती है जबकि उसका जीवन एक तो वैसेही विच्छिन्न है, उसपर ये नाट्यशालाएँ, गानेकी पुस्तकें और दूसरी एजेन्सियाँ धर्म और ईश्वर, वेद, क़ुरान और ऋषि-वाक्योंकी आड़ लेकर उसमें जीवन-विरोधी विश्वास उत्पन्न करके उसके जीवनको औरभी विच्छिन्न बनाती रहती हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन, मज़दूर-

सङ्घों और किसान - सभाओंका इस जनतापर कितनाभी प्रभाव क्यों न हो किन्तु इन नाट्यशालाओं तथा अन्य जीवन-विरोधी-विश्वास उत्पन्न करने वाली एजेन्सियोंका भी कम प्रभाव नहीं है। हमने स्वयं देखा है कि दस-दस गाँवके बालक, जवान, बूढ़े पुरुष (और कभी-कभी स्त्रियाँ भी) जाड़े-पालेमें ठिठुरते हज़ारोंकी तादादमें रामलीला, रासलीला, स्वाँग या नौटङ्की देखनेको पहुँचते हैं। कौन शक्ति उन्हें वहाँ बरबस खींच लेजाती है? निस्सन्देह उनकी आध्यात्मिक क्षुधा, या कहिए कि जीवनकी विडम्बनाओंको भूलकर कुछ मनोरञ्जक क्षण गुज़ारनेकी लालसा। ये क्षण उनके जीवनमें बड़े क़ीमती होते हैं, इसलिए इन क्षणोंमें वे जो कुछ भी देखते या सुनते हैं उनके मानस-पटपर उसकी मधुर-स्मृति अमिट प्रभाव छोड़जाती है, उनकी भावनाओंको अपने अनुकूल बनालेती है। इन जन - नाट्यशालाओंका यह प्रभाव (या दुष्प्रभाव) पड़ता है। इन एजेन्सियों द्वारा प्रतिक्रिया अपने छद्मवेशमें जनताके मस्तिष्कपर आच्छादित होजाती है और उसमें चेतना की रोशनी नहीं घुसने देती। हम लेखकोंने इस ओर बहुत कम ध्यान दिया है, क्योंकि अभीतक हम इस बातको ठीक तरहसे नहीं समझपाये हैं कि हमारी जनताके सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक जीवनके वैपम्यमें ज़हर की तरह घुल-मिलकर 'मानसिक तथा आध्यात्मिक प्रतिक्रिया' कितने सरल तथा निर्बोध रूपमें उसे औरभी खोखला और निस्पन्द बनाती जारही है। कारण स्पष्ट है कि हमने कभी यह जाननेकी कोशिश नहीं की कि जीवन की प्रत्येक करवटमें, उसके प्रत्येक उभारमें एक बाह्य, कार्य-कारण सम्बन्ध है। इसीका सीधा परिणाम है कि जन - आधारपर कियेगये कलाओंके सङ्गठनका विचार हमें आज भी आन्दोलित नहीं करता।

(२)

इस लेखमें हमें अन्य कलाओंके सङ्गठनपर विचार न कर केवल नाट्यकलापर ही विचार करना है। यह मेरा विश्वास है कि जन-साधारण तक कलारुचि पहुँचानेमें नाटक ही सबसे ज़्यादा सहायक होसकता है और प्रचारके साधनोंमें केवल नाटक या नाट्यशाला ही सामूहिक प्रभाव डालनेवाला एक ऐसा साधन है जिसपर हम लेखकोंका अधिकार होसकता है; अन्यथा रेडियो, सिनेमा, प्रेस आदि अन्य सभी आधुनिक साधनोंपर सरकार

का नियन्त्रण है और उनका प्रयोग जनताकी चेतना, उसकी कला या सौन्दर्य-भावनाको परिष्कृत करनेमें कम किन्तु कुण्ठित करनेमें अधिक होता है। ये साधन साम्राज्यवादी-पूँजीवादी असत्य, सामाजिक दकियानूसीपन, जर्जर सांस्कृतिक रूढ़ियों तथा धार्मिक कठमुल्लापनको बना-सँवारकर, सुन्दर आदर्शवादी शब्दोंके आवरणमें ढँककर उसे सत्यका रूप देकर जनताके सामने पेश करते हैं। यह खोटा सिक्का बहुत दिनोंसे चलरहा है, चलता जारहा है। नाट्यशालाका भी इस कार्यकेलिए प्रयोग कियाजाता है। लेकिन नाट्यशालामें खेलेजानेवाले नाटकके लेखकपर कुछ दायित्व होता है, वह जनता और साहित्यकी धारासे एकदम विमुख नहीं होपाता, और अगर होता है तो उसके साहित्यिक जीवनका पौधा पनपने नहीं पाता। इसके अतिरिक्त नाटकका महत्त्व औरभी कई दृष्टिसे बहुत ज़्यादा है। नाट्यशाला द्वारा ही जनतासे सजीव सम्पर्क स्थापित किया जासकता है, सिनेमा या रेडियोसे नहीं, कम-से-कम अभी तो नहीं। सजीव पात्रोंका अभिनय दर्शकों को ज़्यादा प्रिय लगता है और वे उसके द्वारा पात्रोंके साथ एक सजीव नैकट्यका भी अनुभव करनेलगते हैं। बोलेहुए शब्दमें जादूकी-सी शक्ति होती है, और जब नाट्यशालामें स्त्री-पुरुषोंके सजीव कण्ठसे ही शब्द सुनने को मिलते हैं, उनके सजीव शरीर ही रूपक रचते हैं, तब दर्शक जनता उनके साथ इतने नैकट्यका अनुभव करनेलगती है, मानो पात्र और दर्शक दोनों एक विराट् रूपकमें भाग लेरहे हों। इसीलिए योरॅप, अमेरिका या चीनके लेखकोंने अपने प्रचार और रचनात्मक कार्यमें नाट्यशालाको प्रमुख स्थान दिया है। यहाँ इङ्गलैन्ड, अमेरिका और चीनके उदाहरण यह बतानेकेलिए काफ़ी होंगे कि जन-नाट्यशालाएँ प्रचार और सांस्कृतिक उन्नतिकी कितनी प्रभाव-पूर्ण केन्द्र बनसकती हैं।

युद्ध छिड़नेसे पहले इङ्गलैण्ड और अमेरिकाके कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट तथा प्रजातन्त्रवादी लेखक युद्ध और फ़ासिज़्मके ख़तरेके विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चेमें सम्मिलित होगये थे। उन्होंने फ़ासिस्ट प्रतिक्रियाके प्रति जनता को सचेत करनेकेलिए नाटकको अपना मुख्य साधन बनाया, साथही परिपाटीके बोझसे दबे उनके मृतप्राय जीवनका उद्धार भी किया।

इङ्गलैंडमें इब्सन और बर्नर्डशॉके नाटकोंने रूपक-शैलीमें क्रान्तिकारी परिवर्तन तो किये थे, पूँजीवादकी धज्जियाँ तो उड़ायीं थीं, परन्तु वे मौजूदा

संकटका कोई हल न पेश करसके। इसके अतिरिक्त अन्य थियेटर व्याव-सायिक दृष्टिसे ही चलते थे। वे दृश्योंकी तड़क-भड़क, प्रधान पात्र अथवा पात्रोंके वैयक्तिक प्रतिभापर ही अधिक ज़ोर देते थे और उनका उद्देश्य धन कमाना अधिक, जीवनकी अभिव्यंजना करना कम था। इसलिए वहाँके प्रगतिशील लेखकोंने 'लेफ्ट थियेटर' की नींव डाली। बादमें संयुक्त मोर्चेके दिनोंमें उसका नाम 'यूनिटी थियेटर' करदिया गया। इस थियेटरमें जो नाटक खेलेगये उनमें ट्रिटियाकॉवका 'रोऽर चाइना', गोर्कीका 'मदर', स्टीफ़न स्पेन्डरका 'दी ट्रायल ऑव ए जज', क्लिफ़ॉर्ड ओडेटका 'वेटिंग फ़ॉर लेफ़्टी' आदि अनूदित तथा मौलिक नाटक प्रसिद्ध हैं। इन नाटकोंकी यह विशेषता है कि इनके प्रधान-पात्र उच्चवर्गके नहीं वरन् श्रमिकवर्गके होते हैं। रंगमंचपर श्रमिकवर्गका प्रवेश नाटकीय विकासकी एक महत्वपूर्ण घटना है। इन नाटकोंसे कलामें एक नये जीवन, एक नये सौन्दर्यकी प्रतिष्ठा हुई है। अमेरिकामें क्रान्तिकारी नाटककी उन्नति एक दूसरे प्रकारसे हुई। वहाँ पहले प्रचार-थियेटरकी नींव पड़ी। छोटे-छोटे प्रचारात्मक, क्रान्तिकारी नाटक अभिनीत कियेगये। इनमें जोश तो बहुत रहता था, लेकिन कला या अभि-नय-कौशल कम। इसका कारण यह था कि अपनी प्रारम्भिक अवस्थामें वहाँके क्रान्तिकारी थियेटरने पूँजीवादी (व्यावसायिक) रंगमंचकी शैली और वस्तु दोनोंसे अपनेको मुक्त करना चाहा—मुक्त ही क्यों प्रतिक्रियावश उसकी शैलीके सद्गुणोंका भी बहिष्कार करदिया। उसके संगठनकर्त्ताओं का विश्वास था कि एक क्रान्तिकारी थियेटरके अन्दर प्रचारवृत्तिकी प्रधा-नता ही मुख्य चीज़ है और कलाहीनता तथा अभिनयकी अकुशलता ही उसका विशिष्ट एवं स्वाभाविक गुण है। यह परिस्थिति अधिक दिनोंतक न रह सकती थी न रही, और वहाँ क्रान्तिकारी थियेटरमें भी कलाने अपना स्थान प्राप्त करलिया। इस थियेटरने हज़ारों मज़दूरोंमें नाटक देखनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न करदी, मज़दूर-संघोंसे थियेटरका सम्बन्ध स्थापित कर दिया। वहाँके क्रान्तिकारी थियेटरकी एक विशेषता यह भी थी कि उसने ऐसे चलते-फिरते थियेटर स्थापित किये थे जिनमें रंगमंचकी तड़क-भड़क नहीं रहती थी, केवल छोटे-छोटे व्यंग-प्रहसन खेलेजाते थे, शिक्षित पात्रों की आवश्यकता भी नहीं पड़ती थी, साधारण मज़दूर ही कहींभी इकट्ठे होकर अभिनय करलेते थे। वैसे बड़े-बड़े नाटक थियेटर-हॉलके अन्दर ही

खेलेजाते थे। इन नाटकोंका प्रभाव सीधा और तीव्र होता था। इन नाटकों के कथानक मज़दूरोंके जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाले होते थे। अमेरिकाके प्रसिद्ध लेखक लाउसन, डॉस पैसॉस, माइकेल गोल्ड, वेक्सले, पीटर मार्टिन, स्क्लार, क्लिफ़र्ड ऑडिट्स आदि इन नाट्यशालाओंकेलिए नाटक लिखने और उनका अभिनय करनेमें पूरी सहायता देतेरहे हैं।

चीनमें क्रान्तिकारी जन-नाट्यशालाका जन्म और विकास बिल्कुल भिन्न परिस्थितियोंमें हुआ। चीन एक कृषि - प्रधान देश है—अशिक्षित, पिछड़ा हुआ और अन्ध-विश्वासोंमें डूबाहुआ। उसकी समस्याएँ बहुमुखी हैं। लेकिन जापानी साम्राज्यवादके आक्रमणने वहाँकी सोयीहुई जनतामें चेतना और आत्माभिमानकी एक क्रान्तिकारी लहर दौड़ादी, उसमें ऐक्य और संगठन पैदा करदिया, और वह दैत्यकी तरह आक्रमणकारीका मुक़ाबला करने केलिए उठ खड़ीहुई। इस कार्यमें क्रान्तिकारी नाट्यशालाने बड़ा सराहनीय हिस्सा लिया है। चीनकी क्रांतिकारी नाट्यशाला एकसाथ ही आज जापान-विरोधी भावना, शिक्षा, नवजाग्रति और संगठनकी विद्युत-केन्द्र बनगयी है, जहाँसे आम जनताके हृदयोंमें आधुनिक जीवनकी प्रकाश-रेखाएँ पहुँचायी जाती हैं और उनके जापान-विरोधी निश्चयको दृढ़ बनायाजाता है। इस समय चीनके सभी क्रान्तिकारी नाटकोंके कथानकोंका मौजूदा चीन-जापान युद्धसे ज़रूर सम्बन्ध रहता है, क्योंकि यही इस समय वहाँकी सबसे बड़ी वास्तविकता है। शहरोंमें कॉलेजोंके प्रोफ़ेसर, नाट्यकार, कवि, सिनेमाके अभिनेता और अभिनेत्रियाँ इन नाटकोंके लिखने और अभिनय करनेमें मदद देरहे हैं, और गाँवोंमें नौजवानोंकी नाटक—मंडलियाँ जिन्हें चीनमें Jen-Min-K' ang Erh-Chii-She अर्थात् 'जनताकी जापान-विरोधी नाटक-समिति' कहते हैं—ज़िले-ज़िले और गाँव-गाँवमें क्रान्तिकारी नाटक खेलती फिरती हैं। शहरोंके नाटकोंमें तो टिकट लगायाजाता है, और उसकी आय चीन के युद्ध-फ़ण्डमें देदीजाती है; लेकिन गाँवोंमें टिकट नहीं रहता। गाँवोंके नाटकोंमें पर्दे वगैरह भी नहीं होते और वे मैदानमें खेलेजाते हैं। तीन घण्टे के प्रोग्रैममें मुख्य नाटकके अतिरिक्त प्रहसन, व्यंग और क्रान्तिकारी नृत्य और संगीत भी रहता है। वहाँ 'आक्रमण,' 'मंचूरिया - विजय' और '१८ सितम्बर में' आदि इननाटक बहुत प्रसिद्ध हैं। उनके शीर्षकसे ही पता लगजाता है कि चीन-जापान युद्धकी मुख्य-मुख्य घटनाओंसे उनका सम्बन्ध है। इन

में जापानी आक्रमणके असली दुष्परिणाम, जापानियोंके पाशविक अत्याचार, चीनी जनताके ऐक्य और निश्चयके सुन्दर दृश्य रहते हैं। क्रान्तिकारी नृत्य इन नाटकोंके प्रभावको औरभी बढ़ादेते हैं। सोवियट चीनमें 'संयुक्त-मोर्चा नृत्य' और 'लाल मशीनोंका नृत्य' बहुत प्रचलित हैं। इनमें जापानी आक्रमणके विरुद्ध जनताके संयुक्त मोर्चे और भावी सोवियट चीनमें उद्योगीकरण होनेसे उत्पन्न सुख-समृद्धिकी कल्पनाके दृश्योंका प्रदर्शन रहता है। इन नाटकोंमें निरर्थक बातें नहीं रहतीं, बल्कि चीनी जनताके मौजूदा जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली बातें होती हैं, जिनके द्वारा उसके हृदयमें उठनेवाले प्रश्नों और सन्देहोंका सन्तोषप्रद उत्तर दियाजाता है; उसकी अकर्मण्यता, उसके अन्धविश्वासोंको तोड़कर उसे जनताके स्वतन्त्र राज्यकी स्थापनाके वास्ते लड़ाईकेलिए तैयार होनेको प्रेरित कियाजाता है। इसमें सन्देह नहीं कि इन नाटकोंने चीनकी जनताको न्याय, शान्ति, स्वतन्त्रता और समानता के एक भावी जीवनकी कल्पना प्रदान की है। इन नाटकोंमें उच्च कलाका अभाव रहता है, लेकिन उनकी कला इसीमें निहित है कि वे आज चीन की विशाल मूक जनताकी कल्पनामें जीवनकी सम्भावनाओंकी एक नयी दुनिया बसारहे हैं, उनमें आज़ाद रहनेका निश्चय भररहे हैं। चीन जिन परिस्थितियोंमें फँसा है उनमें एक ऊँची-से-ऊँची कलाका लक्ष्य इससे ज़्यादा ऊँचा नहीं होसकता। यह बात नहीं है कि चीनके महान् कलाकार 'शाश्वत गीत' रचनेके लोभमें इस महान् जागरणके प्रति उदासीन हों, या अशिक्षित ग्रामीणोंकेलिए उनकी ही भाषामें नाटक लिखनेसे विमुख होते हों। नहीं, ठीक इसके विपरीत चीनका महान् आलोचक चेन फ़ाँग वू और सर्वप्रसिद्ध लेखिका टिंग लिंग इन नाट्य - समितियोंकेलिए नाटक लिखनेमें पूरा सहयोग देरहे हैं।

संक्षेपमें इन उदाहरणोंसे तीन बातें स्पष्ट हैं—पहली तो यह कि वहाँ जन-नाट्यशालाकी उपयोगिता और महत्त्वके प्रति सभी प्रगतिशील लेखक सचेत हैं और अपने-अपने यहाँकी विशेष परिस्थितियोंको ध्यानमें रखकर जन - नाट्यशालाओंका विकास कररहे हैं; दूसरी यह कि इन जन - नाट्यशालाओंके नाटकोंमें राजनैतिक नाटकोंकी प्रधानता रहती है; तीसरी यह कि श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ कलाकार और नाटककार इस प्रकारके नाटक लिखनेमें लज्जित नहीं होते वरन् पूरा उत्साह दिखाते हैं।

(३)

अन्य देशोंकी जन-नाट्यशालाओंके अनुभवको दृष्टिमें रखकर अब हमें भारतीय रंगमंचकी वर्तमान दशा और उसके भावी रूपपर विचार करना चाहिए।

प्राचीन भारतमें नाट्यशालाका चाहे जो स्थान रहा हो, लेकिन आधुनिक युगमें तो उसकी उपेक्षा ही कीगयी है। वैसे बंगाल, संयुक्तप्रान्त, महाराष्ट्र, आन्ध्र तथा अन्य प्रान्तोंमें पिछली शताब्दीके उत्तरार्द्धसे ही रंगमंच स्थापित करनेकी कोशिशें हुई हैं किन्तु वे अधिक सफल नहीं होसकी हैं— कम-से-कम वे एक जन-नाट्यशालाका निर्माण करनेमें एकदम असफल हुई हैं। इन रंगमंचोंका उद्देश्य व्यावसायिक अथवा अधिक-से-अधिक समाज सुधार ही रहा है, उन्होंने कभी ग्रामीण जनतामें जाग्रति और शिक्षा फैलानेका उद्देश्य सामने रखकर कार्य नहीं किया; इसी कारण वे टिकाऊ भी न होसके और व्यावसायिक-क्षेत्रकी अराजकताके शिकार होतेरहे। कहनेका तात्पर्य यह कि ये सब रंगमंच जनतासे 'प्राण-सम्बन्धित' न होकर नगरोंके पूँजीपति वर्ग और उच्च मध्यवर्गकी भावनाओं और विचार-धाराओंके विज्ञापन-केन्द्र बनेरहे।

उदाहरणकेलिए महाराष्ट्रको लीजिए, क्योंकि महाराष्ट्रमें रंगमंचका विकास बंगालको छोड़कर अन्य प्रान्तोंकी अपेक्षा ज़्यादा हुआ था। वहाँ सन् १८८० में ही रंगमंचकी स्थापना होगयी थी और स्वर्गीय अन्ना साहब किर्लोस्करकी देख-रेखमें पहले-पहल 'शकुन्तला' का अभिनय रंगमंचपर हुआ। उन दिनों समाजके आदर्शोंके अनुसार स्त्रियोंको रंगमंचसे दूरही रखा जाता था, अन्ध-विश्वासकी पराकाष्ठा थी, अतः पुरुष ही स्त्रियोंका पार्ट भी अदा करते थे। जितने भी अभिनेता थे वे सब गायक होते थे, इस कारण नाटक में संगीत प्रधान था, अभिनय अथवा नाटक-कला एवं विचार-श्रेष्ठता नहीं। किर्लोस्कर-संगीत-मण्डली, जो अब नाटक-मण्डली बनगयी थी, ख्याति प्राप्त करगयी। स्वर्गीय बाल गंगाधर तिलकने भी इस प्रयत्नकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और अपना सहयोग प्रदान किया। इन नाटकोंकी नाट्यकला साधारण थी, छह-सात घण्टेमें एक नाटक खेलाजाता था, मेकअप साधारण होता था और लालटेनों और हण्डोंकी रोशनी होती थी। अन्ना साहबके बाद

भाऊराव कोल्हटकर मण्डलीके प्रधान हुए। अन्ना साहबके समयमें जितने नाटक खेलेगये उन सबके कथानक संस्कृतके नाटकोंसे लियेगये थे, किन्तु कोल्हटकरके समयमें श्री गोविन्द वल्लाल देवलका प्रथम सामाजिक नाटक 'शारदा' अभिनीत कियागया। यह बाल-विवाह और धनकी लिप्साके विरुद्ध था। इसका यही महत्त्व है कि इसमें सबसे पहले समाजकी समस्याएँ पेश कीगयीं। इसके बाद श्रीकृष्णपाद कोल्हटकर आदि सामाजिक उत्थानके भावों से उत्प्रेरित नाटककार पैदाहुए और उन्होंने मदिरा-पान, स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह, अन्तर्जातीय विवाहकी समस्याओंपर नाटक लिखे। ये समस्याएँ हमारे मौजूदा समाजकी समास्याएँ हैं; किन्तु इन नाटकोंके पात्र, उनके चारों ओरका वातावरण महाराजों, महारानियों और राजप्रासादोंसे घिरा रहता था अर्थात् समाजके उन वर्गोंसे जोकि आधुनिक समाजके गलित-अंग हैं। इस कारण कथानकमें रोचकता लानेकेलिए प्रेम और प्रणयका वातावरण भी खड़ा कियागया, किन्तु ये नाटक प्रभावशाली न होपाये। दूसरे जनता में नाटकोंकी कोई पैठ न थी, वे केवल मध्यमवर्गके मनोरञ्जनके ही साधन थे। इस कारण उनका भावी विकास एक बड़े सँकरे रास्तेसे होकर गुज़र रहा था। यदि श्रीपाद कोल्हटकरके नाटकोंकी तड़क - भड़कदार सेटिंग, साधारण परिहास और कथानकमें रहस्य-तत्त्व न होते तो भाऊराव कोल्हट-करकी मृत्युके बाद, जो स्त्रीका पार्ट बड़ी खूबीसे अदा करते थे, किर्लोस्कर संगीत-मण्डली बैठजाती।

इसके बाद औरभी कम्पनियाँ खुलगयीं, महाराष्ट्र-मण्डली और साहु-नगरवासी मण्डली इनमेंसे प्रमुख थीं। इनकी विशेपता यह थी कि ये गद्यमें नाटक खेलती थीं। महाराष्ट्र-मण्डली ऐतिहासिक नाटक खेलती थी और साहु-नगरवासी मण्डली अंग्रेज़ी नाटकोंके आधारपर बनाये नाटक खेलती थी। महाराष्ट्र-मण्डलीका एक नाटक 'कीचक-वध', जिसके लेखक तिलक महाराजके शिष्य के० पी० खाडिलकर थे, सरकारने ज़ब्त करलिया था, क्योंकि उसमें राजनैतिक बातोंका भी समावेश था। ये दोनो कम्प-नियाँ क्रमशः सन् १६३० और सन् १६१७ में समाप्त होगयीं।

इस बीचमें दो महान् अभिनेता उत्पन्न हुए: एक-केशवराव दाते और दूसरे किर्लोस्कर मंडलीके बालगन्धर्व। इन दोनों अभिनेताओंके कारण महाराष्ट्रके रंगमंचमें एक नया जीवन आगया। कुछ दिनों बाद

बालगन्धर्वने अपनी अलग कम्पनी खोली—गन्धर्व नाटक-मण्डली। खाडिलकर और रामगणेश गड्करी आदि नाटककारोंके नाटक अत्यन्त प्रसिद्ध होगये। बालगन्धर्व स्त्रीका पार्ट करते थे। उन्होंने साड़ियाँ पहिनने के नये-नये फ़ैशन निकाले जो कि बम्बईके कुलीन समाजमें प्रचलित हो गये। वे मेकअपकेलिए पैरिससे सामान मँगाते थे, अतः वेष-भूषा और साज-सज्जाके कारण उनके नाटक उच्चवर्गोंमें इतने सर्वप्रिय होगये कि उन्हें डेढ़ लाख रुपएकी वार्षिक आय होनेलगी।

सन् १९२९ से स्त्रियाँ भी रंगमंचपर आनेलगीं। प्रारम्भमें वेश्याएँ ही अधिक होती थीं, शिष्ट समाजकी एक-दो ही। अब नाटक स्त्रियोंके बल पर चलाये जानेलगे, कलाकारोंकी ओर उतना ध्यान न दियागया। इस कारण ये कम्पनियाँ एक-एककर टूटनेलगीं और जब सवाक् फ़िल्में चल निकलीं तो रंगमंचकी रीढ़ ही टूटगयी। यहाँतक कि दो एक वर्षकेलिए बालगन्धर्व भी फ़िल्मोंमें काम करने चलेगये। सन् १९३६ से वे फिर अपनी नाटक-मण्डली चलारहे हैं लेकिन अब उसमें उतनी सफलता नहीं मिलरही।

यह तो महाराष्ट्रका हाल है जहाँका रंगमंच एक क्रम-बद्ध इतिहास का दावा करसकता है। हमारे हिन्द प्रान्तमें तो रंगमंचके विकासकेलिए इतनाभी नहीं हुआ है।

महाराष्ट्रके रंगमंचके विकास और ह्रासका वर्णन पढ़कर हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि—

(अ) रंगमंच उच्चवर्गोंकी रुचि और मनोरञ्जनका विचार कर उन्हीं वर्गोंकी विचारधाराके अनुकूल नाटक खेलतारहा;

(ब) आधुनिक जीवनकी समस्याओंपर किसी क्रान्तिकारी सिद्धान्तका आधार लेकर उसने आक्रमण नहीं किया;

(स) उसका उद्देश्य व्यावसायिक था, सांस्कृतिक चेतना फैलाना नहीं;

(द) उसके ह्रासका मुख्य कारण यह था कि उच्चवर्ग सवाक् चित्र-पटकी ओर झुकगये, अतः रंगमंचका दर्शक-वर्ग उसके हाथसे निकलगया;

(ई) सवाक् चित्रपटने रंगमंचसे बाज़ी इस कारण मारली कि रंगमंचमें कृत्रिमता और व्यर्थ-साज-सज्जा ही अधिक थी, कला अथवा जीवन की अभिव्यंजना कम। वह केवल अभिनेता-प्रधान था, ललित कलाओंके समन्वयका स्थान नहीं। सवाक् चित्रपटकी खूबी यह थी कि वह उस रंगमंचकी सस्ती और छिछली कलाको उससे कहीं-ज़्यादा बड़े पैमानेपर दिखा सकता था, इस कारण रंगमंचके अस्तित्वकी आवश्यकता न रही।

यहाँपर इतने ब्योरेमें जानेकी आवश्यकता इसलिए पड़ी कि आजकल जो लोग भारतीय रंगमंचके पुनरुद्धारकी चर्चा करते हैं, उनकी कल्पना में ऐसेही वर्ग-रंगमंचकी एक आदर्शपूर्ण तसवीर रहती है। मेरा विचार है कि इस प्रकारके प्रयत्न चाहे कुछ दिनोंकेलिए सफल होजायें किन्तु वे एक स्थायी रंगमंच नहीं क़ायम करसकते, और यदि ऐसा सम्भव भी होजाय तो वे जन-नाट्यशालाकी नींव नहीं डाल सकते—ऐसी नाट्यशालाकी जो जनताकी आध्यात्मिक आवश्यकताओंकी पूर्ति करती हो। वे केवल व्यवसाय के क्षेत्र ही बनसकते हैं, अतः कलाकी उन्नति कहाँतक करसकते हैं यह सन्दिग्ध है।

इसलिए हम जिस जन-नाट्यशालाकी कल्पना करते हैं वह पारसी कम्पनियोंकी परिपाटीको लेकर नहीं चलसकती और न उच्चवर्गोंकी रुचिका विचार कर मानसिक-वेश्यालयका केन्द्र बनसकती है। उसे पूर्व-निर्दिष्ट जन-आधारपर ही खड़ा होना होगा और जन-संस्कृतिको परिमार्जित और परिष्कृत कर उसे सौन्दर्य और सौष्ठव प्रदान करना होगा।

मेरी सम्मतिमें भारतकी जन-नाट्यशालाका नाम 'राष्ट्रीय नाट्यशाला [People's National Theatre] होना चाहिए। भारतकी सबसे बड़ी हक़ीक़त उसकी राष्ट्रीय आज़ादीकी लड़ाई है, इसलिए यहाँकी नाट्यशाला 'राष्ट्रीय' होकरभी प्रगतिशील और क्रान्तिकारी होसकती है। इस राष्ट्रीय जन-नाट्यशालाकी रूपरेखा क्या होगी, उसका संगठन कैसे होगा?

मेरा अपना विचार है कि अभी हमें अपनी 'राष्ट्रीय जन-नाट्यशाला' के दो भाग करने पड़ेंगे। एक नगरोंकी निम्न मध्यमवर्गी जनताकेलिए, दूसरी किसान-मज़दूरोंकेलिए। क्योंकि दोनोंकी समस्याएँ एक होकर भी दो भिन्न रूपोंमें हमारे सामने आती हैं। पहले हम किसान-मज़दूरोंकी नाट्यशाला की रूपरेखापर विचार करेंगे।

किसान-मज़दूरोंकी नाट्यशालाका महत्त्व इस बातमें निहित होगा कि वह किसान-मज़दूर जनतामें केवल चेतना—वर्गचेतना—ही नहीं उत्पन्न करेगी वरन् उसकेलिए एक शिक्षाका केन्द्र भी होगी। मैं ऊपर मौजूदा ग्राम्य-नाट्यशालाओंका ज़िक्र करचुका हूँ। रामलीला, रासलीला, स्वाँग, भड़ैती, नौटंकी आदि उनकी नाट्यशालाएँ हैं। मेरा विचार है कि इनमेंसे नौटंकीका विकास कर हम उसे राष्ट्रीय जन-नाट्यशालाका रूप देसकते हैं।

कुछ लोगोंको नौटङ्कीपर आपत्ति होसकती है। क्योंकि इस समय वह कलाकी ही दृष्टिसे निकृष्ट नहीं वरन् अन्य सभी दृष्टियोंसे दकियानूसी विचारोंकी पोषक और प्रतिक्रियाकी संरक्षक है। किन्तु मेरी निश्चित धारणा है कि नौटङ्कीमें विकास किया जासकता है, उसकी अभिनय-कला और रूपक-शैलीमें उन्नति कीजासकती है और प्रगतिशील-क्रान्तिकारी नौटङ्कियाँ लिखकर उनका अभिनय भी कराया जासकता है। इसके अतिरिक्त मैं नौटङ्कीके माध्यम द्वारा जन-नाट्यशालाकी रूपरेखा इसलिए भी बनानेके पक्षमें हूँ कि हमारे सामने इससे अधिक प्रभावशाली दूसरी शैली नहीं है। हम पूँजीवादी रङ्गमञ्चोंका वर्णन पढ़चुके हैं और उनकी सीमाओंको भी जानगये हैं। हमारे पास न इतने साधन हैं कि व्यावसायिक रङ्गमंचोंकी तरह वेश-भूषा और पर्दोंपर पानीकी तरह रुपया बहायें और न हमारे दर्शक ऐसे होंगे जो गद्देदार कुर्सियोंपर बैठकर ही खेल देखना स्वीकार करें। किसान-मज़दूर जनता खुले मैदानमें बैठकर ही देखती आयी है। फिर नौटङ्कीमें पर्दों की ज़रूरत नहीं पड़ती, मैदानमें या एक शामियानेमें चार-छह तखत बिछाकर या ऊँचे चबूतरेपर कपड़ा बिछाकर एक-दो गैसोंकी रोशनीमें पूरा अभिनय होजाता है। बाजे भी बहुत कम लगते हैं—पूरा आर्केस्ट्रा रखनेकी क़तई ज़रूरत नहीं—एक नगाड़ा, एक नगड़िया, एक जोड़ी तबला, हारमोनियम और मजीरा, बस। नौटङ्कीकी पहुँच भी किसान-मज़दूर जनता तक बहुत ज़्यादा है। यह उन्हींकी चीज़ है और हमें जनतामें विशेषकर उन्हीं कला-रूपों (art forms) का उपयोग करना चाहिए जो उसमें प्रचलित हैं, और जिनका उसपर प्रभाव है। राष्ट्रीय कला-रूपोंमें प्रगतिवादी विचार-वस्तु (content) ही किसीभी क्रान्तिकारी जन-जागरणका उद्देश्य और कार्यक्रम होगा।

वेश-भूषा बनानेकी भी ज़रूरत न पड़ेगी, इस प्रकार बहुत सस्तेमें काम चल जायगा। इन जन-नाटयशालाओंकेलिए नौटङ्कियाँ किसान मज़दूरके दृष्टिकोणसे ही लिखी जानी चाहिएँ। उनमें किसान-मज़दूरोंकी मुसीबत, उनके दुख-दर्द, उनपर होनेवाले शोषण-अत्याचार; उनके संगठन-आन्दोलन-संघर्षका चित्रण होना चाहिए। इसके साथही किसान-मज़दूर-विरोधी शक्तियों—महाजन, ज़मींदार, कारकुन, पटवारी, अदालत, थानेदार, फ़ोरमैन, मैनेजर, पूँजीपति और सरकारी अहलकार आदि—की हास्यास्पद व्यंगपूर्ण तसवीर खींचनेकेलिए हमें गाँवोंमें प्रचलित स्वाँग, विदूषक, भाँड, व्यङ्ग, मुद्रा आदिका भी प्रयोग करना चाहिए। नौटङ्कियोंको अधिक प्रभावोत्पादक एवं जनप्रिय बनानेकेलिए हमें उनमें लोक-संगीत और लोक-नृत्यको भी स्थान देना आवश्यक होगा। किसान-मज़दूरोंमें बिरहा, कजली, आल्हा, साखी, चौताल, पूर्वी, कबीर, होली, फाग, कवित्त, सावनी, चैती, बिरौनी, जुतौनी, बुओनी, कतकी, शहनाई, कहरवा आदि अनेक प्रकारके गीत प्रचलित हैं जिन्हें वे अनेक ढङ्गसे गाते हैं। कई इनमेंसे सामूहिक ढङ्गसे गाये जाते हैं। इन गीतोंका उनके जीवनके विविध कार्योंसे सीधा सम्बन्ध होता है, अतः किसीभी जन-नाटयशालामें उनका प्रयोग महत्वपूर्ण होगा। इन्हीं गीतोंके छन्दोंमें वर्ग-दृष्टिकोणसे प्रगतिशील गीत लिखकर हम उन्हें रंग-मंचसे गासकते हैं।

मथुरा ज़िलेके प्रसिद्ध ग्राम-कवि श्री सात्यकि शर्माने कुछ क्रान्तिकारी चौमासे और बारहमासे लिखे हैं, जिनमें उन्होंने किसानोंके अनुभवों, आशाओं और निराशाओंका मार्मिक चित्र खींचा है। फ़रीदाबादके ग्राम-कवि-सम्मेलनमें जब उन्होंने ये चौमासे-बारहमासे सुनाये तो किसानोंपर उनका जादूका-सा प्रभाव पड़ा। अतः ग्राम-कवियोंकी सहायतासे हमें ऐसे गीत लिखने-लिखाने चाहिए। हम पहलेही देखचुके हैं कि अभीतक हमारी मज़दूर-किसान जनतामें कविता-साहित्य ही प्रचलित है। अतः इसमें सन्देह नहीं कि कुछही दिनोंमें वे प्रगतिशील गीत उनकी ज़बानपर चढ़जायेंगे।

इन गीतोंके साथ ये लोग अनेक प्रकारके बाजे भी इस्तेमालमें लाते हैं, जैसे हुडुक, मृदङ्ग, पखावज, ढोल, बाँसा, कड़ा चिकारा, तम्बूरा, रोशन चौकी, झाँझ, मजीरा, ताशा, तुरही, ढपला, खड़ड़ी आदि। हम उनका भी प्रयोग करसकते हैं। गाँवोंमें ये बाजे भी मिलजाते हैं, और उनके बजाने

वाले भी। इन जनवाद्योंको एकत्र कर हम यदि एक जन-आर्केस्ट्राकी सृष्टि करसके तो वाद्य-सङ्गीतके विकासमें एक बड़ा क़दम उठाएँगे। इसी प्रकार लोक-नृत्यका भी हम उपयोग करसकते हैं। नाटक ही एक ऐसी कला है जिसमें सभी ललित कलाओंका समन्वय होता है, अतः लोक-नृत्य, लोक सङ्गीत, लोक गीत आदिसे समन्वित जन - नाटयशाला आजकी नौटङ्कीकी तरह छिछली कलाका प्रदर्शन न करेगी।

जन-नाटयशालाका दूसरा अङ्ग वह होगा जिसके दर्शक अधिकांश में नगरवासी निम्न मध्यमवर्ग या मध्यमवर्गके उदार विचार-सम्पन्न व्यक्ति होंगे। विद्यार्थी, वकील, डॉक्टर, दुकानदार आदि इसमें शामिल हैं। इनमें नौटङ्की न प्रचलित होसकेगी। इसलिए यहाँकी नाटयशालाका बहुतकुछ रूप वही होगा जो कि इंगलैंडके यूनिटी-थियेटरका था। प्रारम्भमें यूनिटी-थियेटरमें खेलेगये नाटकोंके आधारपर लिखे नाटक खेले जासकते हैं। अन्यथा नगरवासी जनताकी समस्याओंपर लिखे मौलिक नाटक ही खेले जाने चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं है कि किसान - मज़दूर - जीवनकी वास्तविकता उनमें दिखायी ही न जाय बल्कि आधुनिक समाज-व्यवस्थाने इस वर्गके लोगोंकेलिए जो समस्याएँ उपस्थित करदी हैं—राजनीतिक, सामाजिक, व्यक्तिगत—उनके प्रदर्शनकी ही प्रधानता होनी चाहिए। जहाँतक सेटिंग और मेक-अपका सम्बन्ध है वहाँ हमें सादगीसे ही काम लेना अपेक्षित होगा।

इन नाटकोंकी शैलीके बारेमें हमें दो - तीन बातें ध्यानमें रखनी आवश्यक हैं। पहिली यह कि हमें अपने नाटकोंमें 'क्लासिकी' शैली एकदम नहीं छोड़ देनी चाहिए। हाँ नाटकीय संघर्षका तरीक़ा बदल जायगा। यह एक व्यक्तिका दूसरे व्यक्तिसे व्यक्तिगत संघर्ष न होगा और न यह संघर्ष मशीन-जनित आधुनिक संस्कृतिको गर्हित-वर्जित साबितकर प्राचीन आर्य अथवा मध्यकालीन मुग़ल संस्कृतिकी महत्ता प्रतिपादित करनेकेलिए नवीन और पुरातनमें संघर्ष होगा। इन नाटकोंमें दो शक्तियोंके परस्पर संघर्षका चित्रण होगा : प्रतिक्रियावादी और प्रगतिशील। इस संघर्षका एक सामाजिक उद्देश्य होगा, सामाजिक निश्चय होगा, और उसीके आधारपर संकट (crisis) का विकास होगा। किसी सामाजिक या राजनैतिक परिस्थिति का चित्रण करकेही यह संघर्ष दिखाया जासकता है। व्यंग, विदूषक और

प्रहसन इस संघर्षके विकासमें सहायक होंगे। इसलिए उनका प्रयोग इन नाटकोंमें रहेगा।

यह मोटे तौरपर हमारी जन-नाट्यशालाकी रूपरेखा हुई। इसका निर्माण कैसे होगा, उसकेलिए नाटक कहाँसे आवेंगे, अब यही सवाल रहजाते हैं। यह तो निर्विवाद है कि जन-नाट्यशालाका जो रूप हमने निर्दिष्ट किया है उसमें विश्वास रखनेवाले व्यक्ति या संस्थाएँ ही उसका निर्माण करसकती हैं। प्रगतिशील लेखक-संघ, विद्यार्थी संघ, मजदूर-यूनियन और किसान सभाएँ मिलकर इस सांस्कृतिक कार्यको उठासकते हैं और एक राष्ट्रीय-जन-नाटक समिति (Peoples' National Dramatic Society) कायम करसकते हैं जिसमें कवि, लेखक, नाट्यकार और संगठनकर्ता और प्रगतिशील विचारोंके अन्य व्यक्ति रखेजायँ। इस नाट्यशालाके स्थापित करने और उसकेलिए सारे उपकरण-साधन जुटानेका भार इस समितिके ऊपर रहे। प्रारम्भमें किसी एक नगर और ज़िलेमें उसकी स्थायी रूपसे स्थापना कीजाय। उसके पश्चात् विभिन्न स्थानोंके उत्साही कार्यकर्त्ताओं और अभिनेता-अभिनेत्रिओंका नाट्यशाला-सम्बन्धी एक शिक्षा शिविर खोलाजाय। यदि एक नगर और एक ज़िलेमें यह योजना सफल होगयी तो हर जगह की जनतामें जन-नाट्यशालाके प्रति उत्साह उमड़ पड़ेगा और इसकी शाखाएँ आसानीसे स्थान स्थानपर खुलसकेंगी।

जन-नाट्यशालाकी स्थापना करना साधारण कार्य नहीं है। एक दो नगरों और ज़िलोंमें ही उसे स्थापितकर सन्तोष नहीं किया जासकता। क्योंकि हम पहलेही देखचुके हैं कि जन-नाट्यशालाको भारतके तीस-पैंतिस करोड़ किसान-मज़दूरोंके आध्यात्मिक एवं मानसिक विकासका गुरुतर भार उठाना होगा, यदि हम वास्तवमें उसे जन-नाट्यशाला बनाना चाहते हैं। अतः प्रबुद्ध व्यक्तियों और प्रगतिशील संस्थाओंकी शक्तिका प्रत्येक तोला उसके निर्माणमें लगना चाहिए।

कथा-साहित्यकी समस्याएँ

इस समय हिन्दीमें कथा-साहित्य तेज़ीसे बढ़रहा है। कुछ लोग तो पेशेसे कहानी या उपन्यास-लेखक हैं ही—और उनकी संख्या दर्जनोंसे ऊपर है—लेकिन स्कूल और कॉलेजोंमें विद्यार्थियोंकी एक बहुत बड़ी संख्या कहानी लिखनेकी ओर प्रवृत्त होरही है। हिन्दीमें आधुनिक कहानी बहुत नयी चीज़ है, क़रीब एक चौथायी शताब्दीकी। फिरभी जितने लेखक, छोटे या बड़े, इस कलाका विकास करनेमें लगेहुए हैं, उनसे बड़ी बड़ी आशाएँ बँधती हैं। परन्तु एक बात ध्यान देनेकी है। हिन्दीमें जो पत्र-पत्रिकाएँ निकलती हैं उनमें वैसे कहानियाँ तो काफ़ी संख्यामें रहती हैं—इतना ही क्यों, कोई एक दर्जन पत्रिकाएँ तो कहानीकी ही होंगी—लेकिन ये अक्सर दूसरी या तीसरी कोटिकी ही कहानियाँ होती हैं। प्रथम कोटिकी कहानियाँ तो कभी कभी ही देखनेको मिलती हैं। फिर कोई लेखक आज उच्च कोटिकी कहानी लिखलेता है तो कल उसीकी क़लमसे तीसरे और चौथे दर्जेकी कहानी निकलती है। मेरे सामने यह प्रश्न अक्सर उठा है कि एक कहानीमें कोई लेखक जितनी सफलता पाचुका है अगली कहानियोंमें वह उससे अधिक सफलता क्यों नहीं पाता? क्या कारण है कि इतने कथाकारोंके होतेहुए भी श्रेष्ठ रचनाओंका निर्माण यदा-कदा ही होरहा है? इन प्रश्नोंने मुझे हैरान किया है और आज आपने मुझे अपने गल्प-सम्मेलनमें बुलाकर इन प्रश्नों पर विचार करनेकेलिए जो अवसर दिया है उससे मैं पूरा लाभ उठाना चाहता हूँ, और चाहता हूँ कि आप भी इन प्रश्नोंपर मेरे साथ सोचें। क्योंकि अभी आपमेंसे कईने अपनी कहानियाँ पढ़कर सुनायी हैं, और कुछ आपमें से ऐसेभी होंगे जिन्होंने यहाँपर सुनायीं तो नहीं लेकिन जो कहानियाँ लिखते हैं या लिखनेकी इच्छा रखते हैं। आपमेंसे कुछकी कहानियाँ शायद किसी पत्रमें प्रकाशित भी हुई हों और मैं ऐसी आशा क्यों न करूँ कि आपमेंसे कुछ आगे चलकर बड़े कहानी-लेखक भी बनेंगे। परन्तु यहाँ जो कहानियाँ पढ़ीगयी हैं उन्हें सुनकर मुझे गहरी निराशा हुई है। उन कहानियोंके

ऐसा लगा है कि अगर प्रोत्साहन देनेके विचारसे उनमेंसे कुछ रचनाओं को छाप भी दियाजाय तोभी उनके लेखक शायदही कभी साहित्यकी ऊँची चोटियोंको छूसकें। आप प्रश्न करसकते हैं कि हर नये लेखकसे श्रेष्ठ अभिव्यक्तिकी अपेक्षा क्यों रखूँ? और फिर यदि प्रोत्साहन न दियाजायगा तो लेखकके व्यक्तित्वका विकास कैसे होगा? ये प्रश्न संगत हैं, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन लिखनेकी फिर सार्थकता ही क्या रहजाय यदि अधिकतर लेखक सारा जीवन लिखनेमें ही बितादें और फिरभी कोई श्रेष्ठ चीज़ न लिखपायें? हिन्दीमें ऐसे कितने लेखक आपको नहीं मिलते? इसलिए किसी लेखककी प्रारम्भिक रचनाओंके प्रति उदारता दिखानेका ही यह प्रश्न नहीं है और यह जानतेहुए भी कि महान् लेखक या कलाकार बने-बनाये पैदा नहीं होते—अधिक-से-अधिक वे अपेक्षाकृत ज़्यादा विकसित वृत्तियोंको लेकर जन्मते हैं और चारों ओरके सामाजिक जीवनके वातावरणसे संघर्ष में पड़कर वे वृत्तियाँ उनके अन्दर अपेक्षाकृत अधिक तीव्र अनुभूति, पैनी दृष्टि और सूक्ष्म भाव-चेतनाका विकास करनेमें सहायक होती हैं—तथा यह जानतेहुए कि कितनेभी अध्यवसाय और प्रोत्साहनसे ही कोई लेखक महान् नहीं बनसकता, यद्यपि प्रोत्साहनकी कमी और अध्यवसायके अभावमें और सामाजिक परिस्थितियोंकी विषमताके कारण अनेक प्रतिभासम्पन्न-क्षमताशील लेखकोंकी सृजनशक्ति निकास न पानेके कारण घुटकर सूखजाती है, मैं यह माननेको तैयार नहीं हूँ कि यदि थोड़ी-सी भी साहित्यिक वृत्तियों का लेखक गम्भीरता-पूर्वक अपने लेखन-कार्यकी आवश्यकताओंको समझकर प्रयत्न करे तो वह साधारणतया अच्छा नहीं लिखसकता। और चूँकि हिन्दीमें चन्द लेखकोंको छोड़कर अधिकांश साधारण तलकी चीज़ भी नहीं लिखते, इस कारण मेरा यह सोचना भी उचित है कि यदि किसी लेखक की प्रारम्भिक रचनाओंमें उन्हें अच्छा बनानेकी गम्भीर चेष्टाका अभाव है तो उसे प्रोत्साहन देकर हिन्दीके साधारण लेखकोंकी नयी क़तारें खड़ी करने से लाभ क्या? इसका यह अर्थ नहीं कि मैं इन लेखकोंकी साधारण रचनाओंमें लगे श्रमका सम्मान नहीं करता, यदि न करता तो आपके सामने यह प्रश्न न उठाता। लेकिन क्यों हमारे लेखकोंकी नयी पौध भी निर्जीव-सी निकले? साहित्यके सभी अंगोंपर यह बात लागू होती है और यह समस्या सर्वव्यापी है। परन्तु यहाँ हम कथाकारके रूपमें एकत्र हुए हैं और हमें यह

स्वीकार करना चाहिए कि हिन्दीके कथा-साहित्यके क्षेत्रमें साहित्यिक शक्तियों का अपव्यय विराट् सीमातक पहुँचगया है।

इस प्रश्नके 'क्यों' और 'कैसे' पर पहलेभी आक्रमण किया जाचुका है। यहाँ एक-दोका उल्लेख करना ज़रूरी है। इस समस्याको कई रूपसे पेशभी कियागया है। छिछला साहित्य ही क्यों पैदा होरहा है? जीवनसे साहित्यका सम्बन्ध टूटा-सा क्यों लगता है? हमारे साहित्यमें राष्ट्रकी आत्मा अर्थात् उसका सुख-दुःख, उसका संघर्ष, उसकी आकांक्षाएँ क्यों नहीं बोलतीं? उसमें प्राण-रसका अभाव क्यों है जिससे वह शुष्क और उथला होरहा है? और इस कमीकी पूर्तिकेलिए 'मधुकर'-सम्पादक पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी ने एक रामबाण औषधि ईजाद की कि लेखकोंको अपने-अपने नगरके अन्दर मच्छर मारने, चूहे पकड़ने और कुनैन बाँटनेका काम उठाना चाहिए! काफ़ी विज्ञापनके बादभी लेखकोंने इस औषधिका इस्तेमाल नहीं किया—करना भी नहीं चाहिए था। चतुर्वेदीजीका विचार था कि इस तरह लेखक जनताके संपर्क में तो आवेंगे ही, वे कुछ ज्यादा व्यावहारिक प्राणी भी बनसकेंगे। लेकिन समस्याका यह समाधान एकांगी और उथला था, ग़लत भी था। मैं यह नहीं कहरहा कि जनतासे सम्पर्क न स्थापित कियाजाय, वह तो करना ही चाहिए, लेकिन किसी कामको करनेका एक ढंग होता है। कम-से-कम सड़कपर चूहे पकड़नेसे तो जनतासे एकात्म नहीं हुआ जासकता, और न उससे साहित्य को नयी प्रेरणा और शक्ति ही मिलसकती है। फिरभी जो लोग पतली-सी टहनीको देखकर उसेही समूचा पेड़ मानलेते हैं, वे ऐसीही ग़लती करते हैं। इसके दूसरे छोरपर जो लोग 'टेकनीक' को ही महत्व देते हैं, वे एक दूसरी तरहसे इस प्रश्नके एक पार्श्वपर आक्रमण करते हैं। नये कथा-साहित्यकी त्रुटियोंपर रोशनी डालते हुए वे सुझाव पेश करते हैं कि लेखकोंको कहानी-कलाको पहले समझकर हो लिखना चाहिए। कहानी क्या है, उसका प्लॉट कैसा हो या कैसे बनायाजाय, असम्बद्ध घटनाओंको काट-छाँटकर कैसे जोड़ा जाय, कथोपकथन और परिवेशके द्वारा पात्रोंका चरित्र-चित्रण कैसे किया जाय, शैलीमें प्रभावोत्पादकता और वैचित्र्य कैसे लाया जाय, अर्थात् कहानी का प्रारम्भ और अन्त कैसे कियाजाय, बीचमें 'सस्पेन्स' का तत्त्व कैसे क़ायम रखाजाय, लेखक कहानी स्वयं कहे मानो घटनाएँ उसकेही जीवनमें हो रही हों या किसी पात्रके मुखसे कहलाये या घटनाओंका ऐसा संगठन करे

कि लेखकका आशय जो चरित्र निर्माण करना है या किसी मनोवैज्ञानिक तथ्य की अनुभूति कराना है, या किसी सामाजिक समस्याकी गम्भीरता दिखानी है, वह सब अपने आप व्यक्त होताजाय — कहानीके इन मूल तत्त्वोंको खूब जान-समझकर ही लेखकोंको लिखना चाहिए। चूँकि वे ऐसा नहीं करते, हिन्दीमें उच्चकोटिकी कहानियाँ नहीं पैदा होतीं। इसीलिए अधिकांश कथा-शास्त्री जब कहानीके बारेमें अपनी प्रस्तावनाएँ और भूमिकाएँ लिखने बैठते हैं तो वे पाठकों या विद्यार्थियोंको यह समझाने लगते हैं कि कहानीमें एक प्लॉट होना चाहिए, और पात्र होने चाहिए, और प्लॉटको आगे बढ़ानेकेलिए और पात्रोंका चरित्र खोलनेकेलिए कथोपकथन होना चाहिए, और शैली और उद्देश्य होना चाहिए, और इन गुणोंको पानेकेलिए लेखकको यह या वह करना चाहिए—और इतनी-सी छोटी भूमिपर उनकी सारी विद्वत्ता घटाटोप-सी छाकर बरसजाती है! मानो कहानी कोई निरपेक्ष चीज़ है, अपने आपमें एक ऐसी इकाई है जो कभी बदलती नहीं, जिसके गुणोंका विकास नहीं होता; जिस जीवन या मनोवैज्ञानिक तथ्यका वह चित्रण करती है उसकी गहराई, उसकी प्रवहमानता और उसके महत्त्वसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। ऑक्सीजन और हाइड्रोजन मिलानेसे पानी बनजायगा, इस तरहका फॉर्मुला निकालकर वे श्रेष्ठ कहानी तैयार करनेका पाठ सिखाते हैं! काव्यकी तरह कहानीमें भी रीति-परम्परा चलानेका यह प्रयत्न निरर्थक है। मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि कहानी या उपन्यासमें 'टेकनीक' का कोई महत्त्व नहीं, या उनकी विशेष 'टेकनीक' नहीं होती; लेकिन 'टेकनीक', किसी भी कलाकी 'टेकनीक' एक विकासमान चीज़ होनी चाहिए, फ़ॉर्मुला नहीं। इस प्रकार ये सुझाव समस्याका सही हल नहीं पेश करते। सही हल पानेकेलिए व्यापक दृष्टिकोणकी ज़रूरत है।

हिन्दीका कथा-साहित्य इतने लेखकोंके होतेहुए भी सच्चे अर्थोंमें सन्तोषप्रद उन्नति क्यों नहीं कररहा है इसके दो मुख्य कारण हैं। पहिला कारण व्यक्तिगत है, दूसरा सामाजिक। व्यक्तिगत यह कि हमारे तरुण लेखक कथा-साहित्यकी आवश्यकताओंके प्रति सचेत नहीं हैं, क्योंकि उनके अध्ययनकी परम्परा ही दोषपूर्ण रही है। उस परम्पराके अन्तर्गत, जैसा मैं आपको अभी बताचुका हूँ, कहानीको एक निरपेक्ष, परिवर्तनहीन, स्थविर चीज़ माना जाता है। पर कहानी तो एक कला है और इसलिए विकासशील है।

उसका विकास व्यक्ति विशेषके माध्यमसे होता है। अर्थात् एक श्रेष्ठ लेखक कहानी-कलाको जिस धरातलपर उठाकर छोड़जाता है, दूसरा श्रेष्ठ लेखक उसके धरातलको और ऊँचा उठाजाता है। इस प्रकार अन्य कलाओंकी तरह कहानी-कला भी एक गतिमान, प्रवहमान कला है; और हमें उसे एक तरंग-प्रवाह (process) के रूपमें ही देखना चाहिए। किसी लेखककी रचनाओंको जाँचते वक्त हमें यह प्रश्न पूछते रहना चाहिए कि उसने अपने पूर्ववर्ती लेखकोंकी कहानी-कलाको कहाँतक समझकर उसमें नैपुण्य प्राप्त करलिया है। यानी आजका लेखक यदि प्रसाद, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, और अज्ञेयकी कहानियोंका पूरा अध्ययन कियेबिना लिखना शुरू करता है तो निश्चयही उसने यह आशा न करनी चहिए कि वह हिन्दीकी कहानीको एक क़दम भी आगे लेजासकेगा। और यदि वह इन पूर्ववर्ती लेखकोंके पीछे खड़े होकर ही मार्क-टाइमकी तरह एकही स्थानपर पाँव पटकता है तो वह पुरानी लिखी-कही बातोंको कुघड़ रूपसे दुहरा ही सकता है—और इसमें सार्थकता कहाँ ! ऐसी कहानीमें वह शक्ति कैसे आसकती है जो आजके पाठकको आकर्षित करले? मेरा अनुभव है कि हमारे नये कहानी या उपन्यास-लेखक इस दृष्टिसे कथा-साहित्यका अध्ययन नहीं करते। यह अध्ययन कैसा? प्रेमचन्द, प्रसाद, जैनेन्द्र या अज्ञेयकी कहानियोंमें प्लॉट, कथोपकथन, चरित्र-चित्रण और दुखान्त-सुखान्तका अन्वेषण नहीं कि उदाहरणोंकी एक व्यर्थ लम्बी सूची तैयार कर उन्हें नापा-जोखा जाय, बल्कि यह कि जैसे कहानीमें बाह्य या मनोवैज्ञानिक वास्तविकता का— ऐसी वास्तविकताका जो गतिमान है, एक तरंग-प्रवाह (process) की दशामें है—चित्रण रहता है, तो प्रेमचन्दकी कहानियोंमें इस बाह्य या मनोवैज्ञानिक वास्तविकताके किन अंगोंका चित्रण हुआ है, उनके प्रति प्रेमचन्दका क्या दृष्टिकोण रहा है अर्थात् वे जीवनके प्रति किस दृष्टिकोणका परिचय देती हैं और वह दृष्टिकोण दार्शनिक विश्लेषणसे कहाँतक सत्य है, जीवनकी असम्बद्ध और असङ्गठित घटनाओंमें तारतम्य पैदा कर उन्होंने उनके अन्दर जिस एकसूत्रताका अनुभव हमें कराया है वह अनुभव वास्तविकता पर हमारी पकड़ कहाँतक गहरी बनाता है, और इसके बाद जैनेन्द्र या अज्ञेय की कहानियाँ हमारे इस अनुभवको कहाँतक और व्यापक और गहरा बनाती हैं—इसका एक क्रम-बद्ध अध्ययन ही इन बड़े कलाकारोंकी कहा-

नियोंके मूल-तत्त्वतक हमें पहुँचा सकता है, तभी हम उनकी कलाके मर्म को पूरीतरह ग्रहण करसकते हैं। विना इस नैपुण्यको प्राप्त किये यदि कोई लेखक लिखेगा तो वह एक सचेत कलाकार न होसकेगा। अर्थात् वह यह न समझ सकेगा कि हिन्दीकी कहानी कहाँतक पहुँचचुकी है और आगेके विकासकेलिए उसके सामने कौनसी समस्याएँ हैं, कौनसे क्षेत्र खाली पड़े हैं, क्या आवश्यकताएँ हैं और कौनसी दिशाएँ हैं। और कोईभी कला बिना सचेत मानसिक क्रियाके उच्च कोटिकी नहीं होसकती, विशेपकर कहानी-कला। ऐसे अध्ययनकी प्रवृत्ति हिन्दीमें क्या आपको मिलती है? यदि नहीं, तो क्या इससे यह सिद्ध नहीं है कि हिन्दीके कथा-साहित्यमें रचनात्मक शक्तियोंका जो विराट् अपव्यय होरहा है उसका एक कारण यहभी है कि हमारे लेखक अपने पूर्ववर्ती लेखकोंकी कलामें निपुणता प्राप्त करनेका प्रयत्न नहीं करते? इसीलिए जब उनके जीवनमें कोई घटना घटती है और उससे वे प्रभावित होते हैं या कोई नया अनुभव प्राप्त करते हैं और उस अनुभवको वे कहानीके माध्यमसे पाठकोंतक पहुँचाते हैं, तो पहले वे उस अनुभवको अपनी चेतनामें पूरीतरह पका नहीं लेते, दूसरे इस नैपुण्य की कमीके कारण उन घटनाओंको न व्यापक सेटिङ्गमें रखपाते हैं, न उस अनुभवको गहराई ही देपाते हैं। इस प्रकार अल्पजीवी कहानियोंकी वृद्धि होतीजाती है। कथा-साहित्यको एक तरङ्ग-प्रवाह (process) के रूपमें देखने और उस तरङ्ग-प्रवाह (process) की धाराके विस्तार, गति और मोड़ोंको पूरीतरह जानलेनेसे ही अल्पजीवी कथा-साहित्यकी वृद्धिको रोका जासकता है। योरॅपके बड़े-बड़े कथाकारोंकी रचनाओंका भी इसी दृष्टिसे अध्ययन करना ज़रूरी है, क्योंकि आधुनिक कहानी और आधुनिक उपन्यासका जन्म योरॅप में ही हुआ है और वहीं इनका विकास भी ज़्यादा हुआ है। योरॅपीय कथा-साहित्यके अध्ययनसे आप उसकी अभिनवतम विकास-चेष्टाओंकी जानकारी प्राप्त करसकते हैं, और हिन्दीका कथा-साहित्य जिस सीमापर पहुँच चुका है उससे आगेकी दिशाएँ निर्दिष्ट करनेमें आपको सुविधा होसकती है।

इस वर्ष 'कहानी' पत्रिकाके नववर्षाङ्कमें कहानीकारोंसे एक प्रश्न कियागया था कि आप कहानी क्यों लिखते हैं। हिन्दीके कई प्रतिष्ठित कहानीकारोंने इस प्रश्नका उत्तर दिया है। लेकिन सभीने यही कहा कि *इसलिए लिखता हूँ कि विना लिखे नहीं रहाजाता।* जब कोई घटना या

मानसिक दशा प्रभाव डालती है तो उसे एक कलात्मक अभिव्यक्ति देनेकी इच्छा होती है और घटनाओंको जोड़-तोड़कर कहानी बनजाती है। बड़े कलाकारोंकेलिए यह उत्तर मौजूँ होसकता है; हालाँकि इसके अन्दर भी किसी सचेत मानसिक क्रियाका आभास नहीं मिलता और न यही मालूम होता है कि लेखक कहानी-साहित्यकी आवश्यकताओंको कोई महत्त्व देता है; उसे किस दिशामें बढ़ना है, और लेखक इसकेलिए क्या प्रयोग और प्रयत्न कररहा है, इसकी ओर इन उत्तरोंमें कोई इशारा नहीं मिलता। मैं इन उत्तरोंको पढ़कर निराश हुआ हूँ, क्योंकि मैं कहींसे अपनेको यह तसल्ली नहीं देपाया कि इनमेंसे कोईभी लेखक अपने कार्यके प्रति सचेत है और हिन्दीके कथा-साहित्यको सम्पन्न बनानेकेलिए सचेष्ट है। यों कोई कहानी अच्छी बनजाय और उससे हिन्दीकी कहानी एक क़दम आगे बढ़ जाय तो यह उसका सौभाग्य है! प्रतिष्ठित कहानी लेखकोंकी कहानी-कला की आवश्यकताओंके प्रति ही यह अज्ञानपूर्ण उदासीनता आश्चर्यमें डालती है। अगर हमारे नये लेखक भी यही भाव रखेंगे तो फिर उनसे भविष्यमें क्या आशा कीजासकती है? खेद इस बातका है कि उनमें यह भाव और भी ज़्यादा व्यापक है। लौटायी कहानियोंको, जिनपर मैंने अक्सर लौटाने का कारण और अध्ययनका मार्ग-निर्देशकर नये सिरेसे लिखनेका अनुरोध लिखदिया है, मैंने दूसरे पत्रोंमें ज्यों-की-त्यों छपते देखा है। इससे इस मनो-वृत्तिपर प्रकाश पड़ता है कि नये लेखकोंमें रचना छपानेकी इच्छा तो प्रबल है, पर उसे उच्चकोटिकी बनानेकी भावना क़तई नहीं है। अध्ययन आदि तो कष्टसाध्य क्रियाएँ हैं, और लेखक इतनी मग़ज़पच्ची क्यों करे? यह देख कर हैरानी होती है। यह मनोवृत्ति क्यों पैदा हुई है, इसके सामाजिक और आर्थिक कारण मैं आपको गिनासकता हूँ और यह भी साबित कर-सकता हूँ कि ऐसी मनोवृत्तिका पैदा होना स्वाभाविक है। क्योंकि जब प्रकाशक पैसा न देता हो, और आपको अकथ विडम्बनाएँ सहकर भी लिखना पड़ता हो, जीवन अनिश्चित और आतङ्कित हो, समाज-सम्बन्धोंमें इस समाजकी व्यवस्थाके कारण आत्मीयता और सहृदयताका कोई तत्त्व ही न बाक़ी रहगया हो, जब उल्लासके क्षण इनेगिने भी न हों—तब लिखने में प्रेरणा ही क्या रहजाती है, और व्यवसायिकताके कठोर चक्रमें फँसकर रचनाको बनाने-सँवारनेका अवकाश भी कहाँ? यह सब सच है और मैं

आप सबकी अपेक्षा इन विषमताओंके प्रति अधिक सजग हूँ; लेकिन इसीलिए एक कथाकारका दायित्व और ज़्यादा बढ़गया है; और हम सचेत कलाकार नहीं होंगे, ईमानदार कहानी-लेखक नहीं होंगे अगर अपनी कलाके द्वारा हम इन परिस्थितियोंसे संघर्ष कर उन्हें बदलनेकी चेष्टा नहीं करते—और सचेत और ईमानदार कलाकार होनेकेलिए यह ज़रूरी है कि हम अपनी कलाके अस्त्रको अधिक-से-अधिक तीक्ष्ण बनायें। जागरूक कलाकार बननेकेलिए अध्ययनमें यदि समय लगता है तो वह हमें लगाना ही है। सैकड़ों कहानीकारोंकी प्रतिभा और परिश्रमका अपव्यय होना किसीभी साहित्यकेलिए गौरवकी बात नहीं है।

इस प्रश्नका दूसरा कारण सामाजिक है, और अधिक व्यापक होनेके कारण अधिक महत्वका भी है। इने-गिने प्रतिभा-सम्पन्न लेखकों और इनी-गिनी ही उत्कृष्ट रचनाओंसे किसी साहित्यकी उन्नतिका अनुमान लगानेकी प्रथा ग़लत है। इस विधिसे तो जैसे किसी गिरि-शृंखलाके उच्चतम शिखरोंकी ही माप कीजासकती है। लेकिन आप ऐसी गिरि-पाँतिको क्या कहेंगे जिसके यत्र-तत्र बिखरे पाँच-सात शिखर तो आकाश-चुम्बी हों पर जिनके चारों ओर गहरी विस्तृत घाटियाँ-ही-घाटियाँ हों जिनका धरातल समुद्रतलसे भी नीचा हो? ऐसे गिरि-शृङ्ग अपवाद ही कहे जासकते हैं। जड़-प्रकृतिसे उपमा देना ग़लत है क्योंकि साहित्य एक सजीव मानव-क्रिया है। उसके विकास या ह्रासकी गति काल-सीमित होती है और सामाजिक परिस्थितियाँ ही उसकी प्रेरणाओंका नियन्त्रण करती हैं; फिरभी बहुधा हम इस प्रश्नपर इस दृष्टिसे नहीं सोचते कि रवीन्द्र और शरत्, प्रेमचन्द और निराला-पन्त हमारे साहित्योंके उच्चतम शिखर भलेही हों पर समष्टिमें हमारा साहित्य अभी उन गहरी घाटियोंके समान ही है जिनका धरातल साधारण तलसे भी नीचा है। और हिन्दीके नवोत्थानके युगमें यदि यह दशा है तो निस्सन्देह समाजके व्यापक जीवनमें कोई ऐसा घातक कीटाणु अवश्य बैठा है जो इस अभ्युदयको भी समग्र रूपसे आगे नहीं बढ़नेदेता। ह्रासकी यह प्रच्छन्न प्रवृत्ति है। रवीन्द्र और शरत्, प्रेमचन्द और इक़बालकी महान् मानववादी परम्पराएँ उनके पश्चात् शिथिल पड़जाती हैं— क्रान्तिकारी लेखक यदि उन्हें फैलाव देपाते हैं तो उत्कर्ष नहीं देपाते, परन्तु पूँजीजीवी कलाकार उन्हें किसीभी दिशामें विकसित करनेमें असमर्थ लगते हैं। वे

उन्हें विकृतिकी ओर मोड़कर साहित्यकी श्रेष्ठ परम्पराओंकी शृंखलाको बीच में ही काटनेका प्रयास करते हैं, और इस प्रकार साहित्यमें अराजकताको प्रोत्साहन देते हैं।

हिन्दी, बँगला और अन्य भाषाओंके कथा-साहित्यमें यह ह्रास क्यों नज़र आरहा है? और यह ह्रास क्या भारतीय कथा-साहित्यकी ही अनोखी घटना है या पूँजीवादी संसारके सभी देशोंमें इसके लक्षण प्रकट होरहे हैं? यदि आप गत महायुद्धके बादके योरॅपीय साहित्यका इतिहास पढ़ेंगे तो आपको ज्ञात होगा कि अंग्रेजी, फ्रेञ्च, जर्मन, इटालियन साहित्यमें भी संकट छायाहुआ है, एक-दोको छोड़कर वहाँका परम्परागत कथा-साहित्य भी ह्रासोन्मुख है। पूँजीवादी संसारमें कला और साहित्यके अन्दर यह ह्रास सर्वत्र दृष्टिगोचर होरहा है। जो पहिलेके सिद्धहस्त कलाकार थे, वे भी अपनी पूर्व-परम्पराओंपर आरूढ़ रहकर उच्च-कोटिकी कृतियोंका निर्माण नहीं कर रहे। योरॅपसे उदाहरण न लेकर यदि हिन्दीसे ही उदाहरण लें तो आपके निकट यह बात अधिक स्पष्ट होसकेगी। पिछले खेवेके लेखकों: सुदर्शन, कौशिक और चतुरसेन शास्त्रीकी नयी कहानियोंमें अब क्या आपको वह बात मिलती है जो पहिले मिलती थी? वे अपनी पूर्व-परम्परासे तिलभर भी टस-से-मस नहीं होसके, क्या इसी कारण नहीं आज वे पिछड़े-से लगते हैं? हमारे सामाजिक जीवनकी वास्तविकता पहलेसे कहीं अधिक संश्लिष्ट होगयी है और वे अभीतक विधवा-विवाहकी ज़रूरत, मन्दिरोंके व्यभिचार, वेश्यालयोंके दुष्प्रभाव, बाल-विवाहके दुष्परिणाम और दहेज़-प्रथा आदि कुरीतियों जैसे सामाजिक प्रश्नोंके अत्यन्त सरल समाधानोंके अन्वेषणमें ही लगे हैं! मेरे कहनेका यह अर्थ नहीं कि इन प्रश्नोंको हम हल करचुके हैं या इनपर लिखाजाना ही नहीं चाहिए, बल्कि यह कि ज्यों-ज्यों हमारा समाज-ज्ञान और चेतना बढ़तीजाती है हमें यह स्पष्ट होताजाता है कि ये प्रश्न भी जटिल हैं और समाजकी व्यापक मूल समस्याओंसे जुड़ेहुए हैं, अतः उनका कोई सरल सुधारवादी समाधान नहीं ढूँढ़ा जासकता, जैसा कि ये लेखक आजभी कररहे हैं, जिसके कारण ऐसा लगता है कि वे पिछड़-से गये हैं। क्यों जैनेन्द्रकुमारके 'वातायन' और 'एकरात' या अज्ञेयके 'विपथगा' या पहाड़ीके 'सफ़र'—इन कहानी-संग्रहोंके बादकी इन लेखकों की नयी कहानियोंमें शिथिलता नज़र आती है? यशपाल, अश्क़ और

किरणचन्द्र सौनरिक्साकी कलामें यह शैथिल्य न आकर यदि और निखार और सौष्ठव आतागया है तो यह ऐसा अपवाद है जिनका कारण इन सतत कलाकारोंकी जागरूकतामें ही खोजना चाहिए।

उपन्यासोंमें भी आजकी जटिल वास्तविकताके अनुरूप ही क्यों उच्चकोटिकी संश्लिष्ट कलाका, जो इस समाजकी वास्तविकताकी गति-विधिके सारे खमों, उभारों और पेचोंका गत्यात्मक चित्र खींचदे, आभास नहीं मिलता? प्रेमचन्दके 'गोदान' में होरीके चरित्रमें जीवनके एक मूल-तत्त्वका गतिमान चित्रण हुआ है। होरीपर मुसीबतके पहाड़ टूटते हैं और उसके कठोर जीवनमें सड़कपर कंकड़ कूटतेहुए मरते-दमतक इन मुसीबतोंकी जटिल शृंखलाका अन्त नहीं होता। सब तरफ़से नोच-खसोट है, उसका भाग्य एक कच्चे धागेसे बँधा-टँगा है; रोज़ धागा टूटता है और वह धूलमें गिरकर ठोकरें खाता है। ऐसा लगता है मानो उसका अब अन्त हुआ तब अन्त हुआ, लेकिन फिरभी होरी जीता जाता है, धूलमेंसे सिर उठाकर अनन्त श्रान्ति और थकान लेकर भी चलपड़ता है। उसमें अक्षय जीवट है। आश्चर्य होता है यह देखकर कि मरुस्थलमें पड़ी बूँद-सा होरी मिट क्यों नहीं जाता। कहाँसे मिलता है उसे अनन्त प्राण-रस? इस प्राण-रसका स्रोत कहाँ है? और यह बात भी नहीं कि सामन्तवर्गके आदर्श पुरुष रामकी तरह होरी किसान-वर्गका आदर्श पुरुष हो! उसमें आधुनिक समाजकी परिस्थितियोंसे उत्पन्न सारी कमज़ोरियाँ हैं, अन्धविश्वास और क्षुद्रताएँ हैं। फिरभी बड़े-बड़े साम्राज्य मिट्टीमें मिलाये जासकते हैं, लेकिन होरी जीवनके मूल-स्रोतसे कुछ ऐसा चिमटा हुआ है कि उसको मिटाया ही नहीं जासकता—और 'होरी' जीता-जागता चरित्र है! जीवनमें सैकड़ों-लाखों 'होरी' हमें मिलते हैं, हम उनके पाससे गुज़रजाते हैं लेकिन उनकी क्षुद्रताएँ ही हमारी दृष्टिमें आती हैं, और जो यथार्थवादी लेखक होनेका दम भरते हैं वे जैसे सूक्ष्मदर्शक यन्त्रसे उनकी क्षुद्रताओंको विशाल आकार देकर चित्रित करदेते हैं, और यदि प्रगतिवादी हुए तो इन क्षुद्रताओंको समाज-व्यवस्थाके मत्थे मढ़कर दो सहानुभूतिके शब्दोंसे उनके चरित्रको आन्तरिक गौरवसे मंडित भी करदेते हैं, मानो वे घूरेकी खाद हों, जो पूँजीपतियोंके शोषक पेटमें पड़नेके पहले स्वच्छ अन्न थी और अबभी यदि क़ायदेसे खेतमें बिखेरदी जाय तो वैसाही स्वच्छ अन्न पैदा करनेमें सक्षम है, लेकिन दुर्भाग्य कि आज घूरेपर पड़ी

सड़रही है और कोई उसका उपयोग करनेवाला नहीं है। लेकिन इस तरह लेखक होरीके प्राण - रसके उस अजस्र स्रोततक नहीं पहुँचपाते, जिसके कारण होरी घुस - पिसके भी कभी घूरेकी खाद नहीं बनपाया। होरी एक व्यक्ति नहीं है, वह भारतके समूचे किसान-वर्गका प्रतिनिधि है, और इसी कारण उसके जीवनके सारे सूत्र अपने वर्गसे जुड़ेहुए हैं, उन्हीं सूत्रोंके द्वारा उसे अक्षय प्राण-रस मिलता है, वह पिसता है तो इसलिए कि सब किसान—उसके जैसे करोड़ों होरी—पिसरहे हैं, वह जीता जाता है तो इसलिए कि सदियोंके शोषणके बावजूद भी सब किसान—करोड़ों होरी—पैदा होते और जीते चलेजारहे हैं, उन्हें कोई मिटा नहीं सकता, और यह जन - जीवन एक अटूट धारा है, प्रकृतिके दृश्यमान जगत्‌की तरह एक तरङ्ग-प्रवाह है, और होरीका जीवन - क्रम भी एक अटूट धारा है। उसके जीनेकी क्रिया एक तरङ्ग-प्रवाह है, और जन-जीवनकी धारासे होरीके व्यक्तिगत जीवनके जो सूत्र मिलेहुए हैं, वेही उसतक प्राण-रसका खाद्य पहुँचाते रहते हैं, और यह खाद्य प्रेमचन्दके समयकी सामाजिक स्थितिके अनुरूप ही है; आज वह भिन्न है, क्योंकि आज परिस्थितियोंके दबावसे, चेतनाके सतत झकोरोंसे जन - जीवनकी धारामें ऊँची लहरें उठरही हैं। आजका लेखक होरीके अक्षय जीवनका गतिमान चित्रण जीवन-स्रोतोंसे चिपटे रहने की उत्कट क्षमताके ही रूपमें करके सफल नहीं होसकता, क्योंकि वस्तुस्थिति बदलगयी है। उसे नष्ट होनेके पूर्वही शोषणकारी शक्तियोंके निरन्तर आक्रमणोंसे इन जीवन - स्रोतोंकी रक्षा करना है—सक्रिय और संगठित रूपसे। लेकिन हिन्दीके कितने उपन्यासकारोंने इस मूलतत्त्वको समझ पाया है?

अज्ञेयका 'शेखर : एक जीवनी' 'गोदान' के बादका सबसे महत्त्वपूर्ण और कलात्मक उपन्यास है। लेकिन 'शेखर' कैसा चरित्र है? उसके जीवन-सूत्र कितने फैलेहुए हैं? वह जन-जीवनसे कितना प्राण-रस खींचता है? यह सच है कि शेखर मुख्यतः मनोवैज्ञानिक धरातलपर एक व्यक्तिका अध्ययन है, लेकिन उसकी चेतना एक असामाजिक प्राणीकी चेतना है और वह एक उपजीवी है जो सामाजिक जीवनसे प्राण - रस खींचकर भी अपनी चेतनामें उसका आभार स्वीकार नहीं करता। ऐसे चरित्रकी भाव - प्रतिक्रियाएँ कृत्रिम रूपसे अतिरञ्जित और यान्त्रिक ही होसकती हैं, जैसी कि 'शेखर' की हैं। मनोवैज्ञानिक या सामाजिक धरातल

मात्र उपाय रहगया है। शेखर क्रान्तिके प्रति जितनाही उत्साह दिखाता है, उतनाही वह समझौतेके मार्गपर दौड़ता जाता है। यह ह्रास तो हमने गत पाँच वर्षोंके सबसे महत्वपूर्ण उपन्यासके अन्दर पाया, इस बीचके साधारण उपन्यासोंका तो ज़िक्रही क्या !

योरॅपमें गत पचीस वर्षोंमें जो कथा-साहित्य सबसे ज़्यादा प्रचलित हुआ है उसमें गिरहकटों, चोरों, शरीफ़ बदमाशों और जासूसोंके सनसनीखेज़ चरित्रोंकी ही प्रधानता है, इसमें अतिशयोक्ति नहीं। इस बात का तो आप अपने नगरके स्टेशनपर ह्वीलरकी दुकानसे भी पता लगासकते हैं। तीसरी कोटिका विकृत कथा-साहित्यही सबसे ज़्यादा मनोरञ्जनका विषय बनाहुआ है, क्योंकि वर्तमान समाजने सर्वसाधारणकी मनोवृत्ति इतनी छिछली और विकृत बनादी है कि गम्भीर और उच्चकोटिके साहित्यमें दिलचस्पी रख ही नहीं सकते। हिन्दीमेंभी इस बीच दलालों, जासूसों, वेश्यालयों पूँजीपतियों और राजाओंके रोमान्सोंका कथा-साहित्य कम प्रचलित नहीं हुआ है। योरॅपमें जो लेखक वास्तवमें अधिक संस्कृत और कोमल भाव-चेतनाके प्राणी हैं वे योरॅपके संघर्षपूर्ण जीवनसे बचकर हवाईद्वीपोंमें जाकर घर बसाने और प्रेमके रोमान्सकी कल्पनाएँ अपनी कथाओंमें भरने की कोशिश करते हैं। हिन्दीमें 'प्रसाद' की अधिकांश कहानियाँ ऐसीही हैं जिनमें समुद्रतट, या पहाड़ीकी तराई, या बरफ़की चोटियोंपर दो अनजान प्रेमियोंके प्रणय-अभिसारकी मधुर, स्वप्नवत् कल्पनाएँ हैं—और आज भी ऐसे कोरे काल्पनिक कथानकोंकी सृष्टि करनेकी प्रवृत्ति नये लेखकोंमें कम नहीं है। पूँजीवादके इस अन्तिम युगमें विश्वके कथा-साहित्यके ह्रासकी यह ऐसी शृङ्खला है जो सर्वत्र फैलीहुई है। यह ह्रास इस बात का द्योतक है कि आधुनिक पूँजीजीवी लेखक सामाजिक परिस्थितियों की विषमतासे इतना आक्रान्त और सन्त्रस्त होगया है कि वह कोई पलायनका मार्ग ढूँढ़ता है। शेखरका घोर व्यक्तिवाद, हवाईद्वीपोंका प्रवास, गिरहकट, दलाल और वेश्याओंका चरित्रनिर्माण, पहाड़की तलहटीका स्वप्निल रोमान्स या पुरातनका गौरवगान—यह सब इस पलायनकेलिए खुले द्वारका काम देते हैं। और पलायनका साहित्य और चाहे जो हो, प्रथम कोटिका साहित्य नहीं होसकता, विशेषकर कथा-साहित्य तो कभी भी उच्चकोटिका नहीं होसकता उसमें चाहे कितनाभी असाधारण तत्व या

अनोखी, अभिनव टेकनीक ही क्यों न हो। क्योंकि कथा-साहित्य साहित्य का वह अङ्ग है जो वाह्य-वास्तविकताको उसके समस्त, संश्लिष्ट प्रवहमान रूपमें उपस्थितकर वास्तविकतापर हमारी पकड़ गहरी बनाता है, ताकि हम अधिक भावात्मक या आध्यात्मिक दृढ़ता और व्यापक चेतनाके साथ वास्तविकतासे संघर्ष करसकें और उसे अपने अनुकूल बनासकें। इसे और स्पष्ट करके यों कह सकते हैं कि किसी समय समाजमें जो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, और उसकी प्रगतिकेलिए जिनका समाधान होना आवश्यक होजाता है, उन समस्याओंको जीवन-घटनाओं द्वारा उपस्थित कर, अर्थात् समाजके किसी वर्ग, परिवार या व्यक्तिके बाह्य या आन्तरिक जीवनमें जो घटनाएँ नित्यप्रति परस्पर सामाजिक-सम्बन्धोंमें बँधे रहनेके कारण घटती रहती हैं अथवा उनके सामूहिक या व्यक्तिगत जीवनकी आवश्यकताओंके कारण जो समस्याएँ उठती रहती हैं, जिनके प्रति उन्हें सामूहिक या व्यक्तिगत रूपसे अपना दृष्टिकोण प्रकट करनेकेलिए बाध्य होजाना पड़ता है, क्योंकि उसके अनुरूप या प्रतिकूल ही उनकी जीवन-क्रियामें परिवर्तन होते चलते हैं; वह सब घटनाएँ, दृष्टिकोण और कार्यके बदलते तरीके मनुष्योंके पारस्परिक सम्बन्धको किस प्रकार प्रभावित करते हैं, उनकी चेतना और बाह्य जीवनमें उनकी क्या प्रतिक्रियाएँ होती हैं और फिर उनका जीवन कौन-सी दिशाएँ पकड़ता है, इसका गत्यात्मक चित्र उपस्थित कर एक श्रेष्ठ कथाकार यह दिखाता है कि इन घटनाओं और समस्याओंका सामना समाज, उसका कोई वर्ग, परिवार या व्यक्ति किस प्रकार करता है और किस प्रकार वह उनका समाधान पानेकेलिए अपनी तत्कालीन चेतना और शक्तिके साथ वास्तविकताके व्योममें तीर-सा घुसनेकी चेष्टा करता है। उसका लक्ष्य सही है, या ग़लत यह बहुतकुछ लेखकके दृष्टिकोणकी तीक्ष्णता और गहराई पर निर्भर करता है कि वह कहाँतक समाजकी ऐतिहासिक विकास-दिशाओंसे परिचित है और समाजकी नाड़ीके स्पन्दनको एक कुशल वैद्यकी तरह समझता है। इसप्रकार एक श्रेष्ठ कथाकार सामाजिक जीवनकी सच्ची समस्याओंका एक सजीव किन्तु काल्पनिक चित्र देकर उनके समाधानकी दिशाओंकी ओर संकेत करदेता है, जिससे हम कल्पना द्वारा उन समस्याओंको हल करलेते हैं, और वह हमारे भावों और विचारोंको अपने अनुकूल बनाकर हमारी चेतना का एक अंग बनजाता है, और फिर जीवनमें जब पग-पगपर हम उन

समस्याओंसे टकराते हैं तो हम मुँहके बल गिर नहीं पड़ते बल्कि अपनी नयी चेतनाके अनुसार परिस्थितियोंको अपने अनुकूल बनानेका प्रयत्न करते हैं। अर्थात् परिस्थितियोंसे अधिक सतर्क, सचेत और सक्षम होकर संघर्ष करते हैं। यह ज़रूरी नहीं है कि लेखक उस समाधानको कथाके रूप में साफ़-साफ़ पेश करदे, जैसे 'सेवासदन' या 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्दने किया है और जो समाधान ग़लत सिद्ध होचुके हैं, बल्कि लोग जिस तरह जीवन बिताते हैं उसका चित्र वह इस तरह पेश करसकता है कि हमारी चेतना स्वतः एक मार्गमें घिरकर एक दिशाकी ओर बह निकले—उस दिशाकी ओर जो अपने गर्भमें उस समस्याका सही समाधान छिपाये है, जैसा 'गोदान' में प्रेमचन्दने किया है।

तो कथा-साहित्य हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवनकी समस्याओंको परस्पर समाज-सम्बन्धोंमें पड़कर जीवन बितानेके माध्यमसे हल करनेका एक विशेष प्रकारका कलात्मक रूप-विधान है। और यदि वह पलायनके द्वार निर्मित करे तो फिर उसकी सार्थकता ही क्या रहजाती है? विश्वके कथा-साहित्यमें इस समय जो संकट उपस्थित है उसका कारण यही है कि लेखक आधुनिक समाजकी समस्याओंकी विकरालतासे त्रस्त होउठे हैं, किंकर्तव्यविमूढ़ होगये हैं, आधुनिक वास्तविकता इतनी संश्लिष्ट और विरोधाभासपूर्ण है कि वे पहलेके लेखकोंकी तरह उसका सीधा-सादा 'पैटर्न' नहीं बनापाते और इसलिए पलायनके मार्ग खोजते हैं। और इस तरह वे इस समाजकी असंगतियोंको औरभी मज़बूत करते हैं, उनपर क़ाबू पानेकी क्षमता नहीं दिखाते। पूँजीवादने कला और साहित्यको जिस तरह अपने असली प्रयोजनसे अलगकर छिछले मनोरञ्जनका साधन बनादिया है, उस स्थितिको वे स्वीकार करलेते हैं। इस परिस्थितिने उच्चकोटिके कलात्मक कथा-साहित्यकी जड़पर गहरा आघात किया है। अतः योरॅप और अमेरिकामें जिन लेखकोंने इस परिस्थितिको समझ लिया, वे जागरूक होते गये। इस प्रकारके छिछले या पलायनवादी कथा साहित्यको वहाँ जिस ओरसे चुनौती मिली है उस ओर विश्वके वे कलाकार हैं जो समाजकी आन्तरिक असंगतियोंसे परिचित हैं, जो यह जानते हैं कि कला और साहित्य का भविष्य तभी सुरक्षित होसकता है और आधुनिक जीवनके संघर्षमें वे तभी महत्वपूर्ण भूमिका लेसकते हैं जब वे उन शक्तियोंके साथ हों जिनमें पूँजी-

वादी समाजको नष्टकर समाजवादी समाजका निर्माण करनेकी क्षमता है। और ऐसा तभी सम्भव है जबकि कला और साहित्यके निर्माणको एक सचेत क्रिया बनादिया जाय, अर्थात् जब कला और साहित्यकी सृष्टिके पीछे एक जीवन-व्यापी द्वन्द्व-मूलक (dialectical) विचारधारा हो और उनका रूप-विधान सामाजिक-यथार्थवादके कलात्मक तत्वसे निरूपित हो।

यह दृष्टिकोण ही कथा-साहित्यको ह्राससे बचा सकता है, और हिन्दीके कथा-साहित्यके सम्मुख इस दृष्टिकोणका विकास करनेकी समस्या ही इस समय सबसे प्रमुख है। यह दृष्टिकोण ही हमें जीवनकी हर घटनाको अधिक गहराईसे समझनेकी क्षमता प्रदान कर सकता है और हमें उसके मूलतक लेजासकता है। इस समय विश्वमें एक उथल-पुथल जारी है, साम्राज्योंकी नींवें हिलरही हैं, पुरानी समाज-व्यवस्थाका ढाँचा टूटरहा है, मनुष्योंके संस्कार बदलरहे हैं, नये विचार तूफ़ानकी तरह छाते जारहे हैं, चारों ओर संघर्ष है और मनुष्यकी समस्याएँ जटिल होती जारही हैं— समाजकी इस विध्वंस-ग्रस्त और नव-सृजनात्मक वास्तविकताका विशद् चित्रण, जो एक साथ ही विवादपूर्ण और आशावादी होसकता है, अभी कहाँ हुआ है? ऐसे विशाल उपन्यासोंके कथानक अभी गर्भमें ही छिपे पड़े हैं, और फिर व्यक्तियोंके जीवनकी छोटी-छोटी घटनाएँ हैं, जो आधुनिक समाजकी बड़ी समस्याओंसे व्यक्त या अव्यक्त रूपसे सम्बन्धित हैं, और उनका चित्रण कहानी करसकती है। परन्तु कोई भी कहानी तब तक उच्च-कोटिकी नहीं होसकती जब तक लेखक इन घटनाओं द्वारा उठायी समस्याओंको इस रूपमें नहीं पहचानता कि वे आधुनिक जीवनकी बृहद्, मूल समस्याओंसे कहाँ किस तरह जुड़ी हैं, और फिर अपनी कहानीमें उन बड़ी समस्याओंकी ओर जानेवाले उनके सूत्रोंका आभास पाठकको नहीं देदेता।

एक शिक्षित युवक बेकार है, एक तरुण विधवा आजीवन अवि-वाहित रहनेको मजबूर है, एक प्रतिभाशाली व्यक्ति सारा जीवन क्लर्कीमें गवांदेता है और उसके ऊपर जो अफ़सर हैं वे निरे मूर्ख हैं, एक मज़दूर दस घण्टे काम करके भी अपने परिवारको नहीं पालपाता, एक किसान धरतीसे सोना पैदा करके भी क़र्ज़से लदा है, एक प्रेमी अपनी प्रेमिकासे इस-लिए एक सूत्रमें नहीं बँधसकता कि दोनोंकी आर्थिक स्थितिमें वैषम्य है या

दोनों दो जातिके हैं और इस समाज-व्यवस्थामें स्त्री-पुरुषके संयोगमें प्रेमका आधार मुख्य नहीं है—और इन विषमताओंके कारण व्यक्तियोंका जीवन कितना असार्थक, अनुपयोगी, कठोर और पीड़ाजनक बनजाता है, इसका चित्र तो सभी कहानी-लेखक खींचते हैं, चाहे यथार्थ रूपमें या उसको एक मनोवैज्ञानिक तथ्य बनाकर; लेकिन ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न क्यों होती हैं, और क्यों नहीं उन्हें बदलकर अपने अनुकूल बनाया जासकता, इस विश्लेषणका संकेत न रहनेके कारण उनकी कहानी पाठकको जीवनकी समस्याओंकी गहराईमें नहीं लेजापाती, और इसी कारण वह ऐसे अनुभवकी सृष्टि नहीं करपाती जो व्यापक और तीव्र हो।

योरॅपमें इस ह्रासको कलाकारोंके जिस वर्गने चुनौती दी उसकी प्रतिध्वनि हिन्दीमें 'प्रगतिवाद' के रूपमें हुई। लेकिन प्रगतिवादके नामपर अब तक हिन्दीमें जो कथा साहित्य पैदा हुआ है उसे देखकर घोर निराशा होती है, क्योंकि प्रगतिवादी लेखक भी कथा साहित्यकी इन मूल-समस्याओंसे सामान्यतः परिचित नहीं हैं। यही कारण है कि वे अबतक न अपने पूर्ववर्ती कलाकारोंकी कलामें निपुणता प्राप्त करपाये हैं और न समाज और जीवनके बारेमें एक स्वस्थ और सही दृष्टिकोण ही बनापाये हैं। परिणाम यह है कि उनकी कहानियों या उपन्यासोंमें एक [illegible] मौलिक सहानुभूति [illegible] भरगई है। यह एक आम बात है। एक-दो लेखक इसके अपवाद भी हैं लेकिन उनसे क्या होता है? प्रगतिवादी कहानियोंके पात्र समाजके वे निकृष्ट मानव हैं जो किसीभी क्रान्तिकारी सिद्धान्तके क्रान्तिके अग्रदूत नहीं बनसकते—जैसे वेश्या, भिखारी, कोई लूला-लँगड़ा अपंग, पागल, [illegible] आदि। कुरूपतामें यह ममता क्यों? [illegible] 'होरी' की [illegible] उनको [illegible] छोड़ जाते हैं, लेकिन [illegible] क्यों नहीं है? क्योंकि लेखक स्वयं इनके कार्य-कारण-[illegible] परिचित नहीं है। यही कारण है कि [illegible] भरे पेट और [illegible] मिटानेवाले [illegible] की सृष्टि करते हैं। वे 'गोदान' के [illegible] प्रतिरूप हैं। [illegible]

के प्रगतिवादी लेखक यदि कथा-साहित्यकी इन मूल समस्याओंके प्रति उदासीन बने रहेंगे तो वे अपनी चुनौतीको कैसे कामयाब कर सकेंगे?

हिन्दी कथा-साहित्यके सामने आज यही मुख्य समस्याएँ हैं। इतने थोड़े अवकाशमें मैं उनको छू ही सका हूँ। पर मुझे विश्वास है कि आप उनपर विचार करेंगे, और जो आपकी कहानियोंमें मुझे आज न्यूनताएँ दिखायी दी हैं, वे अगली कहानियोंमें न रहेंगी।

हिन्दी-कवितामें पेड़, पौधे, फूल, पशु, पक्षी

पेड़, पौधे, फूल, पशु, पक्षी संसारकी हर भाषाकी कवितामें मिलते हैं। और अक्सर स्वतन्त्र रूपसे वर्णनके विषय भी बने हैं। यह सब प्रकृति के ऐसे अङ्ग हैं जिनसे मनुष्यका साहचर्य बहुत पुराना है। प्रकृतिके जड़ और चेतन दोनों अङ्गोंसे मनुष्यका संघर्ष आदिकालसे चला आरहा है। इस संघर्षके दौरानमें मनुष्यने प्रकृतिके अनेक निगूढ़ रहस्योंको खोलकर, उसके नियमोंको जानकर, उसके अनेक अङ्गोंको विजितकर प्रकृतिपर अपना क़ाबू ही नहीं बढ़ाया है बल्कि उसको अपने सामाजिक जीवनको उन्नत, समृद्ध और संश्लिष्ट बनानेमें सहायक या साधन भी बनाया है। मनुष्यके पेचीदा और व्यापक सामाजिक जीवनकी ज़रूरतें भी लम्बी-चौड़ी होती हैं। शुरू-शुरूमें जब समाजकी ज़रूरतें थोड़ी थीं, उस समय भी मनुष्य ने जहाँ एक ओर अपने रहने-बसनेकेलिए जङ्गल काटे, मैदान साफ़कर खेत बोये, वहाँ दूसरी ओर पशुओंको क़ब्ज़ेमें कर पालतू भी बनाया, ताकि वे मनुष्यके श्रमका कुछ भार उठासकें। यह काम प्रकृतिके साथ मनुष्यके संघर्षके अन्तर्गत ही आता है। जबतक प्रकृतिके छोटे-मोटे रहस्य भी उसकेलिए अज्ञेय थे और अपने चारों ओरके वातावरणपर उसका अधिकार कमज़ोर था, तबतक वह पेड़, पौधे, फूल, पशु, पक्षीकी गति-विधिसे भी भय खाता था और उनके प्रति श्रद्धालु था। इसी कारण प्रारम्भिक कवितामें वृक्षों, वनों, पर्वतों और समुद्रोंको उर्वरता और उत्पादनके देवताओंका निवास-स्थान, अनेक पशु-पक्षियोंको उनका वाहन दिखायागया है। इन देवताओंको रुष्ट न करनेकेलिए उनके निवास-स्थानों और वाहनों के प्रति भी श्रद्धा और भयका भाव दिखायागया है। लेकिन ज्यों-ज्यों सामाजिक जीवनका विकास होतागया और मनुष्यका सामाजिक ज्ञान बढ़ता गया त्यों-त्यों प्रकृतिके इन अङ्गोंके प्रति श्रद्धामूलक भावना भी कम होती गयी और उसके स्थानपर सामाजिक जीवनको तरोताज़ा, समृद्ध और खुशहाल बनानेमें सहायता देनेवाले प्रकृतिके इन अङ्गोंके प्रति मनुष्यमें एक

दूसरेही भावका उदय हुआ। वह उन्हें अब अपने सहचर और साथीके रूपमें ग्रहण करनेलगा और उनके साथ अपना मानवी रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करतागया। इसी कारण मनुष्यको उनमें सौन्दर्यके दर्शन होनेलगे हैं; क्योंकि सौन्दर्यकी भावनाका जन्म मनुष्य और प्रकृतिके संघर्षसे पैदा हुए समाज-सम्बन्धों और सामाजिक क्रियाशीलताकी चेतनासे होता है, और मनुष्यने इस संघर्षमें अनेक पेड़, पौधे, फूल, पशु, पक्षियोंकी सहायता लेकर उन्हें अपने समाज-सम्बन्धोंका अङ्ग बनालिया है, और अब मनुष्यके चौबीस घण्टेके जीवनका वातावरण इनके बिना सोचा भी नहीं जासकता। गाँवोंमें तो मनुष्यका वातावरण इनसे ही भरा रहता है। लेकिन बड़े-बड़े औद्योगिक नगरोंमें भी—चाहे कृत्रिम रूपसे ही सही—मनुष्यने उन्हें एकत्र किया है, उपयोगकेलिए या अपनी श्रम-क्लान्ति मिटाने और मनोरञ्जनके लिए। नगरके अजायबघर, बॉटैनिकल गार्डेन सिर्फ इस बातका ही प्रदर्शन नहीं करते कि मनुष्यने प्रकृतिके किन-किन अङ्गों और प्राणियोंको काबूमें कर-लिया है या उसकी ऊपरी अव्यवस्थाको मिटाकर वह उसे व्यवस्था भी दे सकता है, बल्कि वे इस बातको भी सूचित करते हैं कि उनके प्रति मनुष्य का सहज आकर्षण है, क्योंकि वे उसके सामाजिक जीवनमें सहायक रहे हैं और नगरकी चहारदीवारीके बाहर आज भी सहायक हैं। प्रकृतिके इन अङ्गोंके साथ मनुष्यका साहचर्य जितना पुराना है उतनाही उनके प्रति उसका रागात्मक भाव भी पुराना है। और सामाजिक सम्बन्धोंके परिवर्तन के साथ-साथ चाहे वह भाव बदलता गया हो, जिससे संसारकी कवितामें उनके प्रति विविध भावोंकी अभिव्यक्ति हुई है, लेकिन यह एक सत्य है कि मनुष्यके वातावरणके वे एक आवश्यक अङ्ग हैं और कोईभी कविता उनकी अवहेलना नहीं करसकती।

यहाँ एक बात विचारणीय है। किसी भाषाकी कविता किसी उस देशमें ही होती है जहाँपर उस भाषाके बोलनेवाले रहते हैं। और उस देशकी भौगोलिक स्थितिके कारण जो पेड़, पौधे, फूल, पशु, पक्षी वहाँ पायेजाते हैं उन्हींका वर्णन वहाँकी कवितामें मिलता है। इस तरह अलग-अलग देशोंमें कुछ विशेष पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, फल-फूल वहाँकी विशेषता बन जाते हैं, क्योंकि उनके निवासियोंका उनके साथ नित्यप्रतिका साहचर्य रहता है। भारत वनस्पति और पशु-पक्षियोंका आलय है, इसलिए यहाँकी

कवितामें अनेक पेड़-पौधों और पशु-पक्षियोंका वर्णन मिलता है। फ़ारसी की कविताको यदि अपनी बुलबुलपर नाज़ है और अंग्रेज़ीको अपनी नाइटिङ्गेल, कक्कू और लार्कपर तो हिन्दी कविताकी शुक, सारिका और कोकिला का कम गौरव नहीं है।

हिन्दी भाषा आदि-भाषा नहीं है। वह संस्कृत-प्रभावित शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंशसे पैदाहुई है, और संस्कृत यहाँके आर्योंकी भाषा उस समयसे रही है जब समाजका विकास अपने प्रारम्भिक कालमें था। अतः संस्कृतकी अनेक परम्पराएँ हिन्दीकी प्रारम्भिक और मध्य-कालीन कविता में ज्यों-की-त्यों ग्रहण कीगयीं। और कुछका प्रभाव तो आधुनिक कविता में भी मौजूद है।

संस्कृतके कवियोंने प्रकृतिका विविध रूपसे वर्णन किया है। संस्कृत के अनेक कवि प्रकृतिके अनन्य पुजारी थे। वनों और उपवनोंमें रहकर वे प्रकृतिकी छटा देखकर तल्लीन होते थे, इसलिए उन्होंने जो प्राकृतिक वर्णन किया है उसमें सूक्ष्म निरीक्षण है। इस वर्णनमें उन्होंने अपने अनुभवसे देखे अनेक पशु, पक्षियों और फूलोंका वर्णन किया है। लेकिन जब भारतीय सामन्ती समाज स्थायित्व पागया और नियम और क़ानूनोंसे समाजकी हर गति-विधिको बाँधागया तो पेड़, पौधे, फूल, पशु, पक्षी, जिनका वर्णन पहलेके कवि स्वतन्त्र रूपसे करचुके थे, उनको उन्होंने नाम गिना-गिनाकर शृंगारके उद्दीपनकी श्रेणीमें रखदिया और बाक़ी अलङ्कार मात्र बनादिये। इससे वर्णनकी परम्पराएँ बनगयीं। जब हिन्दी-कविताका जन्म हुआ तब उसमें भी रीति-ग्रन्थोंकी शास्त्रीय परम्पराके अनुकूल ही पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों का प्रयोग होनेलगा। अपने अनुभवसे जानकर वर्णन करना हिन्दीके कवियों ने ज़रूरी न समझा। दृश्योंका स्वतन्त्र चित्रण होना तो बिल्कुल ही बन्द होगया। यहाँतक कि हिन्दीके प्रबन्ध-काव्योंमें भी वातावरणका चित्रण करनेकी जहाँ ज़रूरत पड़ी है वहाँ नाम गिनाकर ही काम चलायागया है। अन्यथा संयोग या वियोग शृंगारके रूपमें उनका प्रयोग हुआ है। जायसी के 'पद्मावत' में कई स्थलोंपर प्रकृतिका वस्तु-वर्णन बड़ा भावपूर्ण हुआ है, लेकिन उन्होंने भी परम्पराओंका पालन करतेहुए पेड़, पशु, पक्षियोंके नाम गिनाये हैं और उनसे उद्दीपनका कामलिया है। उन्होंने पद्मावतमें इतने फल-फूलों, पेड़-पौधों और पशु-पक्षियोंका उल्लेख किया है कि उनका

अपेक्षित गुणोंसे साधर्म्य रखनेवाले फल-फूल हैं। जायसी, सूर और तुलसी में तो इनका प्रचुर मात्रामें प्रयोग हुआ ही है लेकिन रीति-कालीन कविता में उनकी झड़ी लगायी गयी है। जहां स्त्रीके रंगकेलिए [illegible] और केतकी; मुखमंडलकेलिए कमल; नेत्रोंकेलिए नील कमल, खंजन और चकोर; अधरोंकेलिए बन्धूक पुष्प; दांतोंकेलिए कुन्दकली; बाहोंकेलिए मृणालनाल; हाथोंकेलिए पद्म; वक्षोंकेलिए कमल, चक्रवाक; जंघोंकेलिए कदली-स्तम्भ; चरणोंकेलिए कमल आदि उपमाएँ पेश करदीं। इनमेंसे बहुत से उपमान पुरुषोंके सौन्दर्य वर्णनमें भी आते हैं। हिन्दी-कवितामें कमल के.फूलका सबसे अधिक महत्त्व है। शरीरके हर अंगकी उपमा उससे दी गयी है; ऐसे स्थल भी मिलते हैं जहां एकही पंक्तिमें उससे चार-चार उप-मानोंकी क़वायद करायीगयी है जैसे 'नवकंज-लोचन कंजमुख करकंज पद-कंजारुणम्।'

हिन्दीके प्रबन्ध-काव्योंमें पेड़ पौधों, पशु-पक्षियों और फूलोंका एक और परम्पराके अन्तर्गत वर्णन हुआ है, और वह परम्परा है उनके शुभ-अशुभ लक्षणोंकी। किसी उत्सवका वातावरण दिखानेकेलिए अशोक, आम, मौलश्री, बेल, कदली, चन्दन आदि वृक्षों; कमल, चंपक, शेफाली, मालती आदि फूलों; गौ, गज, अश्व, मृग आदि पशुओं; हंस, मोर, भारद्वाज, नीलकण्ठ, कोकिल, खञ्जन, शुक, भुजङ्गा, कबूतर, पिड़की आदि पक्षियों की उपस्थिति दिखायी जाती है। किसी दुर्घटनाकी पूर्व सूचना देने या उस के बादका वातावरण दिखानेकेलिए नीम, बबूल, बेर, इमली आदि अप-शकुन-सूचक पेड़ोंका नाम लियाजाता है; पशुओंमें बिल्ली, कुत्ता, लोमड़ी, गीदड़, नेवला, भैंसा, बन्दर, साही, स्यार और पक्षियोंमें उल्लू, चील, गिद्ध, बाज़ आदि आते हैं।

अबतक हमने पेड़-पौधों, फूल, पशु-पक्षियोंके वर्णनकी परम्पराओं का ज़िक्र ही ज़्यादा किया है क्योंकि मेरा उद्देश्य यह बताना था कि हिन्दी की कवितामें उनका वर्णन किस रूपमें हुआ है और उनका क्या महत्व है। महत्व होनेसे ही कवि-प्रसिद्धियाँ और परम्पराएँ बनती हैं, इसलिए उन्हें समझलेना ज़रूरी था।

आजकलकी छायावादी या-प्रगतिवादी कविताने इन परम्पराओं को या तो छोड़ ही दिया है या हेरफेरकर अपनाया है। छायावादी कवियों

ने बहुत हदतक उद्दीपनके रूपमें ही प्रकृतिके इन अङ्गोंका वर्णन किया है, लेकिन उसमें नायक या नायिकाका स्थान कविने स्वयं लेलिया है। दूसरे, चूँकि छायावादी कविता समाजके प्रति व्यक्तिके मुक्तिकामी असन्तोषकी कविता है और व्यक्तिकी स्वतन्त्रताकी घोषणा करती है इसलिए उसमें प्रकृतिका स्वतन्त्र चित्रण भी हुआ है जिसमें प्रकृतिको ही आलम्बन माना गया है।

आधुनिक कवितामें पाश्चात्य समाजके सम्पर्कमें आनेसे कई नये पुष्पों और वृक्षोंका वर्णन होनेलगा है, लेकिन अपरिचित होनेके कारण कवितामें उनका कोई महत्व नहीं होपाया है। यह विचारणीय है कि हमारे अधिकांश कवि नगरों ही में रहते हैं, और उनका ग्राम जीवनसे ऐसा-वैसा ही सम्बन्ध है। इसलिए उनकी कवितामें पशुओंका वर्णन नहींके बराबर है और वृक्षोंका उल्लेख भी कम होता जारहा है, पुष्पोंमें भी उन्हींका उल्लेख ज़्यादा रहता है जो नगरके यत्नसे लगाये बाग़ीचों और पार्कोंमें मिलते हैं। पन्तजीने 'ग्राम्या' में गाँवोंमें मिलनेवाले बहुतसे पेड़-पौधों और पक्षियोंका वर्णन किया है। लेकिन ऐसे वर्णन बहुत कम हैं। तोभी छायावादी और प्रगतिवादी कविताकी सहज प्रवृत्ति प्रकृतिका निरीक्षण करनेकी ओर है, यद्यपि इस निरीक्षणमें शहरीपन ही ज़्यादा है। इसलिए जबतक हमारे कवि विशाल प्रकृतिको एक झरोखेसे देखनेकी आदत छोड़ कर उसे उसके बड़े आँगनमें घुसकर नहीं देखेंगे तबतक वे उसके उन अङ्गों, उन पेड़-पौधों और पशु-पक्षियोंका ऐसा व्यापक वर्णन नहीं करसकते जिसमें हमारे सामाजिक जीवनको समृद्ध बनानेवाले इन सहचरोंका उनके नये उपयोगोंकी दृष्टिसे सम्पूर्ण सौन्दर्य प्रकट होसके और वे हमारे रागों [illegible] समझें।

द्विवेदी-कालसे हिन्दी पत्र-कलाका विकास

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदीने सन् १६०३ में 'सरस्वती' का सम्पादन करना शुरू किया। उस वक्त भी हिन्दीमें पत्र - पत्रिकाओंकी काफ़ी तादाद थी और उनसे भी कहीं ज़्यादा पत्रकारोंकी। लेकिन पत्र-कला नाम की कोई चीज़ न थी।

पत्र-पत्रिकाओंमें हिन्दी प्रदीप, आनन्द कादम्बिनी, भारत-जीवन, भारत-मित्र, उचित वक्ता, सारसुधानिधि, हिन्दी बंगवासी, आर्यमित्र, हिन्दुस्तान, हितवार्ता, और नागरी प्रचारिणी पत्रिका ख़ास थीं। ज़्यादातर पत्र कलकत्तेसे निकलते थे और हिन्दी पाठकोंपर उन्हींका सबसे ज़्यादा असर था।

इन पत्र - पत्रिकाओंके सम्पादक हिन्दीके प्रसिद्ध लेखक होते थे। यह बड़े-बड़े लेखक, जो अक्सर संस्कृत-फ़ारसीके भी पण्डित थे, उस वक्त हिन्दीके गद्यका स्वरूप बनाने और हिन्दीका प्रचार करनेमें लगेहुए थे। इनमें बाबू बालमुकन्द गुप्त, पण्डित बदरीनारायण चौधरी, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० गोविन्दनारायण मिश्र, पं० माधवप्रसाद मिश्र, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र, पं० सदानन्द मिश्र, पं० रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दरदास, लाला भगवानदीन और बाबू गुलाबराय जैसे ऊँची चोटीके लेखक थे।

यह पत्र दो क़िस्मके थे। एक साप्ताहिक दूसरे मासिक त्रैमासिक। साप्ताहिक पत्रोंमें सम्पादकीय टिप्पणी, देश-विदेशकी ख़बरें, बाज़ारके भाव, और कभी-कभी एक-दो छोटे-छोटे लेख रहते थे। यह पत्र दो या ज़्यादा-से-ज़्यादा चार सफ़ेके, और कोई-कोई तो एक ऑफ़िस-टेबिलकी साइज़के इसलिए होते थे कि छोटी साइज़के पत्रोंको देखकर पाठक कहता "यह कैसा पतला पतला सा अख़बार है!" इन समाचारपत्रोंका सम्पादन ठीकसे न होता था। अंगरेज़ीके अख़बारोंसे अनुवाद करके ख़बरें दीजाती थीं। तार, संवाददाता, सहकारी सम्पादक, बाक़ायदा दफ़्तर, प्रूफ़रीडर वग़ैरहकी

ज़रूरत न पड़ती थी। खबरोंकी भाषा बड़ी चटकती-मटकती और लच्छेदार होती थी, जिसकी नाज़ो-अदासे खबरका तो कचूमर निकल जाता था। महत्वके अनुसार मोटी-पतली हेडलाइनें देकर ख़बर छापनेका उन दिनों चलन न था। खबरोंका चुनाव, उनका डिस्प्ले, उनकी भाषा आजकी पत्रकलासे बहुत पीछे थी; आर्यसमाज और सनातनधर्मके झगड़े और बालविवाह, विधवाविवाहके सवालोंको लेकर देशमें चले समाज-सुधार आन्दोलनकी चरचा तो उनमें खूब रहती थी. लेकिन राजनैतिक विषयोंकी चरचा या सरकारके कार्योंकी नुक्ताचीनी बहुत कम होती थी।

इसके अलावा जो मासिक-त्रैमासिक पत्र थे उनमें सम्पादन-कला की कमी खटकती थी। उन पत्रोंका रूप-रंग तो मामूली दर्जेका होता ही था, लेखोंका चुनाव, उनमें तरमीम, उनका सम्पादन आदि भी न होता था; विषय भी इने-गिने होते थे।

इस तरह सम्पादन-कला और पत्र-कला उस समय या तो थीं नहीं या अपने प्रारम्भकालमें थीं। इसके दो कारण थे। पहला तो यह कि पाठक बहुत कम थे और ग्राहक बढ़ानेका मसला हमेशा सामने पेश रहता था। अक्सर पत्रोंके सौ-दो सौ से ज़्यादा ग्राहक न होते थे। फिर पत्र-कलापर ध्यान देने या उसका विकास करनेके साधन जुटानेका मौक़ा ही कहाँ था? इसीलिए ज़्यादातर पत्र लीथोपर छपते थे।

दूसरा सवाल था भाषाका। उस वक्त तक हिन्दीके गद्यकी कोई साफ़ सुथरी शक्ल न बन पायी थी। प्रान्तीय प्रयोगों, व्याकरणकी ग़लतियों और अलंकारोंकी भरमारसे भाषा चुलबुली और व्यंगपूर्ण होतेहुए भी बेढङ्गी थी, यहाँतक कि लिखावटका भी कोई स्टैन्डर्ड रूप न था।

आचार्य द्विवेदीने सबसे पहले लेखोंका सम्पादन, संशोधन करना शुरू किया, बाक़ायदा विषयोंका चुनाव कर 'सरस्वती' को सजधजके साथ निकाला और जिस एक कारणसे हिन्दी पत्रकला ही नहीं बल्कि समूचे गद्य-साहित्यका विकास रुकाहुआ था उसे उन्होंने मिटादिया। यानी हिन्दीके गद्यकी भाषाका स्वरूप निश्चित करदिया।

व्याकरणकी ग़लतियाँ दूर करनेकेलिए उन्होंने सरस्वतीमें एक लेख "भाषाकी अनस्थिरता" नामसे लिखा। कुछ दिनोंकेलिए हिन्दी पत्र-कला

में बड़ी सरगरमी रही और इस मसलेपर लोगोंने विद्वत्तापूर्ण विचार प्रगट किये। बाबू बालमुकुन्द गुप्तने जब आत्मारामके नामसे भारतमित्रमें द्विवेदीजीके खिलाफ़ लिखा तो पंडित गोविन्दनारायण मिश्रने 'आत्मारामकी टें टें' नामके लेखमें उनको ज़ोरदार जवाब दिया। इन्हीं दिनों पंडित सखाराम देउस्करने विभक्तियोंका सवाल उठाया। पं० गोविन्दनारायण मिश्रने कलकत्तेकी 'हितवार्ता' में एक पांडित्यपूर्ण लेखमाला निकाली जिसमें उन्होंने कहा कि विभक्तियोंको शब्दोंके साथ मिलाकर लिखना चाहिए। लाला भगवानदीन और आचार्य द्विवेदीने इसका विरोध किया। इससे लेखक दो दलोंमें बँटगये। इस बहस और चरचासे यह लाभ हुआ कि अब लेखक अपनी भाषाके बारेमें सतर्क रहनेलगे और हिन्दी गद्यका स्वरूप स्थिर हो चला।

आचार्य द्विवेदीने हिन्दीके गद्यकी साहित्यिक भाषा बनायी और उनके समयके दूसरे लेखकोंने हिन्दीके समाचारपत्रोंकी। इससे नये-नये विषय सामने आये और उनकी अपनी-अपनी शैलियाँ और शब्द योजनाएँ बन चलीं। इन लेखकों और पत्रकारोंकी कोशिशसे हिन्दीके गद्यसाहित्य और पत्र-कलाके विकासकेलिए अनुकूल ज़मीन तैयार होगयी।

सरस्वतीकी देखादेखी इन्दु, लक्ष्मी, प्रभा, प्रतिभा, शारदा, मनोरमा, मर्यादा बहुत-सी पत्रिकाएँ निकलनेलगीं। खास-खास विषयोंको लेकर भी पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं।

हम पहले कहचुके हैं कि क्यों द्विवेदीजीके ज़मानेमें राजनैतिक विषयोंको लेकर बहुत कम चरचाएँ रहती थीं। लेकिन समाचारपत्रों और पत्र-कलाका किसी देशके राजनैतिक जीवनसे गहरा सम्बन्ध रहता है। इसलिए जैसेही भाषाका मसला हल हुआ, और दूसरी ओर बंगभंग आन्दोलनसे देशमें राजनैतिक चेतनाकी लहर फैली, हिन्दी पत्र-कलाकी यह कमी भी दूर होचली। बाबू बालमुकुन्द गुप्तने लॉर्ड कर्ज़नके खिलाफ़ अपना 'शिवशम्भूका चिट्ठा' लिखा जो कलकत्तेके भारतमित्रमें धारावाहिक रूपसे छपा। श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर, पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र, पंडित अम्बिकाप्रसाद वाजपेयीने गंभीर राजनैतिक लेख लिखने शुरूकिये। हितवार्ता, भारतमित्र और हिन्दुस्तानमें राजनैतिक चरचाएँ होनेलगीं। इसी बीचमें पं० सुन्दरलालका कर्मवीर, प्रताप और अभ्युदय निकले। इन पत्रोंने हिन्दी

भाषी जनताकी राजनैतिक चेतनापर गहरा असर डाला। यह पत्र राष्ट्रीय थे और इनकी पूरी सहानुभूति राष्ट्रीय आन्दोलनके साथ रही। अभ्युदयको पंडित मदनमोहन मालवीय और पं० कृष्णकान्त मालवीयका सहयोग प्राप्त था। पिछला महायुद्ध जब छिड़ा तो हिन्दी पत्र-कलाका विकास रुक-सा गया। क्योंकि लड़ाईके ज़मानेमें उनपर औरभी पाबन्दियाँ लगगयीं। सन् १९२० तक यही हाल क़ायम रहा।

युद्धके बाद देशकी राजनैतिक फ़िज़ाँ बदलगयी। राजनैतिक बेचैनी बढ़ी और असहयोग और खिलाफ़त आन्दोलनका ज़माना आया। इस हलचलके युगने श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर और श्री गणेशशङ्कर विद्यार्थी जैसे दो ज़बरदस्त पत्रकार व्यक्तित्व पैदा किये। सन् १९२० में बनारससे दैनिक आज निकला। पराड़करजी उनके सम्पादक हुए। उन्हीं दिनों कानपुरका साप्ताहिक प्रताप दैनिक बना और स्वर्गीय श्री गणेशशङ्करजीने उसका सम्पादन-कार्य सँभाला। अंगरेज़ी पत्र-कलाका गहरा अध्ययन होनेके कारण ये दोनों व्यक्ति सही अर्थोंमें पत्रकार थे। इन्होंने हिन्दीकी पत्र-कलाकी कायापलट करदी। आजकलकी पत्र-कलाके अन्दर महत्वकी खबरें पाने और उन्हें आकर्षक ढंगसे विस्तारित करनेके अतिरिक्त उन खबरों के अच्छे-बुरे असरके बारेमें जनहितकी दृष्टिसे सम्मति प्रकट करना एक बहुत ज़रूरी कर्तव्य होता है। और देशोंमें समाचारपत्रोंकी ताक़त सभी स्वीकार करते हैं, क्योंकि वे जनताकी रायका इज़हार करते हैं और तात्कालिक प्रश्नोंपर जनताको अपनी राय क़ायम करनेमें मदद देते हैं। आज और प्रतापने हिन्दी पत्रोंमें एक नयी शक्ति पैदा करदी जिससे वे देशकी राजनैतिक गतिविधिपर असर डालने योग्य होगये। पराड़करजी और गणेशशङ्करजीकी टिप्पणियाँ सुलझी, गंभीर और देशकी राष्ट्रीय हलचलों, संघर्षों और आकांक्षाओंको प्रकट करनेवाली होती थीं, इसलिए आज और प्रतापका प्रभाव इतनी तेज़ीसे बढ़ा कि कलकत्तेके समाचार-पत्र हिन्दी-भाषी प्रान्तों में धाक खोबैठे।

अब हिन्दी पत्र भी तारसे खबरें मँगानेलगे। सम्वाददाता तैनात कियेगये। खबरोंका बाक़ायदा सम्पादन कर उचित हेडलाइनें देनेलगे और अंगरेज़ी अखबारोंकी तरह उनमें भी ताज़ी खबरें रहने लगीं। सन् १९२० के बाद हिन्दीमें जितने भी दैनिक पत्र निकले हैं वे न सम्पादन या पत्र-

सिद्ध करते हैं कि प्रबुद्ध पत्रकार अपनी कलाकेलिए नये मार्ग खोजनेमें प्रयत्नशील हैं। आज हिन्दी पत्रकलामें जो बात खटकती है वह यह कि एक-दोको छोड़कर कोई बड़ा पत्रकार नहीं है और ज्यादातर आजकलके उथल-पुथलके ज़मानेकेलिए नितान्त निकम्मे हैं। संक्षेपमें यह हिन्दी पत्र-कलाके विकासका इतिहास है।

हिन्दी पत्रकलाका विकास अनेक बाधाओं और पाबन्दियोंके बीच हुआ है। पाठकों और उचित साधनोंकी कमी आजभी उसका हाथ पैर बाँध देती है। हिन्दीके 'आज' और अँगरेज़ीके 'स्टेट्समैन' के दफ़्तरों को देखनेसे हिन्दी पत्रकलाकी मजबूरियाँ अपने-आप मालूम पड़ जायेंगी। हिन्दीमें रायटर या असोशियेटेड प्रेस जैसी कोई एजेन्सी भी नहीं है और खबरोंकेलिए अँगरेज़ी तारोंका अनुवाद भाषाको तो बिगाड़ता ही है वक्त से ताज़ी खबरें पहुँचानेमें भी काफ़ी दिक़्क़तें पेश करदेता है। जनमत बनानेकेलिए प्रेसकी स्वतन्त्रतापर सख्त क़ानूनी पाबन्दियाँ हैं। इतने कम साधनों और इतनी पाबन्दियोंके बावजूद हिन्दी पत्रकला तरक़्क़ी करती आयी है। लेकिन यह तरक़्क़ी एक बँधे घेरेमें हुई है। जिसमें शायद अब गुञ्जायश नहीं रही। इसलिए स्वतन्त्र देशोंकी पत्रकला तक आगेकी मंज़िलें पूरी करनेकेलिए इस घेरेको टूटना चाहिए।

काश्मीरी भाषा साहित्य और कवि महजूर

जयपुर साहित्य सम्मेलनके सभापति गोस्वामी गणेशदत्तने अपने अभिभाषणमें काश्मीरके सम्बन्धमें कहा :

"शैवोंका गढ़ काश्मीर संस्कृत साहित्य और शिक्षाका एक केन्‌ रहा है। उन्नीसवीं सदी तक यहाँ शुद्ध हिन्दीके काव्योंकी रचना हुई है। आज भी चालीस लाख जनतामेंसे सतीस लाख जो भाषाएँ बोलती हैं, उनमेंसे चार देवनागरी लिपिमें लिखी जाती हैं, एक शब्द-भण्डारकी दृष्टि से संस्कृत के निकट है और दो हिन्दीकी शाखाओंसे सम्बन्ध रखती हैं परन्तु राज्यकी भाषा और शिक्षाका माध्यम उर्दू है।"

काश्मीरमें हिन्दीकी दशा शोचनीय है, यह कई बार सुनचुका था; अबोहर सम्मेलनमें डॉ० अमरनाथ झाने भी अपने भाषणमें यही बात कही थी। इस सम्बन्धमें कुछ लोगोंको यह भी कहते सुना था कि काश्मीरी भाषा आर्य-परिवारकी भाषा है और संस्कृतसे निकली है, अतः उसके बहुत निकट है। यह तर्क तो बहुधा दियाजाता है कि हैदराबादके मुस्लिम शासकने यदि उर्दूको राजभाषा बनाया है तो काश्मीरके हिन्दू शासकको भी चाहिए कि वे हिन्दीको राजभाषा बनावें। इस साम्प्रदायिक तर्कको कभी स्पष्ट कभी प्रच्छन्न रूपसे वर्षोंसे दुहराया जारहा है। अतः जब मैंने गोस्वामीजीके भाषणकी उपरोक्त पंक्तियाँ पढ़ीं तो सबसे पहले मेरे ऊपर यह प्रभाव पड़ा कि उर्दूको शिक्षाका माध्यम बनाकर काश्मीरमें हिन्दीके साथ घोर अन्याय होरहा है क्योंकि वहाँकी अधिकांश भाषाएँ हिन्दी और संस्कृत के निकट हैं। दूसरे यह कि काश्मीर शैवोंका गढ़ है अर्थात् बहुसंख्यक जनता शिवोपासक है। निश्चय ही मुसलमान शिवोपासक नहीं हो सकते, अतः बहुसंख्यक जनता हिन्दू है और वह भी ब्राह्मण जातिकी, क्योंकि इधर जितने काश्मीरी देखे वे सब ब्राह्मण ही पाये। गोस्वामीजीके वक्तव्यमें एक बात समझमें नहीं आयी कि यदि उन्नीसवीं सदी तक काश्मीरमें शुद्ध हिन्दीके

काव्योंकी रचना हुई तो उनका उल्लेख हिन्दी साहित्यके इतिहासोंमें क्यों नहीं मिलता। अतः यह पता लगानेकी भी सुविधा न रही कि बीसवीं सदी में आकर काश्मीरमें 'शुद्ध हिन्दीके काव्यों' की परम्परा कहाँ और कैसे लोप होगया।

पाठकोंको मेरी अनभिज्ञतापर आश्चर्य नहीं करना चाहिए। सम्भव है साधारण पाठक स्वयं इसपर आश्चर्य करनेकी स्थितिमें नहीं हैं और मेरे ही समान गोस्वामीजी और दूसरे प्रचारकोंकी बातोंको भाषाशास्त्र और इतिहास सम्मत स्वीकार करके कुछ वैसीही उलझनोंमें पड़े हुए हैं जिनमें एक वर्ष पूर्व मैं पड़गया था। परन्तु मैं उन दिनों जनपदीय भाषाओंके प्रश्न का नये सिरेसे अध्ययन कररहा था, इस कारण गोस्वामीजीका भाषण मेरे लिए ब्रह्मवाक्य न बन सका।

कई वर्षोंसे मेरी सहृदय मित्र श्री व्रजकुमारी दर और उनके परिवारका अनन्य आग्रह था कि मैं स्वास्थ्य-लाभकेलिए काश्मीर जाऊँ। इस वर्ष उनके इस स्नेह-निमन्त्रणको स्वीकार करनेका अवसर मिला। उन्होंने मुझे काश्मीरी भाषा, साहित्य और कवि महजूरसे परिचय प्राप्त करनेकेलिए जो सुविधाएँ जुटायीं, उसकेलिए कृतज्ञ होना स्वाभाविक है। इसलिए और भी कि मेरी अनभिज्ञता अब उतनी भयंकर नहीं रही, जितनी पहले थी।

उन्हीं दिनों राष्ट्रभाषा प्रचार समितिके प्रधान-मन्त्री और मेरे परम मित्र श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन भी श्रीनगर में थे और उनसे तथा श्रीमती सत्यवती मल्लिकसे काश्मीरी भाषा और साहित्यपर अक्सर विचार-विनिमय होता रहता था और हम लोग एक दूसरेकी जानकारी और खोज से लाभ उठाते थे।

काश्मीर संसारके सबसे सुन्दर देशोंमेंसे है। प्रकृतिने अपना वैभव जितना काश्मीरमें बिखेरा उतना अन्यत्र कहीं नहीं। देश-विदेशके असंख्य यात्री प्रकृतिके इस वैभवकी अनुपम सुषमा और वैविध्यका साक्षात्कार करने जाते हैं और जैसे सम्मोहित होकर लौटते हैं। उनका सौन्दर्य-बोध अपनी रूढ़ सीमाओंको तोड़कर इतना विस्तृत होजाता है कि अन्य प्रदेशोंके रमणीक स्थान तुच्छ लगने लगते हैं। प्रकृतिने अपनी श्री - समृद्धिके प्रदर्शनका इतना विराट आयोजन और कहाँ किया है? काश्मीरके निवासी भी इस

अतुल सौन्दर्य राशिका नित्य साक्षात्कार करते हैं, इससे उनकी सौन्दर्य-वृत्ति अत्यन्त सूक्ष्म और कोमल बन गयी है। इसका अनुमान उनकी दस्त-कारियोंकी कलात्मकतामें मिलता है। कलाकी इस परम्पराको उन्होंने आज भी अक्षुण्ण रखा है। परन्तु यह उनके जीवनकी सबसे बड़ी विडम्बना है कि उनका अपना जीवन—सामाजिक और सांस्कृतिक— उतनाही कुरूप और तुच्छ है। प्रकृति और मानव चिरकालसे काश्मीरमें दो भिन्न धरा-तलों पर रहते आये हैं। सदियोंकी गुलामी दोनोंके बीचमें एक अभेद्य दीवार बनकर खड़ीरही है और उसने प्रकृतिके वैभवपर काश्मीरकी जनता के उत्तराधिकारको कभी प्रतिफलित नहीं होने दिया। सांस्कृतिक विकास की असाधारण संभावनाएँ दबी पड़ी रहगयीं। प्रकृति और मानवके इस वैषम्यको देखकर एक संवेदनशील यात्रीकी सौन्दर्य - प्रतीतिमें क्रूर विक्षेप होता है और उसे कवि पन्तकी निम्न पंक्तियाँ स्मरण हो आती हैं :

प्रकृति धाम यह ! तृण तृण कण कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित,
यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विपएण जीवन्मृत !!

और जब मैं इस तीखी अनुभूतिसे अपनेको अछूता न रखसका तो मैंने काश्मीरी भाषा और साहित्यकी खोजबीन की। गोस्वामीजी और दूसरे प्रचारकोंने काश्मीरकी सांस्कृतिक समस्याओंको जितना सरल बनाकर भ्रान्तियाँ फैलायी हैं, उनकी जाँच करना ही मेरा उद्देश्य न था, परन्तु मैं इस खोजबीनसे उस देशके जन - जीवनकी वस्तुस्थितिसे परिचित होना चाहता था जो प्रतिवर्ष देश-देशान्तरसे आये सहस्रों यात्रियोंके विहार मनो-रंजन, स्वास्थ्य और विश्रामकेलिए मुक्तभावसे अपना आतिथ्य प्रदान करता है, पर दूसरोंको ये सुख सुविधाएँ जुटाकर स्वयं अपनी 'सभ्यता, संस्कृतिसे निर्वासित' जनताको 'अन्न-वस्त्र-पीड़ित, असभ्य, निर्बुद्धि, पंकमें पालित' रखता है। आज 'नये काश्मीर' के नारेकी गूँजसे काश्मीरी जनता के जीवनमें एक नयी चेतनाका स्पन्दन मुखर होउठा है, परन्तु वहाँके लोकसाहित्यकी परम्पराने उसके जातीय वैशिष्टयको विनष्ट नहीं होनेदिया, इस तथ्यसे हम सभी अपरिचित ही रहे हैं। उसके योगदानको तो औरभी नहीं जानते। अतः इस लोक परम्पराका परिचय काश्मीरके सांस्कृतिक जीवन और उसकी समस्याओं - संभावनाओंको समझनेमें सहायक होगा,

इतना तो साधारणतः अनुमेय है।

काश्मीर राज्यका दो-तिहाई भाग तिब्बती इलाका है, दुर्गम पर्वत शृङ्खलाओंके पीछे छिपा। यहाँ अनेक छोटी छोटी अमन्द जातियाँ इधर उधर बिखरी हुई हैं जो आस्ट्रो-एशियाटी परिवारकी बुरुशस्की और तिब्बती-चीनी परिवारकी लद्दाखी आदि बोलियाँ बोलती हैं। जब काश्मीर का ज़िक्र आता है तब यह विशाल हिम-प्रदेश अभिप्रेत नहीं होता। काश्मीर तो केवल उस विशाल समतल घाटी और उसकी चतुर्दिक पर्वत-मालाओंके रम्य प्रदेशको कहते हैं जिसमें श्रीनगर, गुलमर्ग, पहलगाँव आदि प्रसिद्ध स्थान हैं। पूरे काश्मीर राज्यकी अपेक्षा इस प्रदेशका क्षेत्र-फल लगभग आठवें हिस्सेके बराबर है। इसी प्रदेशकी भाषा काश्मीरी है।

काश्मीरी भाषा

काश्मीरी भाषा समूची काश्मीर-घाटीमें बोली जाती है। काश्मीरी अपने देशको काशीर कहते हैं और काश्मीरीको कौशीर। भाषाका काश्मीरी नाम सम्भवतः संस्कृतके 'कास्मीरिका' से निकला है।

हिन्द-ईरानी शाखाकी एक उप-शाखा दर्दी भाषाएँ हैं जिनमें शीना, काश्मीरी और कोहिस्तानी मुख्य हैं। शीनाको गिलगिती भी कहते हैं। दर्दी समूहकी यह सबसे विशुद्ध भाषा है क्योंकि इसपर दूसरी भाषाओं और संस्कृतियोंके प्रभाव नहीं पड़े। कोहिस्तानी भाषा कई बोलियोंका समूह है और उनपर पश्तोका गहरा प्रभाव पड़ा है। काश्मीरीपर संस्कृत, फ़ारसी और अरबीका सदियोंसे प्रभाव पड़ता आया है।

काश्मीरी भाषा-क्षेत्रके उत्तरमें शीनाका क्षेत्र है। पश्चिमोत्तरमें कोहिस्तानी, पश्चिममें लहँदा (पश्चिमी पञ्जाबी) की छिबाली और पूँची बोलियाँ, दक्षिण पश्चिममें डोंगरी (पञ्जाबकी बोली) मध्य-दक्षिणमें भद्रवाही (पश्चिमी पहाड़ीकी बोली), दक्षिण-पूरबमें पादरी (पश्चिमी पहाड़ी की बोली) और पूरबमें पुरिक, लद्दाखी, और बाल्ती आदि तिब्बती-ब्रह्मी की बोलियोंका क्षेत्र है। काश्मीरकी अपनी केवल एक ही बोली है—कश्त-वारी। यह काश्मीर-घाटीके दक्षिण-पूरबके कश्तवार पर्वत-प्रदेशमें बोली जाती है। जम्मू प्रान्तकी पीर पन्तसाल पर्वत-मालाओंमें भी काश्मीरी बोलीजाती है। पोगुली, दोदाकी सिराजी, रामबानी और रियासीकी बोलियाँ

भी काश्मीरीसे निकली हैं। कुल मिलाकर काश्मीरीके बोलनेवालोंकी संख्या लगभग १५ लाख है। दर्दी समूहकी भाषाओंके विषयमें यह कहना कि वे संस्कृतसे निकली हैं, उतना ही सत्य होगा जितना यह कहना कि अरबी और फ़ारसी संस्कृतसे निकली हैं। हिन्द-ईरानी शाखाकी तीन स्वतन्त्र उप-शाखाएँ हैं: ईरानी भाषा समूह, भारतीय आर्य भाषा-समूह और दर्दी भाषा-समूह। काश्मीरी इस तीसरे समूहकी एक स्वतन्त्र भाषा है। उसका अपना स्वतन्त्र व्याकरण है। वह ईरानी और भारतीय आर्यके बीचकी है। काश्मीरी बहुत पुरानी भाषा है। भारतमें आर्योंके आनेके पूर्वही कदाचित छोटी-'पिशाच' जातियाँ उत्तर-पश्चिमके पहाड़ोंमें निवास करती थीं। लगभग दो हज़ार वर्ष पूर्व आर्योंने इन पिशाच (दारद) जातियोंको जीतकर उनपर शासन करना प्रारम्भ किया। आर्योंने संस्कृतको राजभाषा बनाया और काश्मीरी भाषाको लगभग डेढ़ हज़ार वर्षतक संस्कृत भाषा और संस्कृतिसे प्रभावित करते रहे। काश्मीरीने ये प्रभाव ग्रहण किये परन्तु उसकी गठन में फ़र्क नहीं आया, उसका ढाँचा नहीं टूटा। काश्मीरी जनताने संस्कृत के प्रबल प्रभावके आगे अपनी मातृभाषाका अस्तित्व नहीं मिटने दिया, यद्यपि ब्राह्मणोंने काश्मीरको संस्कृतका विशाल केन्द्र बनादिया था, संस्कृत में इतिहास, काव्य, प्रेम-कथा और दर्शनके महान ग्रन्थोंकी रचना की थी। संस्कृतके दो विश्वविद्यालय भी स्थापित कियेगये थे: एक श्रीनगरके निकट 'पांद्रैठन' नामसे, दूसरा उत्तरकी पर्वत मालामें 'शारदा' तीर्थस्थानपर। जब छठी सदीमें चीनी यात्री ह्वेनसाङ्ग भारत आया तब उसने सबसे पहले 'पांद्रैठन' में बैठकर तीन वर्ष तक संस्कृतका अध्ययन किया। आर्योंके आनेके बाद भी लगभग एक हज़ार वर्ष तक काश्मीरीकी कोई लिपि नहीं थी। ब्राह्मणोंने असभ्य दारद जातियोंको शिक्षा देना आवश्यक नहीं समझा। अतः किन कारणोंसे उन्होंने शारदा-तीर्थस्थानके संस्कृत-विद्यालयमें नवीं सदीके लगभग उत्तर भारतमें प्रचलित ब्राह्मीकी उत्तरी शैली कुटिल लिपिसे काश्मीरी भाषाकेलिए 'शारदा' लिपि तैयार की, यह अभी तक अज्ञात है। शारदाका सबसे पुराना लेख ११ वीं सदीकी एक रानी 'विदारानी' का एक आज्ञापत्र है जो संस्कृत और शारदा दोनों लिपियोंमें लिखा हुआ है। इस समय यह आज्ञापत्र लाहौरके म्यूज़ियममें सुरक्षित है। 'शारदा' से ही टाकरी लिपि निकली है और गुरुमुखी लिपिके अनेक

अक्षरोंकी बनावट शारदा लिपिके अनुसार है। काश्मीरीका थोड़ा साहित्य शारदा लिपिमें मिलता है। आजकल यह लिपि अप्रचलित है और उसका पुनः प्रचलन संभाव्य नहीं लगता। इधर फ़ारसी लिपिका भी प्रयोग होने लगा है परन्तु उसमें काश्मीरीकी सारी ध्वनियोंको व्यक्त नहीं किया जासकता जिससे पाठ शुद्ध नहीं होता। देवनागरी लिपि में भी काश्मीरी की सारी ध्वनियाँ नहीं व्यक्त होपातीं, अतः नये जागरणके आधुनिक काश्मीरी कवियों के सम्मुख लिपिका प्रश्न आज भी जटिल बनाहुआ है। ये दोनों (फ़ारसी और देवनागरी) लिपियोंमें आवश्यक संकेतचिन्ह लगाकर अपनी रचनाएँ प्रकाशित करते हैं।

काश्मीरके आर्य शासकोंने काश्मीरी भाषाकी सदा उपेक्षा की। इसका प्रमाण कल्हण(११५० ई०)की प्रसिद्ध पुस्तक 'राजतरंगिणी' है। राजतरंगिणी संस्कृत पद्यमें लिखी काश्मीरके राज परिवारोंका इतिहास है। सारी पुस्तक में काश्मीरीके केवल दो या तीन शब्द उद्धृत कियेगये हैं, जैसे 'श्रानपटति न्वीना' (स्नान-पट नहीं है। मुहावरा 'क्या तुम्हारे पास स्नान करनेकेलिए लंगोटी भी नहीं है ?') और 'रंगसह्योलग्युन' (किसी राजाने अपने सेवक रंगापर प्रसन्न होकर उसे 'ह्योल' नामका गांव इनाममें दिया। अतः अगर किसी साधारण मनुष्यपर कोई विशेष कृपा करे तो उसकेलिए काश्मीरी में 'रंग सह्योलग्युन' मुहावरेका प्रयोग होता है।) ब्राह्मणोंने पिशाची भाषासे अपनी संस्कृतिको किस निष्ठासे अछूता रखा, इसका अनुमान करना सरल है। हज़ारों वर्षोंतक काश्मीरी जनताके बीचमें संस्कृतके महान ग्रन्थोंकी रचना होतीरही, परन्तु जनताकी भाषाका एक शब्दभी उसमें प्रविष्ट न होसका। साहित्य और काव्य एक विदेशी शासक वर्गका ही व्यसन-विलास था और इसमें उन्होंने शासित जनोंको कोई भाग नहीं लेनेदिया। विशुद्धताका इतना आग्रह फ़ारसी और/अँग्रेज़ोंने भी कभी नहीं किया। परन्तु काश्मीरी भाषा-भाषी शासितजन अपनी भाषाको संस्कृतके प्रभावसे अछूता न रखसके। संस्कृतके सैकड़ों शब्द, पद और वाक्यांश काश्मीरीमें प्रविष्ट होगये, यद्यपि काश्मीरीके व्याकरणके अनुसार अपनेको रूपान्तरित करके। काश्मीरीमें 'मन' ढलकर 'वन्द' बनगया। चौदहवीं शताब्दीतक संस्कृत का प्रभुत्व रहा तोभी निम्न मध्यवर्गके आर्य (ब्राह्मण) परिवारोंमें इस बीच काश्मीरीका प्रवेश होचुका था और कालान्तरमें उनकी मातृभाषा

संस्कृत न रहकर काश्मीरी बनगयी थी। उसके पश्चात, मुस्लिम शासकों का अधिकार होजानेपर फ़ारसीका दौर शुरू हुआ। संस्कृतके स्थानपर फ़ारसी राज्य-भाषा होगयी। संस्कृत-भक्त ब्राह्मणोंने राजभक्ति दिखानेकेलिए फ़ारसी पढ़ी और अब फ़ारसीमें अपनी काव्य-प्रतिभा प्रयुक्त करनेलगे। पिशाच जातियोंमें इस्लाम फैलनेलगा और काश्मीरकी ९५ फ़ीसदी जनता मुसलमान होगयी। बहुतसे काश्मीरी पण्डित भी मुसलमान होगये। वे अपने नामके आगे अबभी 'बट' (भट्ट) आदि लगाते हैं। फ़ारसीका इतना प्रभाव बढ़ा कि काश्मीरी भाषाका खतोखयाल (नक्शा-स्वरूप) ही बदल गया। फ़ारसीके हज़ारों मुहावरे, कहावतें, शब्द काश्मीरी भाषामें घुलमिल गये। परन्तु फिरभी काश्मीरी भाषाकी गठन, उसका व्याकरण ज्यों-का-त्यों बनारहा। उन्नीसवीं शताब्दीके अन्ततक फ़ारसीका प्रभुत्व रहा, जिसका परिणाम यह हुआ कि आजकी काश्मीरी फ़ारसी-प्रधान भाषा है। काश्मीर के तीन-चार फ़ीसदी ब्राह्मणों - हिन्दुओंकी भाषामें फ़ारसीके उतने शब्द नहीं होते, परन्तु फिरभी संस्कृतकी अपेक्षा अधिक होते हैं।

काश्मीरी का साहित्य

ब्राह्मणोंके शासनकालमें काश्मीरी भाषाके लोक-साहित्यकी क्या अवस्था थी, इसका अभी कोई प्रामाणिक सूत्र नहीं मिला। १४वीं सदी से पूर्वका लोक-काव्य और लोक-कथा-साहित्य काश्मीरीकी श्रुति परम्परा भी सुरक्षित नहीं रखपायी। सुल्तान ज़ैनुलआबदीन (१४१७-६५ ई०) के राज्यकालके किसी अज्ञात कविकी लिखी एक कविता 'बाणासुरवध' मिलती है, जिसे काश्मीरीकी प्रथम कविता कहाजाता है। सूफ़ी कवि लल्लेश्वरी (या लल्लादे) कदाचित् काश्मीरीकी प्रथम कवि हैं। वे एक सन्त कवि थीं, दिगम्बर अवस्थामें घूमती थीं और अपने गीत सुनाती फिरती थीं। कबीरके समान ही उन्हें हिन्दू और मुसलमान दोनों ही पूजते हैं। उनके काव्यमें शिव-भक्तिकी प्रधानता है। लल्लेश्वरीका काल चौदहवीं सदी बतायाजाता है। उनके सम्बन्धमें अनेकों किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं और आजभी उनकी यथेष्ट मान्यता हैं। लल्लेश्वरीके समकालीन ही शायद शेख नूरदीन वली (सूफ़ीसन्त) और सोम पण्डित थे। उनकी रचनाएँ भी मिलती हैं। लल्लेश्वरीके सैकड़ों पदोंकी एक पाण्डुलिपि 'लल्ला वाक्याणि'

संस्कृत शीर्षकके अन्तर्गत तैयार कीगयी। इस बीच काश्मीरमें स्त्रियोंने अधिकतर काव्य रचना की, पुरुष दरबारोंमें फ़ारसी बोलते थे और प्रथानुसार काश्मीरीको हेय दृष्टिसे देखते थे। काश्मीरकी एक मल्का हब्बख़ातून भी काश्मीरीकी प्रसिद्ध कवि थी। अकबरने जब काश्मीर विजय किया तो हब्बख़ातूनके पतिको क़ैद करदिया। वह तब फ़क़ीर बनकर निकलपड़ी। उसकी अनेक कविताएँ सर्व साधारणमें प्रचलित हैं। हिन्दू राजा सुखजीवन सिन्हाके आठ वर्षके राजत्व काल (१७८६ - ९४ ई०) में प्रकाश भट्टने रामावतारचरित और लवकुशचरितकी रचना की। ये रचनाएँ शुद्ध काश्मीरीमें हैं और श्रेष्ठ काव्यमें परिगणित कीजाती हैं। इन ग्रन्थोंमें कतिपय ऐसी पौराणिक कथाएँ हैं जिनका उल्लेख राम - काव्यकी परम्परामें अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। मार्तण्डके पण्डित परमानन्द (१९वीं शताब्दी) ने 'कृष्णावतार लीला' की रचना कर कृष्ण काव्यकी परम्पराका काश्मीरी भाषामें सूत्रपात किया। 'कृष्णावतार लीला' काश्मीरीका उच्च कोटिका काव्य है। प्रकाश भट्ट और परमानन्दके काव्य हिन्दुओंकी काश्मीरीके काव्य हैं, अर्थात् संस्कृत - मिश्रित। फिरभी इन दोनों कवियोंने विशुद्ध काश्मीरीको ही अपना आदर्श रखा था। कृष्ण राज़दानने जो 'शिवपुराण' लिखी, वह अत्यन्त संस्कृतनिष्ठ काश्मीरीमें थी। इस प्रकार हिन्दुओंकी काश्मीरीमें अनेक काव्य ग्रन्थ रचेगये हैं। परन्तु जिस व्यक्तिने आजसे सौ वर्ष पहले आधुनिक काश्मीरी काव्यकी परम्पराका सूत्रपात किया, उसका नाम महमूद गामी है। उसने मुसलमानी काश्मीरीमें फ़ारसीकी तर्ज़पर 'यूसुफ़ - ज़ुलेखा', 'लैला मजनू' और 'शीरीं फ़रहाद' नामकी रचनाएँ कीं। महमूदगामी बहुत बड़े कवि थे परन्तु चूँकि उन्होंने शुद्ध काश्मीरीमें लिखा था इस कारण लोगोंने उनका आदर नहीं किया। ऊँचे वर्गोंसे उन्हें निरादर और उपेक्षा ही मिली। उनके पश्चात सैकड़ों कवियोंने काश्मीरीमें लिखना प्रारम्भ किया। परन्तु बादके कवियोंने इस डरसे कि लोग उनकी नज़्मोंको अनपढ़ोंकी नज़्म कहकर उनका तिरस्कार न करें, उन्होंने फ़ारसीके शब्दोंका बहुलतासे प्रयोग करना शुरू करदिया। फल यह हुआ कि काश्मीरीकी शायरीमें 'काश्मीरी' के तो नाममात्रको दो चार शब्द ही होते थे, बाकी फ़ारसीके होते थे। केवल क्रिया - पद सम्बन्ध - कारक आदि काश्मीरीके रहते थे (जैसे हिन्दी अथवा उर्दूकी अनेक कविताएँ संस्कृत अथवा फ़ारसीमय होती हैं)। फिरभी सैफ़ुद्दीन

का 'वणिक-उज्र' और सुनीति पंडितका 'निसाव' आदि इस दौरके अच्छे काव्य-ग्रन्थ हैं।

सिरामपुरके ईसाई पादरियोंने इन्जीलका अनुवाद १८२१ ई० में शारदा लिपिमें प्रकाशित किया था, परन्तु जब वह प्रचलित न होसका तो फिर उसे फ़ारसी लिपिमें प्रकाशित कराया। पंडित ईश्वरकान्तने १६७६ ई० में संस्कृत भाषामें काश्मीरीका व्याकरण 'काश्मीर शब्दामृत' के नामसे संकलित किया। बादमें ग्रियर्सनने इसका सम्पादन करके १८६३ ई० में 'रॉयल एशियाटिक जरनल' द्वारा प्रकाशित कराया। ग्रियर्सनने काश्मीरी-अंग्रेज़ी शब्दकोष भी तैयार किया। काश्मीरीमें एक प्राचीन भाषाकी तरह लोक कथाओं और कहावतोंका प्राचुर्य है। हमारे यहाँके चारण-भाटोंकी तरह वहाँ 'रावीस' होते हैं जिनका पेशा ही यह होता है कि वे लोक-कथाएँ सुनाते-फिरते हैं। जे० हिन्टन नोले (Rev. J. Hinton Knowles) जिन्होंने १८६३ ई० में काश्मीरकी लोक-कथाओंका संग्रह किया था, कथन है कि एक ही कथाको कई वर्ष पश्चात् सुननेपर भी कहीं एक शब्दका हेर-फेर नहीं मिलता। उनका कथन इतना शुद्ध होता है कि सुनकर आश्चर्य-चकित रहजाना पड़ता है।

इधर काश्मीरी जनतामें जो थोड़ी-बहुत चेतना जगी है उसके फल-स्वरूप काश्मीरी साहित्यके इतिहास लिखे जानेलगे हैं। प्रो० कौल और प्रो० पृथ्वीनाथ 'पुष्प' आदि काश्मीरी काव्य साहित्य और मुहावरों-कहावतों आदिके गंभीर अध्ययन प्रस्तुत करनेके लिए खोज-बीन कररहे हैं।

इस समय काश्मीरीके तीन कवि प्रमुख हैं, महजूर, आज़ाद और मिर्ज़ा ग़ुलाम हसन बेग। इस निबन्धमें मैं कवि महजूरका ही उल्लेख करूँगा, क्योंकि काश्मीरी साहित्यमें उनका वही स्थान है जो हिन्दीमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्रका है। आज़ाद और मिर्ज़ाबेगके लिए महजूर प्रेरक शक्ति और पथ-प्रदर्शक रहे हैं।

कवि महजूर

ग़ुलाम मुहम्मद महजूर काश्मीरी अत्यन्त सरल प्रकृतिके, विनयशील, गंभीर, पर विनोदप्रिय व्यक्ति हैं। लम्बा क़द, गोरा रंग, छोटी पैनी आँखें, कटी-छँटी मूछें, अधपके बाल, हँसमुख चेहरा—इस सीधे-सादे

सीखी। इन्हीं दिनो वे पञ्जाबके बड़े-बड़े शायरोंसे मिले, क्योंकि कविताके प्रति उनका बचपनसे ही अनुराग था। उस वर्ष उर्दू फ़ारसीके महाकवि हजरत शिबली अमृतसर आये। महजूर उन दिनों फ़ारसीमें शेर कहते थे। एक मित्रके साथ हजरत शिबलीसे मिलने गये और उनको अपनी शेर सुनायीं। चन्द शेर सुननेके बाद शिबलीने पूछा, "आपने क्या तख़ल्लुस रखा है?' इन्होंने उत्तर दिया, 'महजूर' (दूर पड़ा हुआ)। शिबली ने पूछा, 'आप किससे दूर पड़े हुए हैं?' महजूरने कहा, 'अपने मादरे वतनसे।' शिबलीने इनकी शेर पसन्द कीं और अपने पास बैठे अन्य मित्रोंसे कहा, 'यह अपने वक्तके अच्छे शायर होंगे।'

सन् १९०७ में महजूर श्रीनगर वापस लौट गये। उस समय चौधरी ख़ुशी मुहम्मद 'नाज़िर' मुहतमिम बन्दोबस्त (Settlement Officer) थे। वे स्वयं कवि थे। महजूरको नौकरीकी तलाश थी, अतः उन्होंने चौधरी साहबके पास नज़्ममें लिखकर एक दरख़ास्त पेश की। चौधरी साहबने तरुण कविकी प्रतिभापर मुग्ध होकर उन्हे अपने साथ रखलिया और लद्दाख (लासाकी सरहद पर) लेगये और बादको उन्हें पटवारी के ऊँचे पदपर नियुक्त करदिया। वेतन था ८) मासिक। तबसे बाह्य जीवन घटना-प्रधान न रही। केवल बन्दोबस्तसे तब्दील करके मालके मुहकमेमें करदिए गये, पर रहे पटवारी ही। जब पहली बार मुझसे भेंट हुई, उस समय महजूर बडगामके पटवारी थे। जब अन्तिम बार मिले तब उन्हें पेंशन मिलचुकी थी और इससे उन्हें आन्तरिक ख़ुशी होरही थी कि अब निर्द्वन्द्व होकर काव्य-साधनामें संलग्न होसकेंगे। अपनी नौकरीके अन्तिम दिनोंमें वे २०) रु० माहवारकी मोटी तनख्वाह पानेलगे थे! ३८ वर्षकी नौकरीमें काश्मीर सरकारने अपने देशके सर्वश्रेष्ठ कविको ढाई गुना वेतन बढ़ाकर यथेष्ट सत्कार सम्मान करदिया था! काश्मीर एक देशी रियासत है, वहाँ तक जनतंत्र की आवाज देरसे पहुँचती है। सन् १९२८-२९ की बात है; कवि महजूरके शायरीकी दुनियाके कई मित्र पञ्जाबके नगरोंमें रहते थे। उनसे महजूरका पत्र-व्यवहार होता था। रियासतकी सी. आई. डी. को सन्देह हुआ कि महजूर ब्रिटिश इण्डियाके नेताओंसे पत्र-व्यवहार करता है और उनके विचार काश्मीरमें फैलाता है, नहीं तो उसकी कविताएँ इतनी लोक-प्रिय क्यों होती हैं। अतः जाँच-

बड़े-बड़े अहले कमाल पेशकिये। मगर आज इस ज़बानसे न सिर्फ़ ग़ैरों को नफ़रत बल्कि ख़ुद अहले काश्मीर इससे नफ़रत करते हैं। और मैंने अहद किया कि मैं अपनी मादरी ज़बानकी ही खिदमत करूँगा और इसे फिर जिन्दा जबान बनादूँगा। मैंने काश्मीरके गुजिश्ता शायर रसूल मीर और हब्बखातून मल्का कश्मीरकी तर्ज़पर ग़ज़लें लिखनी शुरू कीं और मैंने देखा कि थोड़े ही दिनोंमें मेरी ग़जलें मक़बूले आम होगयीं।'

इसमें सन्देह नहीं कि महजूर काश्मीरी जनताके कवि हैं और हब्ब खातून और लल्लेश्वरीके ही समान लोकप्रिय हैं। देवेन्द्र सत्यार्थीने सन् १९३४ के लगभग 'मॉडर्नरिव्यू' (Modern Review) में महजूरके विषयमें पहले पहल लिखा। इसके पश्चात् बलराज साहनीने अङ्गरेजीकी विश्वभारती पत्रिका (नवम्बर १९३८ - जनवरी १९३९) में महजूरका एक रेखाचित्र लिखा, जिसमें कविकी लोक प्रियतापर आश्चर्य प्रकट करतेहुए उन्होंने कहा :—

"यदि महजूर आज एक कविता लिखते हैं, तो वह एक पखवारे के अन्दर ही सर्वसाधारणकी ज़बानपर होती है। बालक स्कूल जातेहुए, युवतियाँ धान कूटतेहुए, माझी डोंगा खेतेहुए, मज़दूर अपने अविराम श्रममें लगेहुए—सब-के-सब उस कविताको गाने लगते हैं। एक अशिक्षित देशमें, जहाँ ऐसी चीज़ोंको छपाकर यदि बेचाजाय तो दस प्रतियोंसे अधिक न बिकें, उनकी कविताको विस्तारित करनेकी इस विधिको एक करिश्मा ही कहसकते हैं।"

इतनी लोक-प्रियता होनेपर भी श्रीनगरके अभिजात वर्गने महजूर के काव्यको कोई महत्व नहीं दिया। एक प्रकारसे जिसे काश्मीरकी सुदूर अज्ञात घाटियों तकका एक-एक बालक जानता था, उससे फ़ारसी और संस्कृतका विज्ञ समाज एकदम अपरिचित था। काश्मीरी इतिहासके विद्वान् और श्रीनगर म्युनिसिपलबोर्डके भूतपूर्व चेयरमैन पण्डित आनन्द कौल बामजईने महजूरकी प्रथम कविता **पोशे मति जानानो** (ऐ मेरे फूल-मस्त प्रियतम) का अङ्गरेजीमें अनुवाद किया और वह अनुवाद अङ्गरेजीकी 'विश्वभारती पत्रिका' में छपा। रवीन्द्रनाथ ठाकुरने उसकी प्रसंशा करते हुए महज़ूरको लिखा कि मैंने आपकी कविता देखी। मेरे विचार और आपके विचार मिलते-जुलते हैं। यदि आप अङ्गरेज़ी या बँगला जानते होते तो

मार्जन है। उनमें काव्य-सौष्ठव भी अधिक है और विचार वस्तु तो कहीं ज़्यादा पुष्ट-सचेतन, आधुनिक और क्रांतिकारी है। महजूर पुराने ढर्रेके उस्ताद हैं, उनकी शायरी प्रधानतः प्रेम और रोमांसकी शायरी है। वे ग़ज़ल-गो हैं और 'गुलो बुल-बुल' तक ही अपनेको सीमित रखते हैं, यद्यपि इधर कुछ राष्ट्रीय कविताएँ भी लिखनेलगे हैं, परन्तु यह उनका क्षेत्र नहीं है।

वस्तुतः मैं इस प्रकारकी क्षेत्र-सीमाएँ खींचना समीचीन नहीं समझता। अनुवादोंसे महजूर और आज़ादके काव्यकी आत्माका जितना-कुछ परिचय मैं पासका हूँ उससे इतना तो निश्चयपूर्वक कहसकता हूँ कि उक्त मत अत्यन्त एकांगी और संकीर्ण हैं। महजूरके काव्यमें गहरी स्वातंत्र्य भावना है जो उनकी प्रेम और रोमांसकी अभिव्यक्तिमें भी सर्वत्र व्याप्त है। काश्मीरकी जनता अपढ़-अशिक्षित, सामाजिक दृष्टिसे पिछड़ी और मध्ययुगीन नैतिक भावनाओं और अन्ध विश्वासोंमें आकण्ठ डूबी है। केवल श्रीनगर गुलमर्ग, पहलगाँव, बारामूला अथवा इतर स्थानोंपर ही आधुनिक सभ्यता-संस्कृतिके साधन-उपकरण उसे देखने-सुननेको मिलते हैं। कबीर और रवीन्द्रनाथके विभिन्न युग काश्मीरमें समकालिक अस्तित्व रखते हैं और एक-दूसरेके पड़ोसी हैं। यह अभिसन्धि किसी भी कवि या लेखकमें विभ्रम उत्पन्न करनेकेलिए पर्याप्त है। कवि तीन दृष्टियोंसे इस वैषम्यको अपनी चेतनामें ग्रहण करसकता है और उससे तीन प्रकारकी काव्य-परम्पराओंका सूत्रपात होसकता है। ऐसा हुआभी है। उदाहरणके लिए मिर्ज़ाबेग एक राजमन्त्रीके भाई हैं, सुशिक्षित और साधन सम्पन्न व्यक्ति हैं। उस अभिजात वर्गमें पले हैं जो अवकाशभोगी है, जिसे सैर-सपाटे, आमोद-प्रमोद, नाच-रङ्ग, ऐश-आरामकी सुविधाएँ प्राप्त हैं। उनकी दृष्टिमें श्रीनगरकी आधुनिकता ही काश्मीरी-जीवनका वस्तु-सत्य है, और सब हेच और निकृष्ट है। अतः उनकी कविता दुर्बोध और जटिल होती है, चित्र-कल्पनाएँ दुरूह, भाव-संकेत अव्यक्त, विषय-वस्तु नगण्य पर अभिव्यञ्जना अत्यन्त आधुनिक और वैचित्र्यपूर्ण होती है। मोमबत्ती की लौ-की पीली ज्योति, गुलेलालाकी लालिमा, बिजलीकी चमक आदि ऐसी अमूर्त्त भाव-वस्तुको चित्रांकित करनेकेलिए वे छन्दोंमें नये-नये प्रयोग करते हैं और अब मुक्त-छन्दमें भी रचना करनेलगे हैं। एक शब्दमें आधुनिक जीवनकी उत्तेजना, व्यर्थ और नूतन-प्रियता इन कविताओंमें

की श्रुति-परम्परा आज़ादकी प्रत्येक कविताको ग्रहण नहीं करपाती। फिर भी मिर्ज़ाबेगकी अपेक्षा आज़ाद कहीं लोक-प्रिय हैं। उनकी कई नज़्में जनसाधारणमें प्रचलित होगयी हैं।

महजूरकी कला इन दोनों कवियोंसे भिन्न है। उनका अधिकांश जीवन किसानोंके बीचमें गुज़रा है। वे काश्मीरके वनों और घाटियोंमें घूमे हैं। इन लोगोंके हर्षोल्लास, वेदना-व्यथा, आशा-निराशाका उन्होंने निकट से अनुभव किया है, उनकी सुप्त चेतनामें जीवनाकांक्षा, आत्म-विश्वास, मुक्ति-कामना, उन्नति-विकासकी आशाके कणोंको जीवनकी सर्वग्राही विडम्बनाओंकी राखमें मुखदबाये पड़ा पाया है। इस वस्तु-सत्यकी दृष्टिसे ही महजूरने नगरके आधुनिक जीवनको देखा है और उनमें यह अनुभूति जगी है कि यदि ये रेडियो-सिनेमा, मोटर-सड़कें, नृत्य-सङ्गीत, अखबार-पुस्तकें काश्मीरके सर्वजनोंको सुलभ होजायें तो काश्मीरकी जनताकी जातीय प्रतिभा समूचे पूरबको बेदार करसकती है। उसे बुलबुलके मज़हबका संदेश देसकती है। परन्तु सामाजिक-राजनीतिक प्रतिबन्धों और वर्जनाओंमें जकड़ी-डूबी जनता बिना आज़ादहुए अपनी प्रतिभाका विकास कैसे कर-सकती है, कैसे आधुनिक बनसकती है, यह प्रश्न उनके सम्मुख बराबर उठा और महजूरने इस जनताको पहले बेदार करनेकेलिए उसकी वर्तमान भाव चेतनाको ही अपनी कविताका माध्यम और वाहक बनाया है। इस भाव-चेतनाको वे कुरेदते हैं; मुक्ति कामनाके अनेक कण अग्निस्फुलिंगसे चमक उठते हैं और पासके बुझे सुप्तकणोंमें ज्योति जगादेते हैं। और महजूर एक कुशल कलाकारकी अँगुलियोंसे इन उद्भासित कणोंको सँजोकर भावी जीवनकी नयी नयी भव्य आकृतियाँ बनातेजाते हैं। जनताकेलिये उसमें कुछ अग्राह्य नहीं रहता, उसके अपने मूकभाव मुखर होउठते हैं और उसकी श्रुति परम्परामें नये जीवनकी कल्पनाओंके ये गीत परम्परागत गीतोंके साथ स्थान लेलेते हैं। महजूर अपनी कवितामें नये भाव-सौन्दर्यकी सृष्टिकेलिए अधिकतर उन्हीं उपमाओं और उपमानों, रूपकों और पौराणिक कथाओं, कवि प्रसिद्धियों और कल्पना चित्रोंका प्रयोग करते हैं जो श्रुति परम्परा और अनुभवके द्वारा अपढ़ अशिक्षित जनताके मानसमें ग्राह्य होचुकी हैं, उसकी चेतनाका संस्कार बनचुकी हैं; अतः उसके मनमें तुरन्त रसकी सृष्टि करती हैं।

की श्रुति-परम्परा आज़ादकी प्रत्येक कविताको ग्रहण नहीं करपाती। फिर भी मिर्ज़ाबेगकी अपेक्षा आज़ाद कहीं लोक-प्रिय हैं। उनकी कई नज़्में जनसाधारणमें प्रचलित होगयी हैं।

महजूरकी कला इन दोनों कवियोंसे भिन्न है। उनका अधिकांश जीवन किसानोंके बीचमें गुज़रा है। वे काश्मीरके वनों और घाटियोंमें घूमे हैं। इन लोगोंके हर्षोल्लास, वेदना-व्यथा, आशा-निराशाका उन्होंने निकट से अनुभव किया है, उनकी सुप्त चेतनामें जीवनाकांक्षा, आत्म-विश्वास, मुक्ति-कामना, उन्नति-विकासकी आशाके कणोंको जीवनकी सर्वग्राही विडम्बनाओंकी राखमें मुखदबाये पड़ा पाया है। इस वस्तु-सत्यकी दृष्टिसे ही महजूरने नगरके आधुनिक जीवनको देखा है और उनमें यह अनुभूति जगी है कि यदि ये रेडियो-सिनेमा, मोटर-सड़कें, नृत्य-सङ्गीत, अखबार-पुस्तकें काश्मीरके सर्वजनोंको सुलभ होजायें तो काश्मीरकी जनताकी जातीय प्रतिभा समूचे पूरबको बेदार करसकती है। उसे बुलबुलके मज़हबका संदेश देसकती है। परन्तु सामाजिक-राजनीतिक प्रतिबन्धों और वर्जनाओंमें जकड़ी-डूबी जनता बिना आज़ादहुए अपनी प्रतिभाका विकास कैसे कर-सकती है, कैसे आधुनिक बनसकती है, यह प्रश्न उनके सम्मुख बराबर उठा और महजूरने इस जनताको पहले बेदार करनेकेलिए उसकी वर्तमान भाव चेतनाको ही अपनी कविताका माध्यम और वाहक बनाया है। इस भाव-चेतनाको वे कुरेदते हैं; मुक्ति कामनाके अनेक कण अग्निस्फुलिंगसे चमक उठते हैं और पासके बुझे सुप्तकणोंमें ज्योति जगादेते हैं। और महजूर एक कुशल कलाकारकी अँगुलियोंसे इन उद्भासित कणोंको सँजोकर भावी जीवनकी नयी नयी भव्य आकृतियाँ बनातेजाते हैं। जनताकेलिये उसमें कुछ अग्राह्य नहीं रहता, उसके अपने मूकभाव मुखर होउठते हैं और उसकी श्रुति परम्परामें नये जीवनकी कल्पनाओंके ये गीत परम्परागत गीतोंके साथ स्थान लेलेते हैं। महजूर अपनी कवितामें नये भाव-सौन्दर्यकी सृष्टिकेलिए अधिकतर उन्हीं उपमाओं और उपमानों, रूपकों और पौराणिक कथाओं, कवि प्रसिद्धियों और कल्पना चित्रोंका प्रयोग करते हैं जो श्रुति परम्परा और अनुभवके द्वारा अपढ़ अशिक्षित ज़नताके मानसमें ग्राह्य होचुकी हैं, उसकी चेतनाका संस्कार बनचुकी हैं; अतः उसके मनमें तुरन्त रसकी सृष्टि करती हैं।

महजूरकी कविता लाक्षणिक होती है। वे हमेशा एक नया बाग़ लगानेकी बात करते हैं जिसमें बुलबुलको ताजदारी हासिल हो, उसीके मज़हबकी पैरवी हो, जहाँ गुलेलाला सिपन्द लगाते हों, मसवन्त शबनमकी शराब प्यालियोंमें उड़ेलता हो, सूरजमुखी सोनेकी अशरफ़ियोंके थाल भरती हो; भौंरा नरगिसके फूलपर मस्त होकर मँडराताहो, पोशिनूल (वसन्त का मधुर भाषी पक्षी) मीठा सङ्गीत सुनाता हो, कँटीली अरखुलकी झाड़ोंमें भी देवदारके पैवन्द लगते हों, वेद चन्दनकी तरह आयुष्मान होता हो; जहाँ बाग़के गुलेल-अन्दाज़ोंने बारिलको मार भगाया हो या बारिल स्वयं जिस गुलशनमें बुलबुलोंके अधीन रहते हों। शाहबाज़ दर्बाँबानी करते हों, चीलें मांस खाना छोड़कर परहेज़गार बनगयी हों—ऐसा गुलशन जहाँ गुलेलाला और सदाबहार और श्यामसुन्दरीके फूल अपनी सौन्दर्यछटा सौरभ बिखरते हों, सूरजकी किरणें पहाड़की ऊँची चोटियोंको जगमगाती हों। महजूर आनेवाले कल-में काश्मीरको ऐसाही गुलशन बनाना चाहते हैं। प्रकृतिके मुक्ति उल्लासके ऐसे चित्र जनताकेलिए अनुभूत हैं, अतःजब महजूर नये काश्मीर या भावी जीवनकी चित्र - कल्पनाओंमें इसे पिरोदेते हैं तो जनताको यह लाक्षणिक अभिव्यक्ति सहजही ग्राह्य होती है। वह अपने जीवनसे उसकी संगति बैठालेती है कि वास्तविक जीवनमें कौन पोशिनूल और बुलबुल है, कौन बारिल और शहबाज़ है और नये काश्मीरमें पुराने समाज-सम्बन्ध कैसे उलट जायेंगे। महजूरकी **ग्रीसकूर** (किसान-कन्या) देहातके सुदूर प्रदेशोंमें भी गायीजाती है। कविने **ग्रीसकूर** को सम्बोधित करके कहा है, "ऐ ही-मालसी सुन्दर किसान कन्या, तू चश्मोंके सब्ज़ा-ज़ारपर लगायी तुलसीकी तरह है, फटे-पुराने कपड़ोंमेंभी तू ऐसी दिखायी देती है जैसे बादलके फटेहुए टुकड़ोंके बीच चाँद नज़र आता है। तू गिरिपथपर गातीहुई निकलती है, परियाँ तेरे गीतकी तारीफ़ करती हैं, तेरे सौन्दर्यमें बनावट नहीं है; तू बनों, गिरि - निर्झरोंकी सैर करती, हँसतीहुई बाग़ोंके बीचसे गुज़रती है; कहीं फूलोंने तेरे कान तो नहीं भरदिये ? ख्वाजा ज़ादियाँ तेरा क्या मुक़ाबला करेंगी ! तू फूलोंके साथ उठती - बैठती है, ख्वाजाज़ादियाँ खिड़कियाँ और दरवाज़े बन्द करके पड़ी रहती हैं। तेरी आँखें शर्मो-हयाके पानीसे भरी हैं, तुझमें ग़ैरत और ख़ुद्दारीकी जलावरी है। फिरभी तेरी पसीनेसे भीगी भौंहें तलवारका काम करती हैं और हर देखनेवालेका दिल मोहसकती हैं। लेकिन ऐ शराबकी मटकी, देखना तेरे

होशोहवास खराब न होजायँ, दूसरोंको देखकर ऐयाशीकी ख्वाहिश और आलस्य न पैदा होजाए, ऐ खूबसूरत किसानकी लड़की, मैंने तुझे एक खेतमें बाजूचढ़ाए गूड़ी करते देखा है। तू वहाँभी लोलरीकी तरह लो लो करतीहुई गारही थी, श्रमसे तेरी बाहें तो नहीं थकगयीं!" इस एक कविताने काश्मीरकी किसान कन्याओंमें आत्म गौरवकी गरिमा भरदी है, यह अपनी अस्ति-चेतनाका प्रथम आधार चरण है। वे इसे गाती हैं और अपनी हस्ती का अनुभव उनमें एक मस्ती भरदेता है। इतनी व्यापक सहानुभूतिसे किसी कविने इन किसान कन्याओंके व्यक्तित्वकी प्रकृत सौन्दर्य प्रतिमा अंकित नहीं की। महजूरकी **काशिर ज़नानु** (काश्मीरी औरत) एक दूसरी प्रसिद्ध कविता है। सम्पूर्ण काश्मीर घाटीमें औरतें अकेले और मिल कर उसे गाती हैं। उस कवितामें उनकी आत्म वेदनाको वाणी मिलगयी है। एक काश्मीरी औरत अपनी सखीसे कहती है, 'ऐ सखी, भाग्यकी विडम्बनाको क्या करूँ! मेरे जीवनके देवताको मेरी मुहब्बत नहीं; जीवन के देवता, उस बेपरवाहको मेरी मुहब्बत नहीं।' और फिर उसकी करुण व्यथा आत्म-कथामें फूट निकलती है। बिना किसीकी चाह और खोजके उसने जन्म लिया था, घरमें उस दिन उदासी छागयी थी। उसपर तरस खाकर उसे पालागया, कुदरतने उसे परवान चढ़ाया, मा-बापके हाथों तो सख्तियाँ और सदमे ही झेलने पड़े। घरमें सिर्फ मा ही उसकी हमदर्द थी और वह यही सीख देती रही कि खाना पकाना सीख और बावर्चिन बन, और इस तरह वह कस्बी हुनर सीखनेसे दूररही। उसमें यौवन आया, इस पूँजीको उसने शर्मके सायबान और सब्रकी फ़सीलके भीतर महफ़ूज़ रखा। चोरोंको पास नहीं फटकने दिया। उसमें मुहब्बतकी उमंगें उठने लगीं और वह अपने राजा इन्द्र (कल्पित प्रेमी) केलिए इन्द्र (चरखा) का साज बजाकर मुहब्बतके नग़मे गुनगुनाने लगी। लेकिन उसका राजा इन्द्र नहीं आया, किसी परायेके हाथोंमें वह बख्शीशकी तरह देदीगयी। घर वालोंने उसकी रायतक न पूछी। यह भी उसने मंजूर करलिया, झगड़ा नहीं किया। फिरभी जीवनके देवताको उसकी मुहब्बत नहीं। क्या वह नहीं जानती कि उसने ही इस फ़ानी सरायको शोभादी है, इसके ही गर्भसे वली और देवता पैदाहुये हैं। जब उसने क़याम किया तब यह देश बसा। लेकिन हर तरहके दुखदर्द वह सहती आयी है और अब प्रेमको गोदमें लिये फिरती है और चाहती है कि महजूरकी तरह उसे पुकारे। 'मेरे जीवनके

देवता, तुझे मुझसे प्यार क्यों नहीं !' इस कवितामें उपालंभ नहीं है, बल्कि विदग्ध हृदयसे निकला गहरा प्रतिवाद और मुक्ति कामना है। इस में काश्मीरकी नारी प्रथमबार अपने जीवनके वैषम्यके प्रति सचेत हुई है और उसकी गहन व्यथाने अभिव्यक्ति पायी है। महजूर काश्मीरके प्राकृतिक सौन्दर्य और संगीतकी सृष्टि करते हैं पर साथही इसमें कलाके माध्यम से नये जीवनका सन्देशभी दियादेते हैं। उनकी कविता में कबीर और रवीन्द्रनाथ, दोनोंका समन्वित रूप हमें मिलता है और काश्मीरकी वस्तु-स्थितिकी विषम अभिसन्धिको छाँटनेकेलिए यह शैली मुझे आज़ादकी शैलीसे अधिक पुष्ट और उपयुक्त लगी। इससे वे नये जीवनकी आकांक्षा को जन-जनकी स्वानुभूत आकांक्षा बनानेमें सफल होते हैं।

महजूरकी एक नज़्म नेशनल-कान्फ्रेन्सने काश्मीरके राष्ट्रगानके रूपमें अपनायी है। उसकी शैली भी यही है। महजूर प्राचीन इतिहास, संस्कृति और काव्य-परम्पराके ज्ञानके साथ अपनी कवितामें नयी चेतना, नये दृष्टिकोणका समावेश करते हैं और इससे उनकी कवितामें जो क्लासिकल व्यापकत्व, सरलता और माधुर्य आजाता है वह आज़ाद अथवा मिर्ज़ाबेगकी कवितामें दुर्लभ है।

नेशनल-कान्फ्रेन्सने 'नये काश्मीर' की योजनामें काश्मीरीको शिक्षाका माध्यम बनानेका सिद्धान्त स्वीकार किया है। महजूर और आज़ाद इस स्वप्नको बहुत दिनोंसे देखते आये हैं। परन्तु इस स्वप्नके प्रति-फलित होनेके मार्गमें अभी दुर्गम कठिनाइयाँ हैं। काश्मीरीमें गद्य साहित्य नहीं के बराबर है, और इस ओर अभी कोई प्रयत्न भी नहीं होरहा। लिपि का प्रश्नभी जटिल है। इस सम्बन्धमें वहाँकी परिस्थिति देखकर मेरा यह सुझाव था कि फ़ारसीकी लिपिमें ही आवश्यक सुधार करके, काश्मीरीकी विशेष ध्वनियोंकेलिए नये चिन्ह अथवा अक्षर बनाकर काश्मीरीकी लिपि तैयार कीजाय और द्वारकाप्रसाद दर, महजूर, प्रो. पुष्प आदि मित्रोंने इस सुझावके अनुसार कार्य करना भी प्रारम्भ करदिया है। काश्मीरी-साहित्य की उन्नतिकेलिए एक अंजुमनकी जरूरत भी वे लोग महसूस कररहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जब जनताके हाथमें वहाँके शासनकी बागडोर आयगी उस समय काश्मीरी अपने यहाँके राजकाज और साहित्यकी भाषा बनेगी, और हिन्दी-उर्दूके झगड़ेका कोई मूल्य न रहेगा।

जनपदीय भाषाओंका प्रश्न

"आधुनिक भारतकी संस्कृति एक शतदल कमलके साथ उपमित की जासकती है जिसका एक-एक दल एक-एक प्रान्तिक भाषा और उसकी साहित्य संस्कृति है। किसी एकको मिटा देनेसे उस कमलकी शोभाकी हानि होगी। हम चाहते हैं कि भारतकी सब प्रान्तिक बोलियाँ, जिनमें साहित्य-सृष्टि हुई हो, अपने अपने घरमें रानी बनकर रहें। प्रान्तिक जनगणकी हार्दिक चिन्ता की प्रकाश-भूमि स्वरूप कविताकी भाषा होकर रहें। और आधुनिक भाषाओंके हारकी मध्यमणि बनकर हिन्दी विराजती रहे।

"मेरे विचारमें प्रान्तिक भाषाओंके पुनरुज्जीवनसे राष्ट्रभाषा हिन्दीकी कुछ भी क्षति नहीं होगी।"

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

"अल्प संख्यक जातियों और विभिन्न भाषा-क्षेत्रोंकी सस्कृति, भाषा और लिपि की सुरक्षाका प्रबन्ध किया जायगा।"

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी (बम्बई अगस्त १९३१ के "मौलिक अधिकार" के प्रस्ताव से।

गत तीन-चार वर्षोंसे हिन्दी-क्षेत्रोंकी जनताका मानस आन्दोलित हो उठा है। जनपदीय भाषाओंके स्वतन्त्र विकासकी आवश्यकताके प्रति प्रगतिकामी साहित्य-सेवी और विचारक सजग होतेजारहे हैं। विशेषकर बुन्देली, राजस्थानी, मैथिली और व्रज भाषाके प्रदेशोंमें यह चेतना 'जनपद आन्दोलन'के रूपमें मुखरित हो उठी है, और तीव्रता और हठ-धर्मीके साथ अखण्ड हिन्दी और अखण्ड भारतके तथाकथित समर्थक

प्रगतिशील लेखक संघ (संयुक्त प्रान्त) की कौंसिलके सम्मुख ५ नवम्बर १९४४ को पेश कीगयी रिपोर्ट।—लेखक

अपने सरल सुख-स्वप्नोंमें विक्षेप उपस्थित होते देख मातृभाषाओंकी इस नवचेतनाको निर्मूल करनेकेलिए चाणक्य की तरह शिखा खोलकर विष उगल रहे हैं, उससे अनुमान लगाया जासकता है कि जनपद आन्दोलन गहरी जड़ें पकड़ता जारहा है। इसमें सन्देह नहीं कि यह आन्दोलन हमारे राष्ट्रीय और सांस्कृतिक विकासका एक अभूतपूर्व चरण है, अतः स्वाभाविक है कि इसने हमारे सामने एकदम नये प्रश्न उठादिये हैं। चेतनाके विकासके साथ-साथ जनपद आन्दोलनके समर्थकोंने समय-समय पर विकासके भिन्न-भिन्न मार्ग सुझाए हैं और विरोधियोंने तदनुसार अनेक प्रकारकी भ्रान्तियाँ गढ़कर इसको भारतीय एकता और आर्य संस्कृति के मूलपर आघात करनेवाला आन्दोलन बताया है। इस प्रकार जनपदीय भाषाओं (मातृभाषाओं) के प्रश्नको उठाकर जनपद-आन्दोलन हिन्दी-भाषी क्षेत्रोंका सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न बनगया है।

हिन्दीके प्रगतिवादी लेखकोंने कभी व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूपमें जनपद-आन्दोलनका विरोध नहीं किया, इतना निश्चित है। इसके विपरीत प्रमुख प्रगतिवादी विचारक महापंडित राहुल सांकृत्यायनने 'मातृभाषाओंका प्रश्न' शीर्षक लेख द्वारा जनपद-आन्दोलनको सर्वप्रथम ऐतिहासिक— राजनीतिक—सांस्कृतिक दृष्टिसे पुष्ट सैद्धान्तिक आधार देने में योग दिया है, और उनका वक्तव्य आज जनपद - आन्दोलनकी विचारधाराका एक अभिन्न अङ्ग बनगया है। यह उल्लेखनीय है कि इस आन्दोलनके विरोधियोंने राहुलजीके वक्तव्यपर ही सबसे तीखे प्रहार किये हैं। प्रगतिवादी साहित्यका 'प्रमुख' पत्र 'हंस' भी देवेन्द्र सत्यार्थी राम-इक़बालसिंह 'राकेश' और श्यामचरण दुबेके जनपदीय भाषाओंके परम्परागत लोक-साहित्य और लोक-गीतोंके नये दृष्टिकोणसे प्रस्तुत किये गयें अध्ययनोंको वर्षोंसे निरन्तर प्रकाशित करता आया है और उसने ब्रज, अवधी, मैथिली, राजस्थानी, भोजपुरी, काशिका आदि अनेक भाषाओं और बोलियोंके वर्तमान कवियोंकी रचनाएँ प्रकाशित करके यह सिद्ध करदिया है कि प्रगतिवादकी विचारधारा हिन्दीकी विभिन्न भाषाओं-उपभाषाओंकी नवजाग्रतिका स्वागत करती है। हिन्दीके अनेक प्रगतिवादी लेखक अपने-अपने क्षेत्रोंके जनपद आन्दोलनमें सक्रिय सहयोग देरहे हैं और 'मधुकर' के 'जनपद आन्दोलन अङ्क' से भी यह निर्विवाद

होजाता है कि इस आन्दोलनको प्रगतिवादियोंका व्यापक समर्थन प्राप्त है। परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। जनपद-आन्दोलनकी अभी तक कोई एक स्पष्ट विचारधारा नहीं बनपायी है। अनेक जटिल प्रश्न भी उठ गये हैं और विरोधियों द्वारा फैलाई भ्रान्तियोंके कारण इन प्रश्नोंके समाधानपर सोचे बिना ही लोग पक्ष अथवा विपक्ष ग्रहण करनेलगे हैं। इस वातावरणमें प्रगतिवादी स्वयं अनिश्चित हैं कि उनकी नीति क्या हो। अतः यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि आज हम प्रथमबार संघकी कौंसिलके अधिवेशनमें इस प्रश्नपर विस्तार-पूर्वक विचार कर रहे हैं।

जनपद-आन्दोलनके प्रतिनिधि भी उत्सुकता पूर्वक हमारी घोषणा की प्रतीक्षा कर रहे हैं। विरोधकी आँधीने उन्हें विचलित कर रखा है, पर उनका विश्वास है कि प्रगतिशील लेखक संघ अविचलित रहकर, उनकी न्यायपूर्ण माँगोंका समर्थन करेगा। आज हमें अपने कन्धोंपर बहुत बड़े कर्तव्यका दायित्व उठानेका निमन्त्रण मिलरहा है, इसलिए भी यह अनिवार्य है कि हम इस प्रश्नके हर पहलूपर गम्भीरतापूर्वक विचार करें। इसके अतिरिक्त हमारे लेखकों और विचारकोंके सम्मुख अभी यह स्पष्ट नहीं होपाया है कि जनपदीय-कार्यक्रम क्या होना चाहिए। डॉ. वासुदेवशरणकी योजना महत्वपूर्ण होते हुए भी जनपद-आन्दोलनकी दृष्टिसे लक्ष्यहीन योजना है क्योंकि उसको स्वरूप देनेवाली विचारधारा अत्यन्त सीमित है। वस्तुतः वह हिन्दी (साहित्यिक खड़ी बोली) की आवश्यकता-पूर्ति के लिए ही बनायी गयी है। मातृभाषाओंकी अपनी आवश्यकताओंका उसमें लेशमात्र भी कहीं समावेश नहीं है। फलतः वह जनपदीय भाषा भाषी जनताको प्रेरित करनेमें असमर्थ है। अतः जनपद आन्दोलन क्या है, उसका ऐतिहासिक मूलाधार क्या है, मातृभाषाओंका स्वतन्त्र विकास जनहितकी दृष्टिसे क्या अनिवार्य और आवश्यक है, विरोधियोंका दृष्टिकोण क्यों दूषित है, व्यापक दृष्टिकोणके अभावमें जनपद आन्दोलन किन ग़लत मार्गोंपर जाकर पथभ्रष्ट होसकता है, जनपद आन्दोलनको राष्ट्रीय चेतना और विकसित जनवादका अभिन्न अंग होनेके रूपमें देखने से हमारे सामने मातृभाषाओंके स्वतंत्र विकासके कौनसे नये पथ खुलजाते हैं और तदनुसार-हमारे कार्यक्रमकी रूपरेखा क्या होनी चाहिए, राष्ट्र-भाषा हिन्दीसे विकासमान मातृभाषाओंका क्या सम्बन्ध हो, आदि कति-

पर जटिल प्रश्न है जिनपर हमें गम्भीरता-पूर्वक विचार करना है।

जनपद आन्दोलनका इतिहास

जनपद आन्दोलन हिन्दी क्षेत्रोंमें रहनेवाली जातियोंकी बढ़ती राष्ट्रीय चेतनासे उत्पन्न इस आकांक्षाका परिचायक है कि उन की मातृभाषाओं और संस्कृतियोंका भी स्वतन्त्र, सम्पूर्ण तथा स्वस्थ विकास हो, ताकि प्रत्येक जनपदके निवासी अलग-अलग जातिके रूपमें अपना समुचित विकास करसकें, अपनी निजी सांस्कृतिक विशेषताओंको नष्ट न होनेदें, प्रत्युत उनका नवविकासकर जनशिक्षा द्वारा अपनी जनताके पिछड़े-से-पिछड़े भागको भी उन्नत और आधुनिक बनासकें और प्रजातान्त्रिक आधारपर अपने-अपने जनपदके भीतर एक स्वतन्त्र राजनीतिक-आर्थिक-सांस्कृतिक जीवनका संगठन करसकें। ऐतिहासिक दृष्टिसे जनपदोंकी यह आकांक्षा सांस्कृतिक क्षेत्र में हमारे व्यापक राष्ट्रीय जागरणकी विशिष्ट किन्तु स्वाभाविक जनवादी परिणति है।

प्रारम्भमें जब इस आकांक्षाने विचारोंमें मूर्त्तरूप धारण किया उस समय विचारकोंके समक्ष इसके ऐतिहासिक सूत्र अज्ञात थे, धारणाएँ अस्पष्ट और एकांगी थीं—यह स्वाभाविक था। राष्ट्रीय चेतनाकी विकास-धारा हमारे जीवनके हर क्षेत्रमें प्रवेश कर हमें विचलित कररही थी, यद्यपि हम इसका कारण उतनी स्पष्टतापूर्वक तब नहीं देख पाते थे जितनी स्पष्टतासे आज देख सकते हैं। जनपद आन्दोलनका इतिहास एक प्रकारसे हमारी राष्ट्रीय जाग्रतिकी उत्तरोत्तर व्यापकताका भी इतिहास है। इस दृष्टिसे जनपद-आन्दोलनको हम तीन भिन्न चरणोंमें बाँट सकते हैं और प्रत्येक चरणकी विचारधाराके सम्बन्ध-सूत्र तत्कालीन राष्ट्रीय चेतनामें पासकते हैं और उसके विकासको गतिको भी प्रकाशमें लासकते हैं। इन तीन चरणोंकी तीन विचारधाराएँ हैं, (१) 'विकेन्द्रीकरण' की विचारधारा (२) 'जनपदीय योजना' की विचारधारा और (३) 'मातभाषाओंका प्रश्न' की विचारधारा।

विकेन्द्रीकरण

आजसे लगभग दसवर्ष पूर्व 'विशाल भारत' (फरवरी १९३४) में पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदीने प्रान्तोंके पुनर्निर्माणका प्रश्न उठाया था। उनका दावा था कि—

(१) अब साहित्य सेवियोंकी संख्या इतनी बढ़गयी है कि साहित्यकी संपूर्ण शक्तियोंका प्रयाग, काशी या लखनऊ आदि किसी एक केन्द्रसे बैठकर संचालन करना असंभव है; (२) साहित्य सम्मेलनकी शक्ति क्षीण होरही है, अतः (३) प्रान्तीय साहित्य सम्मेलनोंको जाग्रत कियाजाय और इसकेलिये आवश्यक है कि साहित्यिक प्रान्तोंका पुनर्निर्माण कियाजाय। ब्रज साहित्य-मण्डल, बुन्देलखण्ड साहित्य - मण्डल, अवध साहित्य मण्डल आदि संगठित कियेजायँ ताकि इन क्षेत्रोंके साहित्यिक अपने यहाँकी साहित्यिक शक्तियोंका उपयोग करनेमें समर्थ होसकें।

चतुर्वेदीजीने सन् १९३४ में साहित्यिक शक्तियोंके अपव्ययका अनुभवकर नये साहित्यिक केन्द्र, और वे भी हिन्दीकी विभिन्न भाषाओंके आधारपर विभाजित प्रान्तोंके अनुसार, संगठित करनेका प्रश्न क्यों उठाया; इसपर यदि किञ्चित गहराईसे सोचें तो कारण स्पष्ट होजायगा। सन् १९३४ के पूर्व सन् १९३० और '३२ के राष्ट्रीय आन्दोलन समूचे देशकी सुप्त चेतनाको एकबार ज़ोरसे हिलाचुके थे। सन् १९३१ के अगस्तमें अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी, अपने बम्बईके अधिवेशनमें, 'मौलिक अधिकार' प्रस्ताव पास करचुकी थी। राष्ट्रीय चेतना उस समय इस धरातल तक ऊँची उठचुकी थी कि हम भारतकी एक सीमातक स्वतन्त्र रूपरेखा खींचसकें। राष्ट्रीय कांग्रेसके प्रस्तावमें इस चेतनाकी झलक निखर रही थी। 'मौलिक अधिकार'की घोषणाकी आवश्यकता इसलिए पड़ी कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का लक्ष्य दृष्टिगोचर होनेलगा था और राष्ट्रीय आन्दोलनने समूचे देशकी जनताके मानसको बिलोड़कर जो जाग्रति उत्पन्नकी थी उसके प्रकाशमें देशके सुदूर और विस्मृत कोनों तककी पिछड़ी जनताभी अपनी परिस्थितियों की रोशनीमें स्वाधीनताके अर्थ समझनेकी चेष्टा करनेलगी थी। परन्तु जब नौकरशाहीके दमनके फलस्वरूप दोनों राष्ट्रीय आन्दोलन एक प्रकारसे विफल होगये, अर्थात् आकांक्षित स्वराज्य न मिला, तो राजनीतिक

कार्यकर्त्ताओंमें हृदय और विचार मंथन प्रारम्भ हुआ। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलनकी राजनीति, रणनीति और संगठन-नीतिको अपने अनुभव और अध्ययनकी रोशनीमें पुनः जाँचा और मनमें यह धारणा गहरी होतीगयी कि देशकी समूची जनताको राष्ट्रीय झंडेके नीचे लानेकेलिये कांग्रेसकी नीति और कार्य-पद्धतिमें मौलिक परिवर्तनकी आवश्यकता है। उस समय तक राष्ट्रीय आन्दोलनके सम्मुख जातियोंका प्रश्न नहीं उठा था। हम विदेशी शासनके विरुद्ध एक हैं, अतः एक राष्ट्र हैं, यही हमारा विश्वास था। उस समयकी चेतनाके अनुसार यह विश्वास सत्य था। इसीके अनुरूप जब साहित्यके क्षेत्रमें चतुर्वेदीजीने सम्मेलनकी कार्यपद्धतिके विरुद्ध नये-सुझाव पेश किये तो इसी अनुभूतिके आधारपर कि सम्मेलनका कार्यक्षेत्र यद्यपि इतना विस्तृत होगया है, तोभी साहित्यिक शक्तियोंका उतना सदुपयोग नहीं हो पारहा है जितना कि सम्भव है। इससे हिन्दीको राष्ट्रभाषा बनाने और उसके साहित्यको उन्नत होनेमें बाधा पहुँच रही है। इस स्थितिको सुधारनेकेलियेही सम्मेलनके संगठन और कार्य-नीतिमें परिवर्तनकी आवश्यकता है। चतुर्वेदीजीके इन सुझावोंकी विचारधाराका परिष्कार आगे चलकर **विकेन्द्रीकरण** के नारेके रूपमें हुआ। इस सम्बन्धमें इतना और विचारणीय है कि उस समय चतुर्वेदीजीके सम्मुख मातृभाषाओंका स्वतन्त्र विकास करनेका प्रश्न नहीं था—वस्तुतः वे इस विचारकी भाषातकसे अवगत न थे। वे केवल हिन्दी (साहित्यिक खड़ीबोली) की सुविधाकी दृष्टिसे नये साहित्यिक केन्द्रोंकेलिये नये साहित्यक प्रान्तोंकी माँग कररहे थे। उनकी माँगमें संगठनकेलिए अधिक व्यापक और जनतान्त्रिक आधारका आग्रह था और भाषा-मूलक प्रान्तोंके अस्तित्वकी स्वीकृति देनेकी ओर संकेत था। इसी कारण उनके सुझाव नयी चेतनाके द्योतक थे। इस सीमातक आगे बढ़नेमें किसीको आपत्ति नहीं होसकती थी। इस कारण चतुर्वेदीजीके सुझावोंको स्वीकार करनेके मार्गमें भावुकता, हिन्दू राष्ट्रीयता आदि प्रगति-विरोधी शक्तियोंने रोड़े नहीं बिछाये और दिल्ली साहित्य सम्मेलनके अधिवेशनमें निम्नलिखित प्रस्ताव पास कियागया।

"राष्ट्रभाषा हिन्दीकी विस्तृत अभिवृद्धि और हिन्दी साहित्य सम्मेलनके कार्यों और उद्देश्योंका सुसंगठित प्रचार करनेकी दृष्टिसे यह सम्मेलन आवश्यक समझता है कि प्रत्येक प्रान्त

में प्रान्तीय साहित्य सम्मेलन और महत्वपूर्ण बोलियोंके क्षेत्रमें मण्डल सभाएँ स्थापित कीजाएँ, जो हिन्दी साहित्य सम्मेलनसे सम्बद्ध होकर व्यवस्थित रीतिसे निरन्तर कार्य करती रहें।"

इस प्रकार साहित्य सम्मेलनने सन् १९३४ में अपने उद्देश्योंका प्रचार करनेकी सुविधाकेलिये क्षेत्र - विभाजन और प्रान्तीय केन्द्र बनाने (बादको चतुर्वेदीजीकी भाषामें *विकेन्द्रीकरण*) की नीतिको सहमति प्रदान तो करदी पर उसने इस नीतिको कार्यान्वित करनेमें दृढ़ता नहीं दिखायी। फिरभी बुन्देलखण्डी साहित्य मण्डल, ब्रज साहित्य - मण्डल और राजस्थानी साहित्य - सम्मेलन आदिकी स्थापना होगयी। ये संस्थाएँ हिन्दी (साहित्यिक खड़ीबोली) की शक्तियोंको संगठित करनेकेलिए ही बनी थीं, परन्तु जनपद चेतना तक पहुँचनेकी यह पहली मंज़िल थी। स्मरण रहे कि अभीतक इस विवादमें *विकेन्द्रीकरण*, जनपद अथवा *मातृभाषा* आदि शब्दोंका प्रयोग नहीं हुआ था।

अगले छः वर्षोंमें राष्ट्रीय चेतना और भी अधिक निखर चुकी थी। जातियोंका प्रश्नभी उठनेलगा था, यद्यपि किस आधारपर इस प्रश्नका समाधान कियाजाय, इस विषयमें विचारोंमें अभी अधिक स्पष्टता नहीं आयी थी। सांस्कृतिक प्रश्नोंके सम्बन्धमें राष्ट्रीय कांग्रेस प्रान्तिक भाषाओं और संस्कृतियोंकी सुरक्षा और विकासका दायित्व उठानेकी बार-बार घोषणा करचुकी थी। इन बातोंका प्रभाव साहित्यिक आन्दोलनपर भी पड़रहा था। अतः जब हरिद्वार सम्मेलन (१९४०) के मनोनीत सभापति पण्डित माखनलाल चतुर्वेदीके पास पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदीने एक पत्रमें नये साहित्यिक केन्द्रों और साहित्यिक प्रान्तोंके निर्माणका प्रश्न 'साहित्य सम्मेलनका विकेन्द्रीकरण' करनेका नारा देकर उठाया तो उनके प्रस्तावोंमें हिन्दी (साहित्यिक खड़ीबोली) की 'सुविधा और आवश्यकता' के स्थान पर 'शर्तके साथ न्याय' की माँगका भी समावेश होजाना था। पण्डित बनारसीदासने स्वीकार किया कि हिन्दी '*साम्राज्यके भिन्न-भिन्न अङ्गोंको पूर्ण स्वाधीनता देकर हमें संघकी स्थापना करनी है। अर्थात् राजस्थानीलोग यदि अपनी रीडरें राजस्थानी भाषामें लिखना चाहते हैं तो हमारे लिए उचित है कि हम उन्हें यह स्वाधीनता देदें।*' उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि "*भिन्न-भिन्न जनपदोंके सांस्कृतिक धरातलोंमें*

अन्तर है, उनके कुछ प्रश्न भी जुदे जुदे हैं। कोई भी केन्द्रीय संस्था उनकी ओर भरपूर ध्यान नहीं देसकती।" अतः "दो नीतियोंमें से एक हम लोगोंको चुन लेनीहोगी। या तो अन्य बोलियोंकी संस्कृतिको ख़त्म करके केवल एक खड़ी बोलीकी संस्कृति जारी रखें या फिर इस सांस्कृतिक उपवनके वैचित्र्यको स्थायी बनाये रखनेकेलिए जनपदोंकी विशेष-विशेष बोलियोंको पनपने दें।" चतुर्वेदीजीके पत्रसे स्पष्ट है कि साहित्य-जगतमें मातृभाषाओंका प्रश्न इस समय तक काफ़ी तीव्रतासे उठ खड़ा हुआ था।

राजस्थानीमें अपनी रीडरें बनानेके आन्दोलनका सूत्रपात होगया था, अन्यथा चतुर्वेदीजी उसका उल्लेख न करते। इस आन्दोलनकी व्यापकताका प्रमाण प्रथम बार अबोहर साहित्य सम्मेलन (१९४१) के अवसरपर मिला। वहाँ पर एकत्र राजस्थानी प्रतिनिधियोंका निश्चित मत था कि उन्हें राजस्थानीमें रीडरें बनानेकी स्वाधीनता होनी चाहिए। इधर मैथिलीवाले भी यही माँग कररहे थे। डा० वासुदेवशरणके सुझावोंके कारण 'जनपद' शब्दका भी प्रयोग होनेलगा था, और 'भिन्न जनपदोंकी भिन्न संस्कृति' का अनुमानभी लोगोंकी धारणाओंमें जगह बनारहा था। हिन्दीकी उपमा 'साम्राज्य' से दीजानेलगी थी और एक साम्राज्यकी निरंकुशतासे छोटी, पिछड़ी, अनुन्नत भाषाओं-बोलियोंको जहाँतक वञ्चित रखा जा सके रखनेकेलिये आग्रह किया जानेलगा था। परोक्ष रूपमें यह मातृभाषाओंके प्रश्नकी स्वीकृति थी। परन्तु चतुर्वेदीजी स्पष्ट विचारधाराके अभावमें उसके सांस्कृतिक पक्षका ज़ोरदार समर्थन नहीं करसके। जनपदोंकी जनता यदि चाहे तो रीडरें बनानेको स्वतन्त्र हो, नहीं तो 'सांस्कृतिक उपवनके वैचित्र्यको बनाये रखनेकेलिये' बोलियोंको 'पनपने' दियाजाय। कैसे और क्यों, किस जनवादी सिद्धान्त, न्याय और नैतिकताके आधारपर हम 'वैचित्र्य' की रक्षा कीजाय, इसका निर्देश उन्होंने नहीं किया। 'उपवनका वैचित्र्य' किसीको रुचिकर होसकता है। एक साहित्यिक और राजनीतिक कठमुल्ला तो एक वर्ण, एक रङ्ग, एक राष्ट्र, एक भाषा, एक नेताके स्वप्नोंमें डूबा अपनी सर्वग्रासिनी एकरसताको ही जीवनका चरमलक्ष्य समझता है। वह चतुर्वेदीजीकी रुचिको क्यों उचित समझे? इसीलिए विरोधकी कल्पना करके चतुर्वेदीजीको अपने कार्यके औचित्यकेलिए भीतर से ठोस आश्वासन नहीं मिला और उन्होंने पंडित माखनलालको उनी

पत्रमें यह भी लिखा "कि कभी-कभी तो मैं यह ख्याल करने लगता हूँ कि 'मधुकर' 'ब्रजभारती' अथवा 'बान्धव' का जन्म उपयुक्त समयसे पन्द्रह-बीस वर्ष पहले ही होगया है।"

जनपद कल्याणी योजना

इसी बीच श्रीवासुदेवशरण अग्रवालकी 'जनपदीय योजना' प्रकाशित होचुकी थी। डॉ०अग्रवालने ही सर्व प्रथम 'जनपद' शब्दका प्रयोग किया। महाभारतके भीष्मपर्व (अध्याय ६) और मार्कण्डेय पुराण तथा अन्य पुराणोंमें जनपदोंकी कई सूचियाँ पाकर डा०अग्रवालने जब वर्तमान भारतके मानचित्र और उसकी भाषा-बोलियोंकी ओर दृष्टिडाली तो उन्हें ज्ञातहुआ कि '*हमारी बोलियोंके क्षेत्र वेही जनपद आजतक अपनी संस्कृतिकी विशेषता लिये हुए बने हैं।*' जनपदका अर्थ है वह प्रदेश जिसमें कोई विशेष 'जन' (जाति अथवा जनसमूह) रहता है जिसकी भाषा, संस्कृति, रहन-सहन, रस्म-रिवाज—और एक सीमातक आर्थिक-सामाजिक जीवनमें साम्य हो। पौराणिक कालके जनपद आजतक ज्यों-के-त्यों सुरक्षित हैं अथवा उनकी विशेष संस्कृतियाँ समयके प्रभावमें भी अपरिवर्तित बनीरही हैं, डॉ० अग्रवालका यह आशय कदापि नहीं हो सकता। ऐसा दावा अवैज्ञानिक होगा। प्राकृत और अपभ्रंशोंसे जो आधुनिक भाषाएँ विकसित हुई हैं उनका स्वरूप पहलेसे बहुत बदला हुआ है। ऐतिहासिक क्रममें अनेक बाहरी प्रभाव इन जनपदों के आन्तरिक जीवन में अनेक परिवर्तन करते आये हैं, यहाँ तक कि कहीं-कहीं तो कोई-कोई जनपद एकदम नये धर्मका अनुयायी होगया है, और दूसरी भाषाओं और संस्कृतियोंकी छाप उसकी भाषा और संस्कृतिपर बहुत गहरी पड़ी है। उदाहरणकेलिए काश्मीरी भाषा-भाषी जनपदको लें। काश्मीरी-जनपद आदिमें पिशाच जातियोंका जनपद था, उसकी भाषा दरद समूहकी भाषा है। आर्योंकी विजयके उपरान्त उनके शासनकालमें काश्मीरी भाषापर संस्कृतका गहरा प्रभाव पड़ा। संस्कृतके अनेक शब्द और प्रयोग काश्मीरी में प्रविष्ट होगये। तदुपरान्त मुस्लिम-शासनकालमें एक प्रकारसे समूची काश्मीरी जाति ही इस्लाम धर्मकी अनुयायी बनगयी और काश्मीरी भाषा पर संस्कृतकी ही तरह फ़ारसीकाभी गहरा प्रभाव पड़ा। फ़ारसीके शब्द और मुहावरे काश्मीरीमें प्रचलित होगये। जनपदोंकी भाषाओं और उनके

सामान्य सांस्कृतिक जीवनमें जिस प्रकार समयकी गतिके साथ केवल आन्तरिक कारणोंसे ही परिवर्तन होते आये हैं, उसी प्रकार बाह्य प्रभावों, शासन परिवर्तनों, भिन्न जातियोंके आक्रमणों और जन-समूहोंके आवागमन, मिश्रण, विचारोंके आदान-प्रदान, अनिवार्य सामाजिक राजनीतिक सम्बन्धोंको बनाये रखनेकी आवश्यकताओं आदिके कारण भी परिवर्तन होते आये हैं। अतः पुराणोंसे जनपदोंकी सूची एकत्र करनेका यह अभिप्राय कदापि नहीं होसकता कि दुराग्रह पूर्वक यह कहाजाय कि पौराणिक जनपद अपने पूर्वरूपमें ही सुरक्षित हैं।

परन्तु इस सम्बन्धमें सबसे उल्लेखनीय तथ्य यह है कि सदियोंसे जनपदोंकी संस्कृति और भाषाको आमूल नष्ट करके किसी एक भाषाको रोपनेकी असंख्य राजकीय कुचेष्टाओं और प्रतारणाओंके बावजूदभी ये जनपदीय भाषाएँ और संस्कृतियाँ अभी तक जीवित हैं; उनमें साहित्य न पनपसका हो, कहीं-कहीं लिपिके अभावमें उनका बहुत-सा लोक-साहित्य भी चाहे नष्ट होगया हो, परन्तु उनका मूल ढाँचा आजभी सुरक्षित है, अर्थात् उनका वैशिष्ट्य आजभी बनाहुआ है। काश्मीरी इतने प्रभावोंके पड़नेके बादभी एक स्वतन्त्र भाषा है और उसका स्वतन्त्र व्याकरण है; यद्यपि उसे कभी न राज्याश्रय मिला है, न वह शिक्षाका माध्यम बनी है, यहाँ तक कि उसकी लिपिभी नहीं है। पुरानी शारदा लिपि व्यवहारमें नहीं आती। अतएव जनपदों और जनपदीय भाषाओंपर विचार करते समय हमें इस ऐतिहासिक तथ्यको ध्यानमें रखना चाहिए कि यद्यपि प्राचीन जनपदों और भाषाओंमें अनेक परिवर्तन हुए हैं, उनका विकास या ह्रासहुआ है, परन्तु वे एकदम नष्ट नहीं कीजासकी हैं और आजभी जीवित हैं। डा० अग्रवालका यह कथन सत्य है कि इन जनपदोंकी सांस्कृतिक विशेषताएँ अपनी हैं। परन्तु यह खोज करलेनेके बाद, जनपदोंकी सांस्कृतिक और भाषागत-विशेषताको लेकर क्या कियाजाय, इससे क्या ऐतिहासिक निष्कर्ष निकाला जाय, यह सब डा० अग्रवालकेलिए अगम्यरहा। डॉ० अग्रवाल पुरातत्त्वके विद्वान हैं अतः उनकी राष्ट्रीय-चेतना पुरातत्त्वकी सीमाओंमें सिमटकर ही अभिव्यक्त हुई। डा० ग्रियर्सनकृत 'बिहार पेज़ेन्ट लाइफ़', टर्नर और ग्रियर्सनकृत नेपाली और ग्रियर्सनकृत काश्मीरी भाषाके विश्व-कोषोंसे उन्हें प्रेरणामिली। उन्हें विश्वास होगया कि 'भाषा शास्त्रकी दृष्टि

से जनपदोंमें, गाँवोंमें वेदिशान ममाला भरापड़ा है।' अतः इस उद्देश्य को सामने रखकर कि "*हिन्दी साहित्यके सम्पूर्ण विकासकेलिए ग्राम और जनपदोंकी भाषा और संस्कृतिका अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है*" क्योंकि "*वही साहित्य लोकमें चिरजीवन पासकता है जिसकी जड़ें दूरतक पृथ्वीमें गयी हों*" उन्होंने "*जनपद कल्याणीय योजना*" बनायी। यदि ध्यानसे देखाजाय तो इस योजनाका नाम भ्रामक है क्योंकि वस्तुतः वह *हिन्दी कल्याणीय योजना है*, जनपद *कल्याणीय नहीं*। डॉ० अग्रवाल की विचारधारापर विचार करते समय यह आरोप सिद्ध होजायगा। यह योजना काफ़ी प्रसिद्धि पाचुकी है और उसे व्यापक समर्थनभी मिला है। इस योजनाका मूलमन्त्र गाँवोंकी *भाषा, भूगोल, पशुपक्षी, वृक्ष-वनस्पति गीत, उद्योग, कृषि, आचार-विचार और इतिहासकी खोज, संग्रह और अध्ययन* करके वैज्ञानिक पद्धतिसे उनका संपादन और प्रकाशन करना है, और इस प्रकार *राष्ट्रभाषा हिन्दी* के भण्डारको भरना है। इन अध्य-यनोंका अभिप्राय जन-जीवनमें रक्षित पुरातत्त्व सामग्रीकी रक्षा करना और उनका आदर्श टर्नर और ग्रियर्सनके विश्वकोष और 'बिहार पेज़ेन्ट लाइफ़' आदि पुस्तकें हैं। टर्नर और ग्रियर्सनने अंग्रेज़ीमें अपने अध्ययन प्रस्तुत किये हैं, *जनपद कल्याणीय योजना* के द्वारा इस प्रकारके अध्ययन हिन्दी (साहित्यिक खड़ी बोली) में प्रस्तुत किये जासकेंगे। इन सर्वाङ्गपूर्ण अध्ययनोंको तैयार करनेकेलिए डॉ० अग्रवालने विभिन्न जनपदोंमें बसने वाले लेखकों जिनसे उनका तात्पर्य *राष्ट्रभाषा हिन्दी* के लेखकोंसे है अर्थात् मुझसे आपसे है—की आठ-आठ समितियोंकी कल्पनाकी है और उनके-पाँच वर्षके कार्यक्रमकी एक साधारण रूपरेखा बनादी है। ❀

डॉ० अग्रवालकी योजना और विचारधारा पंडित बनारसीदासके *विकेन्द्रीकरण* की योजना और विचारधारासे किन अंशोंमें आगे है, इस पर हम यथावसर विचार करेंगे। परन्तु पहले हमें इस योजनाकी सीमाओं पर दृष्टि डाल लेनी चाहिए। *जनपद कल्याणीय योजना* से इतना तो स्पष्ट है कि विभिन्न जनपदोंके निवासियोंकी मातृभाषाओंके विकासकेलिए *कुछ भी करना डॉ० अग्रवालको अभीष्ट नहीं है*। उनका निश्चित मत है कि शिक्षाका माध्यम उच्च हिन्दी अथवा साहित्यिक खड़ी बोलीको ही

❀ देखिये परिशिष्ट १.

होना चाहिए, और मातृभाषाओंमें नया साहित्य नहीं उत्पन्न होना चाहिए। डॉ० अग्रवाल मातृभाषाओंको उसी दृष्टिसे देखते हैं जिस दृष्टिसे वे अपने म्युज़ियमकी वस्तुओंको देखते हैं। उनकी दृष्टिमें हिन्दी अथवा साहित्यिक खड़ी बोलीके सम्मुख मातृभाषाओंका पुनरुत्थान असंभव है। डॉ० अग्रवाल पुरातत्त्वके पंडित होनेके कारण इतना अवश्य स्वीकार करते हैं कि मातृभाषाओंमें युग-युगसे संचित जन-जीवनके अनुभव और ज्ञानकी ऐसी राशि है, जो महाभारतकालसे लेकर अभी तक अक्षुण्ण बनी हुई है, संभव है कि कालान्तरमें उसमें अभिवृद्धि ही होती आयी है, अतः वह एक ऐसी थाती है जो हमें भारतीय जीवनकी अटूट परम्परासे मिली है। परन्तु साहित्यिक खड़ी बोलीकी आप्लावनकारी बाढ़में यह थाती नष्ट हो रही है। पुरातत्त्वकी दृष्टिसे हमारा कर्तव्य है कि हम उसमें जो कुछ भी ज्ञातव्य और संग्रहणीय है, वह सब संग्रह करलें और *राष्ट्रभाषा हिन्दी* के साहित्यको समृद्ध बनालें। विचार केवल इतना है कि इन मिटती हुई जनपद संस्कृतियोंकी *विशेषताओं* का संग्रह करके हिन्दी (साहित्यिक खड़ी बोली) को भाषाओंका ऐसा म्युज़ियम बनादें, जिसमें राजस्थान, पंजाब, नैपाल विदेह और मध्य प्रान्त तक फैलेहुए मध्यदेशकी विभिन्न भाषाओंका सत खींचकर केवल हिन्दी ही एक जीवित भाषा रहजाय और वही इन भाषाओंके म्युज़ियमकी क्यूरेटर भी हो !

मातृभाषाओंके प्रति भी हमारा कुछ कर्तव्य है, इस दृष्टिसे देखने पर ही हम डॉ० अग्रवालकी योजना और उनकी विचारधाराकी इतनी तीव्र आलोचना कर सकते हैं। यदि केवल हिन्दीकी दृष्टिसे ही देखें तो यह योजना अत्यन्त उपयोगी है। किसी भी दशामें प्रगतिवादी इस योजना का विरोध नहीं कर सकते, प्रत्युत उन्हें इसको कार्यान्वित करनेमें डॉ० अग्रवालसे सहयोग करना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि यह योजना हिन्दी क्षेत्रोंकी विभिन्न संस्कृतियों तथा भाषाओंको प्रोत्साहन देनेके उद्देश्य से नहीं बनायी गयी, परन्तु इतिहासकी विकासधारा सीधी लकीर नहीं है कि वह योजनाओं द्वारा निर्दिष्ट पथपर ही अग्रसर हो। यदि इन क्षेत्रोंमें साहित्यिकोंने इस योजनाके अनुसार कार्य किया और वहाँके साहित्य, भूगोल और संस्कृतिकी खोजबीन की तो इसका परिणाम केवल इतना ही नहीं निकलेगा कि हिन्दीका भंडार भरजाय। डॉ० अग्रवाल इतिहासकी

गत्यात्मक धारासे अनभिज्ञ हैं, अतएव उन्होने सीधी-सरल रेखाओं द्वारा ही उसके भविष्यको मनमें अङ्कित करलिया है। राष्ट्रीय चेतनाके विकास से जिस प्रकार जातीय चेतना भी उत्तरोत्तर बढ़ती है उसी प्रकार जातीय चेतनाके परिणाम-स्वरूप इस चेतनाका उदय होना भी अवश्यंभावी है कि जातियोंकी अपनी भाषाएँ भी समुन्नत और स्वतन्त्र हों। डॉ. अग्रवालकी योजनाका यह सीधा परिणाम होगा कि जिन विस्मृत प्रदेशोंमें आज कोई साहित्यिक क्रियाशीलता नहीं है वहाँ पर हिन्दीके साहित्यिक अपने अपने जनपदोंकी भाषा और संस्कृतिका निकटसे अध्ययन करेंगे, और केवल यही बात उनके और दूसरे लोगोंके मनमें जातीय गौरवकी अनुभूति जगायेगी और उनकी शिक्षा सम्बन्धी समस्याएँ अपने समाधानकेलिये उन्हें इस निष्कर्ष तक खींच लेजायँगी कि बिना अपनी मातृभाषाके समुचित विकासके जनसाधारणको शिक्षित और उन्नत नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि अपनी जातीयसंस्कृतिकी गोदमें ही सर्वसाधरणकी जातीय चेतना पोषण पासकती है, अपनी जातीय वाणीमें ही चेतना संपूर्णरूपसे मुखर होसकती है। डॉ० अग्रवालकी योजना इस भावनाको जगानेमें अव्यक्त रूपसे सहायक ही सिद्धहोगी, बाधक नहीं। स्वयं हिन्दीके देश-व्यापी प्रचारने ही जनपद-चेतनाको जन्म दिया है। इसके अतिरिक्त स्वयं हिन्दीकी अपनी समस्या है, जिसका एक सीमा तक समाधान डॉ. अग्रवालकी योजनाकी सफलतापर निर्भर करता है। हिन्दीका प्रचार जिस अनुपातमें बढ़ताजाता है, उस अनुपातमें उसके विविध अङ्गोंका साहित्य - भण्डार नहीं भररहा है। यह हिन्दी साहित्यका संकट है जिसका हल निकालनेके लिये डॉ० अग्रवालकी योजना बनायीगयी है। वैज्ञानिक और शास्त्रीय ढंगके अध्ययन किसी योजनाके अनुसार और किसी साहित्यिक संगठन, परिषद् अथवा एकेडमीके तत्वावधानमें ही संभव हैं। इसके साथ ही डॉ० अग्रवालकी योजनासे एक और लाभ होसकता है। इन अध्ययनोंके फल स्वरूप जनपदीय भाषाओंके सहस्रों सरल, सुबोध परन्तु सूक्ष्म - से - सूक्ष्म भावके प्रकाशनमें समर्थ शब्द मनुष्यके दैनिक व्यापारोंमें प्रयुक्त क्रियाओं के नाम, मुहावरे, लोकोक्तियाँ आदि संकलित होकर धीरे - धीरे हिन्दीके शब्द भण्डारमें प्रविष्ट होजायँगे और हिन्दीका भाव प्रकाशनभी अधिक उन्नत, सुनिश्चित और वैज्ञानिक होता जायगा। अपने देशकी संस्कृतिके

ज्ञानमें जो अभिवृद्धि होगी, वह अलग। अंग्रेज़, जर्मन, रूसी और फ्रांसीसी भाषाओंके विद्वान् हमारी भाषाओं और संस्कृतियोंका अध्ययन करके अपने भाषा-भाषियोंका ज्ञान बढ़ाते हैं, तो यदि हिन्दीवाले स्वयं अपने ही क्षेत्रों की भाषाओंका शास्त्रीय अध्ययन करनेका निश्चय करें, तो प्रगतिवादी उसका विरोध कैसे करसकते हैं ? अतः यदि मैंने अभी डॉ० अग्रवालकी तीव्र आलोचनाकी है तो इस बातको ध्यानमें रखकर कि उनकी योजना *जनपद - कल्याणीय* नही वरन् *हिन्दी - कल्याणीय* है और उसे भिन्न नामसे पुकारकर व्यर्थका भ्रम नहीं फैलाना चाहिए। इससे यदि जनपदों का कुछ लाभहोगा तो वह डॉ० अग्रवालकी इच्छाके प्रतिकूल। इस कथनका यह अर्थ कदापि नहीं है कि ग्रामों अथवा जनपदोंके प्रति डॉ. अग्रवालका अनुराग निश्छल और सच्चा नहीं है। परन्तु कविकी भावुकता और उपासककी श्रद्धाकी सीमाओंको पार कर- जानेवाला यह सच्चा अनुराग अनैतिहासिक और अवैज्ञानिक भावुकता और श्रद्धाकी वृत्तियोंपर अवलम्बित है और जनपदीय भाषाओंके प्रश्नको समझलेनेमें असमर्थ है।

डा० अग्रवालकी योजनाके पक्षमें एक बात और कही जासकती है। पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदीका *विकेन्द्रीकरण*का आन्दोलन और डा० वासुदेवशरण अग्रवालकी *जनपदीय योजना* एक दूसरेके पूरक हैं। चतुर्वेदीजीके *विकेन्द्रीकरण*के आन्दोलनमें सभी बातें अस्पष्ट हैं—हिन्दी की कौनसी शक्तियोंका अपव्यय होरहा है, उनका उपयोग न हो पानेसे क्या तात्पर्य है, छोटे केन्द्रोंमें विभाजन किस आधारपर कियाजाय, इन प्रादेशिक अथवा माण्डलिक साहित्य सम्मेलनोंके सामने क्या कार्य-क्रम हो, उनका क्या उद्देश्य हो आदि सभी प्रश्न *विकेन्द्रीकरण* होजानेपर तय करनेकेलिये छोड़ दियेगये हैं। डा० अग्रवालने अपनी योजना द्वारा विकेन्द्रीयकरणकी माँगको उद्देश्य प्रदान किया और क्षेत्र-विभाजनकेलिये सिद्धान्त निर्धारित किया कि विभिन्न संस्कृतियोंके परिचायक जनपदोंके आधारपर केन्द्र स्थापित कियेजाँय। ऐतिहासिक दृष्टिसे यह जनपद आन्दोलनकी विचारधाराका चतुर्वेदीजीकी अपेक्षा अधिक व्यापक और सुनिश्चित स्वरूप है और हमारी बढ़ती राष्ट्रीय चेतनाका द्योतक है; पर न डॉ. अग्रवाल और न चतुर्वेदीजी ही ऐतिहासिक दृष्टिसे अपनी विचारधाराओं के परस्पर सम्बन्धको देखते हैं, अतः दोनोंकी एकताका अनुभव करतेहुए

भी शब्दोंका दुराग्रह अभी चलरहा है। डॉ० अग्रवाल *विकेन्द्रीकरण* शब्दका प्रयोग वांछनीय नहीं समझते क्योंकि "विकेन्द्रीकरण शब्द कुछ विशेष संस्कार लेकर" साहित्यमें आया है। वैसे उनकाभी यही मत है कि "जनपदीय कार्य अनेक केन्द्रोंमें फैलकर ही करना पड़ेगा।" चतुर्वेदीजी अपना शब्द छोड़नेको तत्पर नहीं क्योंकि उससे उनके "अराजकवादके सिद्धान्त" की पुष्टि मिलती है। पर इस विवादमें इस सिद्धान्तकी चर्चा अप्रासंगिक है। इसके अतिरिक्त चतुर्वेदीजीके भाषा और बोलियोंके आधार पर प्रान्त निर्माणके आन्दोलनसे पुरातत्त्ववेता डॉ. अग्रवाल सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि "जनपदीय कार्यक्रम और प्रान्त निर्माणका आन्दोलन बिलकुल प्रथक बातें हैं, उनका संकर किसीका हित नहीं करसकता।" इस प्रकार चतुर्वेदीजीकी विचारधारामें मातृभाषाओंकी दृष्टिसे जो सजीव नारा था, डॉ० अग्रवालने उसको एकदम अस्वीकृत करके अपनी विचार-धाराको केवल हिन्दीकी दृष्टिसे ही सम्पूर्ण बनानेकी चेष्टा की है। और इसमें सन्देह नहीं कि जनपदीय कार्यक्रमका उद्देश्य यदि ग्राम-जीवन और भूगोलका अध्ययन मात्र ही रहे तो फिर 'प्रान्त निर्माण' का प्रश्न उससे सर्वथा भिन्न होजाता है। प्रान्त निर्माण जातीय जाग्रतिके बिना असंभव है और जातीय जाग्रतिके साथ मातृभाषाओंके स्वतन्त्र विकासका प्रश्न कार्यकारण रूपमें सम्बद्ध है। स्वयं चतुर्वेदीजीने प्रान्त निर्माणके प्रश्नको राजनीतिक प्रश्न बताया है और कहा है कि "साहित्यिक संस्थाओंसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है"। राजनीतिक दृष्टिसे भी वे केवल राजस्थानी, बुन्देली और मैथिली आदिकेलिए ही नये प्रान्तोंका निर्माण करना चाहते हैं, ब्रज, अवधी, भोजपुरी आदि अन्यान्य भाषाओं और बोलियोंकेलिये नहीं। जनपदीय चेतनाकी दृष्टिसे चतुर्वेदीजी अधिक यथार्थदर्शी और आगे बढ़ेहुए हैं। डॉ० अग्रवाल अपनी पुरातत्त्व-रुचिसे इतने बँधे हैं कि वे उसके बाहर और किसी चीज़का अस्तित्व स्वीकार ही नहीं करते।

परन्तु इन दोनों साहित्य सेवियोंके सम्मिलित प्रयत्नोंके दो परिणाम निकले हैं। बुन्देलखंड साहित्य मंडलने जनपदीय योजनाको यथाशक्ति कार्यान्वित करनेकी चेष्टा प्रारम्भ करदी है, और बुन्देलखंडी 'विश्वकोष'के लिये सामग्री एकत्र की जाने लगी है। इस दिशामें राजस्थानी वाले जो प्रयत्न कररहे हैं, उसकेलिये उन्होंने डॉ. अग्रवालकी योजनासे प्रेरणा

नहीं ली है क्योंकि उनका प्राथमिक उद्देश्य अपनी मातृभाषाका पुनः साहित्यिक संस्कार करके उसे स्वतंत्र विकासके पथपर अग्रसर करना है, केवल राष्ट्रभाषा हिन्दीका भंडार भरना ही नहीं। वे पहले अपने घरमें दिया जलाना अधिक ज़रूरी समझते हैं, और 'आयी माईको काजर नहीं, बिलाईको भर माँग' में वे विश्वास नहीं करते।

इस आन्दोलनका दूसरा परिणाम यह निकला कि हिन्दी साहित्य सम्मेलनने हरिद्वार अधिवेशन (१६४२) में जनपद-सम्बन्धी निम्न प्रस्ताव पास किया।

इस सम्मेलनका यह विश्वास है कि भारतीय संस्कृतिका निवास हमारे जनपदोंमें है। अतः यह सम्मेलन एक समिति की स्थापना करता है जो भारतके **विभिन्न जनपदोंकी** *भाषा, पशुपक्षी, वनस्पति, ग्रामगीत जन-विज्ञान,* **संस्कृति साहित्य** *तथा वहाँकी उपजका अध्ययन कराने की योजना उपस्थित करे। उस समितिमें निम्नलिखित विद्वान होंः—*

सर्वश्री वासुदेवशरण अग्रवाल, बनारसीदास चतुर्वेदी, राहुल सांकृत्यायन, अमरनाथ झा, जैनेन्द्रकुमार, सत्येन्द्र, और चन्द्रबली पाण्डेय (संयोजक)।

जनपद समिति अधिक कार्य नहीं करसकी, क्योंकि चाहे सम्मेलनको एकबार यह 'विश्वास' होगया हो कि 'भारतीय संस्कृतिका निवास' जनपदोंमें है, और 'विभिन्न जनपदों की भाषा, संस्कृति और साहित्य विभिन्न हैं, पर जनपद-समितिके सुयोग्य संयोजक श्री चन्द्रबली पांडेयमें यह सरल विश्वास न उत्पन्न होसका। उन्हें चतुर्वेदीजी और राहुलजीके विचार 'भयावह' लगे और उन्होंने सम्मेलके प्रस्तावको जेबमें रखकर चतुर्वेदीजीको लिखा कि "वास्तवमें अग्रवालजीकी योजनासे सम्मेलनका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं। वह तो युक्तप्रान्तीय या मध्यदेशीय सम्मेलनके घरकी बात है।' इनके अतिरिक्त सम्मेलनके तत्कालीन सभापति पं० माखनलाल चतुर्वेदीने भी एक प्रेस इन्टरव्यूमें कहा कि 'बहुत संभव है कि जयपुर सम्मेलन इस प्रस्तावको रद्द करदे।'

इस प्रकार जहाँ तक साहित्य सम्मेलनका संबन्ध है चतुर्वेदीजीका 'विकेन्द्रीकरण' का सुझाव और डॉ० अग्रवालका 'जनपद कार्यक्रम'

दोनों ही उस छोरसे अधिक आगे न बढ़सके। बल्कि जयपुर सम्मेलन की प्रतीक्षा किए बिना ही पं० चन्द्रबली पांडेय और पं० माखनलाल चतुर्वेदीने हरिद्वार सम्मेलनके प्रस्तावको उपेक्षाके अतल गर्तमें डुबोदिया।

जहाँ तक 'विकेन्द्रीकरण' का प्रश्न है, हिन्दीके अधिकांश कार्यकर्त्ताओं को उससे विरोध है, क्योंकि जिस देशमें आदि कालसे सत्ता कभी भगवान, कभी राजा, कभी ब्राह्मण और कभी वायसरायके हाथमें ही केन्द्रित रही हो, उस देशके विचारकों और राष्ट्रकर्मियोंके संस्कार कुछ ऐसे कोमल बन जाते हैं कि 'विकेन्द्रीकरण' जैसे शब्दोंकी ध्वनि ही कर्णकटु लगने लगती है, फिर उसके अर्थ समझनेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु डॉ० अग्रवालकी 'जनपद कल्याणकी योजना' को व्यापक समर्थन मिला—'लोक कल्याणकी भावना' से इसमें ध्वनि साम्य है, और यह ध्वनि हमारी सनातन उदारवृत्तियोंको तुरन्त जगा देती है। और यद्यपि 'विकेन्द्रीकरण' का सिद्धान्त उसके मूलमें काले नागकी तरह बैठा है, फिर भी हमारे औदार्यके जगनेपर मूलकी ओर दृष्टि डालनेका धैर्य किसमें रहजाता है! अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार और जनपद-समितिके निर्वाचित सदस्य सत्येन्द्र जैसे विरल दूरदर्शी व्यक्ति भी हमारे देशमें हैं जो किसी विचारके मूल तक पहुँचे बिना चैन नहीं लेते। और वे डॉ. अग्रवालकी योजनाके मूल में 'विकेन्द्रीकरण' या 'विग्रह' का नाग देखकर अपनेको सावधान कर चुके हैं। सत्येन्द्रजीको जनपद-कार्यक्रमसे विरोध इसलिये है कि उसमें 'जनपद' शब्दका प्रयोग निरापद नहीं है। भविष्यमें वह अनेक जातीय दुर्भावनाएँ पैदा कर सकता है। अन्यथा वे ग्रामोंका अध्ययन अवांछनीय नहीं समझते। उनका मतभेद इसलिए भी है कि यह कार्य चूँकि इतिहास और भूगोल परिषदोंका है, अतः केवल इसलिए कि अग्रवाल जी जनपद सम्बन्धी अध्ययनोंको हिन्दीमें लिखाना चाहते हैं, उसे करनेके लिये सम्मेलनको क्यों बाध्य किया जाय। अवनीन्द्रनाथ विद्यालंकारकी विचारधारा अत्यन्त अस्पष्ट और बृहत्तर भारतका दिवा-स्वप्न देखनेवाले एक विक्षिप्त की-सी है। उनका निश्चित मत है कि जनपदोंकी स्थापना भारतीय सभ्यता और संस्कृतिके विकासमें बाधक होगी। वैसे वे भी ग्राम गीतों, कहानियों, मुहावरों और शब्दों आदिके संग्रहके विरोधी नहीं हैं, केवल वे गाँवोंकी ओर लौटना पसन्द नहीं करते। इस नारेका आरोप

जनपद-प्रसंगमें उन्होंने किस आधार पर किया, यह अज्ञात है। चतुर्वेदी जी और डॉ० अग्रवालने तो कहीं भी 'शुद्ध भारतीय सभ्यता और संस्कृति' के प्रति इतना गहरा अनुराग नहीं दिखाया।

मातृभाषाओं का प्रश्न

इस विवादमें वास्तविक सरगर्मी और तीखापन तब आया जब महापंडित राहुल सांकृत्यायनने **हंस** (सितम्बर १९४३) में 'मातृभाषाओं का प्रश्न' शीर्षक लेख द्वारा इस समूचे आन्दोलनकी विचारधाराको वैज्ञानिक और जनवादी आधार देकर एक दूसरे ही धरातल पर उठाकर रख दिया।

इसके एक वर्ष पूर्व राहुलजीने **हंस** में एक और लेख 'पाकिस्तान और जातियोंका सवाल लिखा था।' उन्होंने इसी लेखमें मातृभाषाओं के प्रश्नकी रूपरेखा निर्धारित करदी थी, क्योंकि उन्होंने स्पष्ट कहा था कि पाकिस्तानका प्रश्न जातियोंका प्रश्न है। पाकिस्तानकी माँग साम्प्रदायिक नहीं है जो धर्मपर आधारित हो, बल्कि वह उत्तर-पश्चिम और पूर्व भारत की ग्यारह जातियोंके आत्मनिर्णयके अधिकारकी न्यायपूर्ण माँग है। इस प्रकार पाकिस्तान एक जातिका राष्ट्र नहीं होगा। वह ऐसी अनेक जातियों का राष्ट्रसंघ होगा जिनकी अलग-अलग संस्कृतियाँ और भाषाएँ हैं, जैसे सिंधी, बलोची, बर्हुई, मुल्तानी, पश्चिमी पंजाबी, पश्तो, कश्मीरी, दरदी, बलती, हुन्जा आदि उत्तरी पाकिस्तानमें और पूर्वी बंगाली पूर्वी पाकिस्तानमें। राहुलजीका कहना था कि इसी प्रकार हिन्दुस्तानभी एक बहु-जातिक राष्ट्र होगा। जातियोंका निर्णय धर्मके आधरपर करना असंगत होगा, भाषा ही इसका निर्णय करसकती है। इस दृष्टिसे उनके अनुसार भारतमें कमसे कम ७३ भाषाएँ और ७३ जातियाँ होती हैं। राहुलजीने इसकी सूची भी दी थी। इस सूचीमें संशोधनकी आवश्यकता होसकती है, परन्तु इससे उनका दावा गलत सिद्ध नहीं किया जासकता। उन्होंने यह भी कहा कि ये दोनों जाति-संघ जनतन्त्रवादी होने चाहिये, और यदि ऐसा हुआ तो उनके सम्मुख समस्त जनताको साक्षर और शिक्षित बनानेका प्रश्न अनिवार्यतः उठेगा। उस समय थोथी भावुकता और काल्पनिक अखंडता के नामपर एक विजातीय भाषाको लादनेसे काम नहीं चलेगा, क्योंकि

प्रश्न जनताको नयी भाषा देनेका नहीं बल्कि नया ज्ञान देनेका होगा। मातृभाषाओंके रूपमें भाषा तो जनताके पास मौजूद है और उसमें वह अपने भावोंको व्यक्त करना जानती है। नया ज्ञान देनेकेलिये नये पारिभाषिक शब्दोंकी ज़रूरत पड़ेगी और उसकेलिये जिस प्रकार अन्य भाषाएँ, जैसे बंगाली, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगु आदि संस्कृत, फ़ारसी और अंग्रेज़ी भाषाओंसे शब्द उधार लेती है, उसी प्रकार विभिन्न मातृभाषाएँ भी उनसे ही उधारलेंगी। अपनी मातृभाषामें शिक्षा पानेसे जनताको यह सुविधा रहेगी कि उसे व्याकरण और मुहावरे नहीं सीखने पड़ेंगे, और एक विजातीय भाषाको सीखनेमें आठ-दस वर्ष न गँवाने पड़ेंगे। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि किसी अन्तरप्रान्तीय भाषाकी ज़रूरत ही न रहेगी। और इसकेलिए हिन्दी (साहित्यिक खड़ी बोली) से अधिक उपयुक्त अन्य कोई भाषा नहीं होसकती। पाकिस्तान राष्ट्रमें उर्दू अन्तरप्रान्तीय भाषा बनसकेगी। मातृभाषाकी परिभाषा देतेहुए राहुलजीने लिखा कि *मातृभाषा वह है जो कि मांके दूधके साथ बच्चा सीखता है। जिस भाषाके व्याकरणको पुस्तक पढ़कर सीखना पड़े वह आदमीकी मातृभाषा नहीं है।* भारतीय इतिहाससे उदाहरण देकर उन्होंने हमें स्मरण दिलाया कि *महात्मा बुद्धसे पूर्व यहाँ जनपदोंका युग था।* और यद्यपि कालान्तरमें अनेक प्रभावोंके पड़नेसे इन जनपदोंकी भाषाओं और संस्कृतियोंमें परिवर्तनभी हुए, परन्तु भाषामूलक जनपदोंको तोड़नेके प्रयत्न सदा व्यर्थ होते आये। आजभी यदि खड़ीबोलीको मातृभाषाओंके स्थानपर लादनेकी चेष्टाकी गयी तो ऐसी चेष्टा असफल होगी। इससे जातियोंकी स्वाभाविक प्रतिभाका विकास अवरुद्ध होगा और कोई जाति इसे सहन न करसकेगी।

मातृभाषाओंका प्रश्न शीर्षक निबन्धमें राहुलजीने इस प्रश्नपर मुख्यतः सांस्कृतिक दृष्टिसे विचार किया। भ्रम निवारणकेलिये उन्होंने प्रारम्भमें ही स्पष्ट करदिया कि, *"आजके युगमें एक सम्मिलित भाषाकी उपयोगिताको न समझना वस्तुतः बड़े आश्चर्यकी बात होगी। इसलिये हिन्दीके सम्मिलित माध्यमकी भाषा होनेसे हम इन्कार नहीं करते। रोजके आपसी वार्तालापकी तरह साहित्यिक आदान-प्रदानके साधनके तौरपर भारतमें हिन्दीका एक बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है और रहेगा, इसेभी हमें मानना पड़ेगा।* राहुलजीने केवल इस बातका

आग्रह किया कि यदि हम जन-शिक्षाका कार्य उठायेंगे तो हमें मातृभाषाओंको ही शिक्षाका माध्यम बनाना पड़ेगा, क्योंकि ज्ञान सदा भाषाके लिबास में रहता है, और उसीके माध्यमसे प्राप्त किया जासकता है। मातृभाषा सीखनेमें विलम्ब नहीं होता, अतः हम मातृभाषाओंमें थोड़ी-सी शिक्षाके उपरान्त ही जनताको उच्चज्ञान प्रदान करसकते हैं। आठ वर्ष तक हिन्दी सीखनेके पश्चात् ज्ञान मन्दिरमें प्रवेश करनेका अधिकार देनेकी नीति अनुचित है। इस तर्ककी पुष्टिमें राहुलजीने रूसका उदाहरण दिया। मध्य एशियाके तुर्कमान, उज़बेक, किर्गिज़ और कज़ाक जातियोंमें शिक्षाकी अभूतपूर्व प्रगतिका कारण यह है कि सोवियत शासनने वहाँ मातृभाषाओं को शिक्षाका माध्यम बनाया है। लाल-क्रान्तिके पूर्व इन भाषाओंकी न कोई लिपि थी और न कोई लिखित साहित्य। तुर्की भाषाका ही आधिपत्य था। अब उसके स्थानपर चार मातृभाषाएँ अपना सर्वाङ्गीण विकास करनेमें समर्थ हुई हैं और उच्च-से-उच्च शिक्षाका माध्यम बनगयी हैं। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलने भी सीमा-प्रदेशमें पश्तोको पाठशालाओंमें शिक्षाका माध्यम बनाया था। अतएव अन्य मातृभाषाओंको भी अधिकार है कि वे इस प्रकारकी माँग करें। यदि अभीतक ऐसा नहीं हुआ तो इसका कारण यह है कि प्रान्तोंका वर्तमान बँटवारा शासकोंके सुभीतेके अनुसार हुआ है। अब उसे जनताके सुभीतेके अनुसार करना होगा। इसमें भारतकी खंडता और अखंडताका प्रश्न नहीं उठता, बल्कि सारा प्रश्न, जनहितकी दृष्टि से इन मातृभाषाओंकी अन्यतम उपयोगितापर निर्भर करता है। इसी दृष्टि से राहुलजीने हिन्दी-उर्दू प्रान्तों (पंजाब, सिंध, युक्तप्रान्त, राजपूताना, मध्य प्रान्त और बिहार) का भाषा और संस्कृतिके अनुसार बीस जनपदों* में विभाजन किया। यह विभाजन चतुर्वेदीजी और डॉ० अग्रवालके अर्थोंमें विकेन्द्रीकरण अथवा हिन्दीका भण्डार भरनेको लक्ष्य मानकर हिन्दीकी सुविधाके अनुसार नहीं किया गया, बल्कि भिन्न-भिन्न जनपदोंको संगठित कर उनका केन्द्रीकरण करने अथवा मातृभाषाओंके स्वाभाविक विकासकी सुविधाएँ प्रस्तुत करनेके उद्देश्यसे किया गया है। उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि इस विभाजनसे तथा मातृभाषाओंको शिक्षा और साहित्यका माध्यम बनानेसे हिन्दी (साहित्यिक खड़ी बोली) को कोई

धक्का पहुँचनेकी दुस्संभावना नहीं है। हिन्दी आज अन्तरप्रान्तीय भाषा का जो कार्य कररही है; जनपदोंके निर्माणके पश्चात्, राजनीतिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करनेकेलियेउसको यह कार्य और भी अधिक व्यापक रूपसे करना होगा। बल्कि उक्त जनपदोंमें हिन्दी (अथवा उर्दू) को अनिवार्य द्वितीय भाषा बना देनेसे किसीको आपत्ति न होगी। इसके अतिरिक्त हिन्दी केवल मात्र एक अन्तरप्रान्तीय भाषा ही नहीं है, वह कुरु जनपदकी ३० लाख जनताकी मातृभाषा भी है। अतः उसे अपनी उर्वर प्रसव-भूमिके साथ सम्बन्ध ज़ोड़ना होगा। कौरवी (खड़ी) बोलीके निकट जानेसे ही उसकी कृत्रिमता, जड़ता और अधूरी भाव-प्रकाशन - शक्ति, अधूरी वर्णन - क्षमता आदिको दूर किया जासकेगा। अग्रवाल · योजना तक जनपद - भक्ति सीमित रखने वालोंको राहुलजीने चेतावनी दी कि बोलियों (मातृभाषाओं) की मृत्युका वारण्ट नहीं कट चुका है कि हम जो कुछ उपलभ्य साहित्यिक-सांस्कृतिक सामग्री है उसे जल्दी-जल्दी बटोरलें। वे सजीव भाषाएँ अथवा बोलियाँ हैं, उनके बोलने वाले कर्मठ किसान और मज़दूर हैं। आज भी उनमें लोक - साहित्यकी रचना होरही है। अतः जब हम इस असंख्य जनताको शिक्षित बनानेकी बात करें, तब हमें यह भी सोच-समझ लेना चाहिये कि इन मातृभाषाओं का विकास करना है ताकि वे भविष्यमें जनपदीय पार्लियामेन्टोंमें बोली जायँ, कचहरियोंमें लिखी जायँ, प्राइमरी पाठशालाओंसे लेकर विश्व-विद्यालयों तकमें शिक्षाका माध्यम बनें, उनमें पत्र पत्रिकाएँ निकलें, फ़िल्म तैयार हों और उनके अपने रेडियो स्टेशन हों।

मैथिली और राजस्थानीमें कुछ वर्षोंसे यह आन्दोलन चलरहा है कि उक्त भाषाओंको अपने क्षेत्रोंमें पूर्ण विकास करने और अपनी रीडरें बनानेकी पूर्ण स्वाधीनता हो, इसका उल्लेख पहले किया जाचुका है। राहुलजीने इस प्रवृत्तिको ही वैज्ञानिक, सांस्कृतिक आधार देकर एक सुव्यवस्थित विचारधाराके रूपमें उपस्थित किया जहाँ *विकेन्द्रीकरण* और *जनपदीय योजना* की विचारधाराके मूलमें पुरातत्वकी खोज और हिन्दी (साहित्यिक खड़ी बोली) अथवा राष्ट्रभाषाका भंडार भरनेका उद्देश्य ही मुख्य था और सांस्कृतिक क्षेत्रमें राष्ट्रीय चेतनाका प्रथम चरण होनेके कारण मातृभाषाओंके स्वतन्त्र अस्तित्व और विकासकी समस्याको गौण

प्रश्न समझ लिया गया था, जिससे विभिन्न जनपदोंकी जनताकी अपनी सांस्कृतिक आवश्यकताओंको तस्वीरमें नहीं लाया गया था; अतः अन्धकारमें टटोलकर इस योजना या उस योजनाको पकड़कर कुछ करना अभीष्ट होगया था, वहाँ राहुलजीने आत्मनिर्णयके सिद्धान्तके आधार पर जनशिक्षाके व्यापक उद्देश्यको सामने रखकर इस समस्याका समाधान उपस्थित किया। इससे जनपद आन्दोलनकी विचारधारा ही बदलगयी। जनपद आन्दोलनको इससे स्फूर्ति, बल और प्रेरणा मिली।

जनपद आन्दोलनका समर्थन

मैथिली, राजस्थानी, बुन्देलीके क्षेत्रोंमें जहाँ जनपद-आन्दोलनका सूत्रपात होगया है, वहाँके कार्यकर्त्ताओंने सामान्य रूपसे राहुलजीकी विचारधाराका समर्थन किया है, यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं है। उनके अतिरिक्त अनेक दूरदर्शी उदार-चेता विचारकों और साहित्य-सेवियोंने भी राहुलजीके दृष्टिकोणका सम्पूर्ण अथवा आंशिक समर्थन किया है। डॉ० *धीरेन्द्रवर्मा* और *सुनीतिकुमार चटर्जी* ने भाषा शास्त्रके अतिरिक्त ऐतिहासिक-राजनीतिक दृष्टिकोणसे भी इस प्रश्नपर विचार किया है और यद्यपि वे मातृभाषाओंकी माँगका आंशिक समर्थन करते हैं, तथापि किसी हठ या मोहके कारण साहित्यक खड़ीबोलीको सारे मध्यदेशकी मातृभाषा मनवानेका दुराग्रह नहीं करते। डॉ० *सुनीतिकुमार* ने अपने मतको स्पष्ट करते हुए पं० बनारसीदासको लिखा था। *साधारणतया इतना अब कहसकता हूँ कि मैं विकेन्द्रीकरणके अनुकूल हूँ, खास करके उन प्रान्तोंकेलिये जहाँ की बोलियाँ उप-भाषाएँ (dialects) नहीं हैं, परन्तु व्याकरणकी दृष्टिसे न्यारी या पृथक् भाषा पद वाच्य हैं। इस लिये मेरी रायके अनुसार भोजपुरी, मैथिली, राजस्थानी, कोसली पूर्वी हिन्दी पंजाबी, हिन्दकी पश्चिमी पंजाबी इनकेलिये विकेन्द्रीकरण स्वीकार करलेना अयौक्तिक और कठिन नहीं होगा। पर आपकी बुन्देलीकेलिए बात दूसरी है। यह तो पश्चिमी या पछाहीं हिन्दीके वर्गकी बोली है।........शिक्षा व सार्वजनिक जीवनमें कहाँ तक प्रान्तिक बोलियोंका प्रसार या व्यवहार होना चाहिए, इसका निर्णय*

कठिन होगा, पर इसका निर्णय करना तो आवश्यक है। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जीने इस प्रश्नका निर्णय करनेके पूर्व कतिपय आवश्यक बातों पर विचार करनेकी सलाह दी है और उपयोगी सुझाव भी पेश किये हैं। हम उनपर यथावसर विचार करेंगे। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा यद्यपि हिन्दीकी सम्पूर्ण विजयकी ही आकांक्षा रखते हैं फिरभी उनका मातृभाषा प्रेम उन्हें दुराग्रही नहीं बनने देता। उन्होंने स्वयं अपनी सफाई दी है कि, "मैं मध्यदेशकी जनपदी बोलियों तथा संस्कृतिका विरोधी नहीं हूँ बल्कि पूर्ण पक्षपाती हूँ। मेरा अपना भी तो एक जनपद है और मेरी मातृभाषाभी तो एक जनपदी बोली है, अतः मैं इस सिद्धान्तका विरोधी होभी कैसे सकता हूँ? मैं यहाँतक जानेको तैयार हूँ कि आवेश में आकर नहीं बल्कि सोच समझकर यदि कोई जनपद अपनेको मध्यदेशके इस साहित्यिक सम्बन्धसे पृथक् करना ही चाहे तो उसकी इस महत्त्वाकांक्षाको पूर्ण करनेका अवसर उसे अवश्य मिलना चाहिये। संयुक्त परिवारका सच्चा बन्धन प्रेम और त्याग है, स्वार्थ और हठ नहीं।" डॉ० अमरनाथ झा ने मातृभाषाओंके प्रश्नपर कभी विरोधियों के आगे मस्तक नहीं नवाया। आगरा नागरी-प्रचारिणी सभामें भाषण देतेहुए उन्होंने कहा कि "मेरी मातृभाषा मैथिली है।"..."जनपदीय भाषाओंके प्रति अनुदार होनेका अर्थ है हिन्दीकी अवनति। राष्ट्रभाषा तो हमारी हिंदी ही है। हिंदीमें ही एक बंगाली एक पंजाबीकी बातचीत समझ सकता है। एक पंजाबीको अथवा गुजरातीको किसी दूसरे प्रान्तके निवासीसे बातचीत करनेकेलिये हिन्दीका ही आश्रय लेना पड़ेगा। पर साथ ही साथ एक जनपदीय भाषाभाषीको उसकी भाषामें ही बोलने-चालनेमें सुविधा होगी। आरामें मुझे अभिनन्दन-पत्र देते समय कई कविताएँ पढ़ीगयीं। लेकिन जनतामें सबसे अधिक प्रभाव उन कविताओंका पड़ा जो कि भोजपुरीमें पढ़ीगयीं। एक ब्रजवासीकेलिए ब्रज ही सबसे सरल और मीठी भाषा है। यही बात दूसरी जनपदीय भाषाओंकेलिये भी लागू है। किसी भी भाषाके बारेमें

तुलनात्मक रूपसे अच्छी या बुरी कहनेका अधिकार किसीको नहीं। जिन दिनों मुझे हिन्दी-साहित्य सम्मेलनके सभापति होनेका गौरव प्राप्त था, उन दिनों मैंने कितनी ही जगह भ्रमण किया। मैं बम्बई, नागपुर ओरछा, आरा और जलंधर आदि स्थानोंपर, गया था। सभी जगह मेरा यही सन्देश था कि आप लोग अपनी-अपनी जनपदीय भाषाओं की उन्नति करिये। इसीमें हिन्दीका कल्याण है।" भदन्त आनन्द कौसल्यायन, देवेन्द्रसत्यार्थी, रायबहादुर सरदार माधवराव विनायक राव किबे, राम इक़बालसिंह राकेश, वृन्दावनलाल वर्मा और डॉ० बल्देवप्रसाद मिश्र आदि अनेक विद्वानोंने भी राहुलजीकी विचारधारा का पूर्णतः अथवा आंशिक समर्थन किया है। इस समर्थनके सिलसिलेमें एक-आध बार 'भाषाओंके आत्मनिर्णयके अधिकार' की चर्चा भी हुई है। इन समर्थकोंके सम्बन्धमें विचारणीय बात यह है कि उनमेंसे कोई भी कोरा साहित्यिक कार्यकर्त्ता और प्रोपेगैण्डिस्ट नहीं है, बल्कि डॉ० धीरेन्द्र वर्मा और डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी उत्कृष्ट भाषाविद् हैं, डॉ० अमरनाथ झा श्रेष्ठ साहित्य मर्मज्ञ और प्रमुख शिक्षाविद् हैं। देवेन्द्र सत्यार्थी और रामइक़बालसिंह 'राकेश' ऐसे कर्मठ साहित्यकार हैं जिन्होंने गाँव-गाँवमें घूमकर जनपदोंके सहस्रों लोक-गीतोंका संग्रह किया है और उन्हें विरोधियों की अपेक्षा जनपदोंके जीवन, उनकी आकांक्षाओं और भावनाओंका कहीं ज़्यादा ज्ञान है; सरदार किबे, वृन्दावनलाल वर्मा, डॉ० बल्देवप्रसादने स्वयं आजीवन अपने-अपने जनपदोंके बीच रहकर साहित्यसेवा की है। भदन्त आनन्द कौसल्यायन राष्ट्रभाषा-प्रचार-समितिके मन्त्री हैं और जानते हैं कि राष्ट्रभाषाको सीखकर जनपद निवासी अपनी मातृभाषाका किस सीमा तक परित्याग कर देते हैं। ऐसी स्थितिमें इन विद्वानों और साहित्यकारोंके समर्थनका विशेष महत्त्व है। इन लोगोंका सामान्यतः इतना तो निश्चित मत है कि यह कहना कि बोलियोंमें अपना साहित्य न उत्पन्न हो, एक 'ज़बर्दस्तीका आर्डिनेन्स' है। जनपदोंमें निवास करनेवाली जनताके ऊपर हिन्दीको मातृभाषाके रूपमें लादनेकी चेष्टा अन्यायपूर्ण होगी, भविष्यमें जाग्रत होकर वे इस अवैध व्यवस्थाको उखाड़ फेंकेंगी। जनपदोंकी जनता पर उनकी अपनी मातृभाषाओंकी रचनाओंका अपेक्षाकृत कहीं ज़्यादा

प्रभाव पड़ता है। ये विद्वान् किन्हीं विशेष ऐतिहासिक सिद्धान्तोंके सहारे नहीं वरन् स्वयं अपने अनुभव और लोक-जीवनके ज्ञानके आधारपर इन परिणामोंपर पहुँचे हैं, अतः उनके निष्कर्ष ध्यानमें रखने योग्य हैं। परन्तु उक्त विचारक और साहित्यिक चूँकि पेशेवर प्रोपेगैण्डिस्ट नहीं हैं और साधारणतः तथाकथित साहित्य सेवियोंकी उदार-चेतना, व्यापक सहानुभूति और न्यायभावनापर उनका सहज विश्वास है, अतः उन्होंने यह अनुमान नहीं लगाया कि एक नयी विचारधाराको समर्थन प्रदान करके उन्होंने पहलेसे उद्वेलित वातावरणको और उत्तेजना ही प्रदान की है। इसलिए वे अपना मत प्रकाशित करके ही निश्चिन्त होगये। इस मतका और स्पष्टीकरण करनेकेलिए अथवा इसे जन-मत बनानेकेलिए उन्होंने व्यापक आन्दोलन नहीं किया। दूसरी ओर विरोधका स्वर अपने केन्द्रपर रूढ़ होकर, विवेकहीन भावनाओं और अबौद्धिक उत्तेजनाओंको अपने इर्दगिर्द इकट्ठा करके उत्तरोत्तर तीव्र और कर्कश होतागया और वह विवेक, न्याय और जनहितकी वाणीको दबलेनेमें तत्कालकेलिये समर्थ होगया।

जनपद आन्दोलन का विरोध

हिन्दी साहित्य सम्मेलनके अधिकांश कार्यकर्ताओंकी राष्ट्रीय चेतना और जनतांत्रिक भावना अभी इतनी उदार और व्यापक नहीं हो पायी है कि वे राहुलजीकी विचारधारा पर पक्षपात रहित होकर विचार करसकें। अपनी कूपमण्डूकता अथवा कठमुल्लापनके कारण नहीं, बल्कि इसलिये कि हिन्दीके कार्यकर्त्ताओंका सोचनेका तरीका ही अबतक भिन्न रहा है और वे अपनी विचारशैली और कार्यशैलीकी परम्पराकी सीमाओंमें बँधकर ही सोचनेके अभ्यस्त हैं। हिन्दीका आन्दोलन भी राष्ट्रीय आन्दोलनके समान ही मध्यभारतकी हिन्दू जातियोंमें नयी राष्ट्रीय चेतनाके प्रसारका माध्यम रहा है। प्रारम्भमें एक विदेशी भाषा अंग्रेज़ीका एकछत्र राज्य था जिसके अध्ययनसे यत्र तत्र कुछ प्रतिभाएँ सचेत होकर राष्ट्रीय प्रश्नोंपर सोचनेलगी थीं। परन्तु विदेशी भाषा न हमें अपनी प्राचीन संस्कृतिका सजीव स्पर्श करासकती थी, न हमें अपनी सभ्यताकी विशिष्ट आभासे ही दीप्त करसकती थी। वह केवल योरोपीय राष्ट्रोंके राष्ट्रीय जागरणोंकी मिसालोंसे हमारे अन्दर एक अव्यक्त, अमूर्त स्वातन्त्र्य कामना, एक निस्सत्त्व आदर्शवादी भावना और वास्तविक जीवनसे असम्पर्कित भविष्य कल्प-

नाओंको ही जन्म देसकती थी। परन्तु चेतनाका यह प्रथम अंकुर था, और राष्ट्रीय आन्दोलनमें जहाँ इस अंकुरको सींचा वहाँ हिन्दी आन्दोलनने इसको धरतीका आश्रय दिया, या कहें कि हिन्दी आन्दोलन हमारी बढ़ती राष्ट्रीय चेतनाका स्वाभाविक परिणाम था। सचेतन देशभक्तोंने अनुभव किया कि अपनी भाषा और साहित्य द्वारा ही जन मनको सम्पूर्ण रूपसे आन्दोलित किया जासकता है। अपनी भाषाका स्वर - विधान, शब्द - ध्वनि, और अर्थ - शक्ति ही देशकी वर्तमान परिस्थितिको सजीव अभिव्यक्ति देसकती है, अपनी परम्परागत संस्कृतिके उच्च शिखरोंको दृष्टिगोचर करासकती है, जनतामें आत्माभिमान जगाकर उसके मनमें स्वतन्त्र सुखमय भविष्यकी उदात्त कल्पनाएँ जगासकती है। समूची जनता के मन और हृदय तक नयी राष्ट्रीय चेतनाके सन्देशको लेकर पहुँचनेका एकमात्र मार्ग हिन्दी है, वही मध्यदेशके विभिन्न खंडोंकी हिन्दू जनताको एक सूत्रमें बाँधकर सबल बनासकती है। हिन्दीके मार्गमें अंग्रेज़ी ही सबसे बड़ा व्याघात थी, परन्तु चन्दबरदाई, कबीर, जायसी, तुलसी, सूर, मीरा और भूषणकी विरासतका मध्यदेश वासियोंको समान रूपसे उत्तराधिकारी घोषितकर हिन्दी आन्दोलनने हमारे अन्दर अपने प्राचीन साहित्य और संस्कृतिके प्रति जातीय गर्वकी भावना जगादी। हमें लगा कि अंग्रेज़ीके मुक़ाबलेमें हमारा साहित्य नगण्य नहीं है, और हमारी राष्ट्रीय चेतना मुखर होगयी। परन्तु विदेशी शासनके कारण हम अंग्रेज़ीको अपदस्थ न कर पाये। हमारे मनमें स्वाभाविक और सही प्रतिक्रिया हुई कि जबतक हिन्दी-आन्दोलनको और सशक्त न बनाया जायगा, अंग्रेज़ीका राजकीय कार्योंमें चलन ज्यों-का-त्यों बनारहेगा, उच्च शिक्षाका माध्यम भी वही बनीरहेगी। हिन्दी-आन्दोलनको और मज़बूत करनेके अर्थ थे कि हिन्दीको अखिल-भारतकी राष्ट्रभाषाके पदपर आसीन करानेकेलिये देशके सुदूर प्रान्तों तकमें राष्ट्रभाषा प्रचारका आयोजन कियाजाय और मध्यदेशमें तो हिन्दीको ही शिक्षाका माध्यम बनानेका प्रयत्न कियाजाय ताकि उर्दू अथवा बँगला आदि अन्य बड़ी भाषाओंके मुक़ाबलेमें हिन्दीका जनसंख्या बल अधिक रहे और अंग्रेज़ीका स्थान लेनेकेलिये वही एकमात्र उत्तराधिकारिणी समझी जाय। हमारे विचारकोंने ईमानदारीसे राष्ट्रीय और सांस्कृतिक उत्थानका एकमात्र यही मार्ग निर्दिष्ट किया और इससे विचार और कार्यपद्धतिकी

जो परम्परा बनी उसने एकदम नयी परिस्थितियों और नये समाधानोंपर पक्षपात रहित होकर विचार करनेकी संभावनाओंको कम करदिया। राहुल जीकी विचारधाराका जो इतना तीव्र विरोध होरहा है उसका एकमात्र कारण हमारे साहित्यिक कार्यकर्त्ताओंकी परम्परावद्धता है, जिसके कारण वे प्रत्येक नये सुझाव या समाधानको संशयकी दृष्टिसे देखते हैं। उनकी विचार-पद्धतिकी सीमाओंको जानकर ही हमें उनके विरोधका विश्लेषण करना चाहिए।

सम्मेलनके भूतपूर्व सभापति *पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी* का विचार है कि जनपद आन्दोलनके कारण 'विभागीय संघर्ष' उत्पन्न होंगे और हिन्दीकी 'सर्वशक्तिमत्ता नष्ट होजायगी।' इसलिये उनका निश्चित मत है कि 'मैं यह हर्गिज़ नहीं समझ सकता कि इन प्रान्तोंकी पाठ्यपुस्तकें वहाँकी बोलियोंमें छपनेलगें। प्रान्तीय अभिमानको जागृत करना बुरी बात नहीं, परन्तु इनके गृह-कलहसे मुझे सम्पूर्ण हिन्दी जगतके नाश होजानेका भय मालूम होता है।' *स्वामी भवानीदयाल सन्यासी* का विरोध भी इसी भावनापर टिका है। वे इस योजनाको 'हिन्द और हिन्दी' केलिए अपकारक ही नहीं 'राष्ट्रीयताके प्रति अक्षम्य अपराध' भी समझते हैं। किसी निराकार भारतके कण-कणको एक ही वाणीमें बोलते देखनेको आतुर, दिवास्वप्नमें डूबे, जनपद समितिके संयोजक *चन्द्रबली पाण्डेय* को राहुलजीके विचार 'भयावह' लगते हैं। *सत्येन्द्रजी* की सूझ-बूझ उन्हें राजनीतिका पारखी बनादेती है और उन्हें राहुलजीका दृष्टिकोण 'शुद्ध राजनीतिक' लगता है। वे इसे 'गान्धीजीमें केन्द्रित राजनैतिक शक्ति और मन्तव्योंको दुर्बल बनानेकी आवाज़' समझते हैं। सत्येन्द्रजीका सारा ज़ोर 'भारतसे भी अधिक आवश्यक और महत्वपूर्ण हिन्दीकी अखण्डता' पर है। उनका कथन है कि हिन्दीको राष्ट्रभाषा बनानेका प्रयत्न होरहा है, इस प्रयत्नमें सफलता पानेकी आशा दो बातोंपर निर्भर है। पहली तो हिन्दीकी प्राकृतिक शक्ति, दूसरी जनसंख्या शक्ति। राहुलजी इस जनसंख्याके 'बृहद् अखंड खंड' को नष्ट करके हिन्दीको क्षीण और दुर्बल बनाना चाहते हैं, और इस प्रकार 'बँगला भाषा' के मुक़ाबलेमें उसकी 'प्रतियोगिता शक्ति' को मिटा देना चाहते हैं। सत्येन्द्रजीका अपना अनुमान है कि 'हिन्दीकी अलग-अलग बोलियोंमें बहुत कम अन्तर है।'

और हिन्दीके लादेजानेसे किसीभी जनपदको हानि नहीं पहुँची है। अपना पृथक् अस्तित्व पानेकेलिए बोलियोंको सबसे पहले अपनी पृथक् योग्यता घोषित करनी पड़ेगी और इसका परिणाम विग्रह और निर्बलता होगा। "भेद-चैतन्य हिन्दीको हनन करनेका सबसे घातक अस्त्र है—उर्दूसे हिन्दी नहीं मरसकी, पर बोलियोंके इस टीकमगढ़ी प्रयत्नसे हिन्दी मूलरहित होजाएगी—नाल विरहित कमल।" तर्कका आडम्बर निबाहकर भी जब वे स्वयंको आश्वस्त नहीं करपाये तो उन्होंने स्वीकार किया कि वे 'स्वतन्त्र विचारकोंकी भाँति किसी भी प्रश्नपर विचार करनेके विलासको अभी सहन नहीं करसकते।' अतः एक ऐसे विचारककी हैसियतसे जिसकी भावनाएँ गुलामीमें पगगयी हैं, उनका निश्चित मत है कि जनपद आन्दोलन "पूर्व के समस्त महान् पुरुषोंके प्रति विद्रोह है। हिन्दीके घरमें विद्रोह है—ब्रज, बुन्देली, बघेली आदि सभी भाषाएँ हिन्दीकी बोलियाँ हैं। हिन्दी उनकेलिये राष्ट्रभाषा नहीं मातृभाषा है।" और फिर अपने उद्भ्रान्त विचारोंमें वे यहाँ तक कहगये हैं कि "हिन्दीको उसके मातृभाषात्वके अधिकारसे च्युत करके राष्ट्रभाषाके पदपर प्रतिष्ठित करना हिन्दीका घात नहीं तो और क्या है ?" वे 'जनपद' शब्द तकसे घबराते हैं और 'एक विशाल हिन्दी जनपद' चाहते हैं और सुविधाकेलिए जो स्थानीय केन्द्र स्थापित किएजायँ उनको जनपदोंसे सम्बन्धित नहीं होनेदेना चाहते। क्योंकि 'जनपद' शब्द के साथ 'सांस्कृतिक समस्याओं और जातीय गुणों' का सम्बन्ध किया जासकता है !

भूतपूर्व शिक्षा-मन्त्री, प्रमुख राष्ट्रीय नेता और समाजवादी विचारक *सम्पूर्णानन्दजी* ने एक दूसरी ही दृष्टिसे जनपद आन्दोलनकी नयी विचार-धाराका विरोध किया है। वे राहुलजीकी नीतिको घातकके अतिरिक्त अव्यावहारिक भी मानते हैं। उन्हें "राहुलजीके विचारोंसे रत्तीभर भी सहानुभूति नहीं है।" सम्पूर्णानन्दजी राहुलजी द्वारा बतायी मध्यदेशकी २० मातृभाषाओंको 'कृत्रिम वर्गीकरण' समझते हैं। फिर उनका प्रश्न है कि "यदि इन बोलियोंमें शिक्षा दी जानेलगी तो यह अनर्थकी गाड़ी कहाँ रुकेगी ? यदि प्राथमिक शिक्षा इन तथोक्त मातृभाषाओंमें हो तो उच्च शिक्षाका क्या होगा ? मेरठके आस-पासकी बोली, जिसका नाम राहुलजीके अनुसार कौरवी है, विश्वविद्यालयके माध्यमके स्थानपर क्यों रहे ? तीस

भाषाएँ जो राहुलजीकी सूचीमें हैं, इसलिए तीस विश्वविद्यालय, तीस शिक्षा-विभाग, तीस टोली आचार्य और अध्यापक, विज्ञानादिके पाठ्य-ग्रन्थोंके तीन समुच्चय चाहिए। एक दरिद्र देशके सिरपर इस बोझको लादने का अनुष्ठान न देखिये हमें कहाँ लेजाता है? एक बार द्वार खुलजानेपर *किसकी डिक्टेटरी इस बाढ़को प्राथमिक शिक्षा तक रोक सकेगी और फिर यह सब प्रयास क्यों?* किसने कहा है कि लोग अपनी कमिश्नरियोंकी बोलियोंमें शिक्षा पानेकेलिए उतावले होरहे हैं? राहुलजीने भाषाओंको बढ़ाकर तीस करदिया। देशके एक टुकड़ेको दूसरेसे पृथक् करने, प्रादेशिक ईर्षा और अहम्मन्यताको बढ़ानेका सुन्दर उपाय उसका विभाजन है। पहले देश छोटे-छोटे राज्योंमें बँटा था जो विदेशी आक्रमणके सामने बालू की भीतके समान ढहजाते थे। अब भिन्न-भिन्न राष्ट्र बनाये जायँगे, जिनमेंसे प्रत्येकको अपनी भाषापर गर्व होगा। प्रत्येक अपनी संस्कृतिको अलग मानेगा। देशका चाहे जो हो, अराजकवादकी विजय होजायगी। मैं भारत का भला चाहता हूँ, इसलिए कृत्रिम '*मातृभाषा आन्दोलन*' को घातक समझता हूँ।" एक समाजवादी विचारककी उपर्युक्त पंक्तियोंपर केवल आश्चर्य प्रकट करना ही क्या यथेष्ट न होगा?

ब्योहार राजेन्द्रसिंहजी जो प्रान्त निर्माण और विकेन्द्रीकरणके पक्षपाती हैं, राहुलजीसे मातृभाषाओंके प्रश्न पर असहमत हैं। उनका विचार है कि खड़ी बोली केवल कुरु जनपदकी ही नहीं 'वरन् समस्त हिन्दी-भाषी जनपदोंकी मातृभाषा' है। बोलियोंको शिक्षाका माध्यम बनानेके 'विवादग्रस्त' प्रश्न पर उनका मत है कि यदि ऐसा किया गया तो आज सभी बोलियोंकी हिन्दीमें मिलनेवाली प्रवृत्ति रुकजायगी, क्योंकि 'व्याकरण और साहित्य अलग-अलग बनानेसे उनके एकरूप होनेमें व्यवधान खड़ा होजायगा, उनका अन्तर स्थायी बना दिया जाएगा।' इसके अतिरिक्त हिन्दीके सामने अङ्गरेज़ी और अन्य भाषाओंसे प्रतियोगितामें आगे बढ़नेका प्रश्न भी है, 'इस दशामें हिन्दीकी बोलियोंको उसके मुक़ाबिलेमें खड़ा करदेना ठीक नहीं।' कतिपय विरोधियोंने राहुलजी पर यह भी आरोप लगाया है कि "रूसके अन्य पौधोंकी तरह इस पौधे को *भी भारतकी मिट्टीमें उगाना* चाहते हैं।"

विरोधका दुष्परिणाम

विरोधियोंने अपने तर्क-कुतर्कोंसे लोगोंमें जनपद आन्दोलनके

सम्बन्धमें इतना भ्रम फैलाया कि साधारण कार्यकर्त्ता, इस डरसे कि कहीं निष्पक्षभावसे इस प्रश्नपर सोचकर वे अप्रत्याशित रूपसे हिन्दीका घात न कर बैठें, बहकगये और जयपुर सम्मेलनने एक प्रकारसे हरिद्वार सम्मेलन का प्रस्ताव रद करदिया। इस दिशामें उसने जो क़दम आगेकी ओर उठाया था उसे वापस करलिया और नयी नीति की घोषणा की। जयपुर सम्मेलनका प्रस्ताव है :—

"प्रान्तीय भाषाओं और बोलियोंको पृथक्-पृथक् सभ्यता और संस्कृतिका परिचायक बताकर जो संकुचित आन्दोलन कई प्रदेशोंमें किये जारहे हैं, उनको यह सम्मेलन अवाञ्छनीय समझता है। सम्मेलन की सम्मति है कि भारतकी एक ही संस्कृति है और एक ही संस्कृति तथा भाषासे प्रभावित भाषाएँ तथा बोलियाँ देशमें प्रचलित हैं। इस सम्बन्धको दृढ़ करनेकेलिये ऐसे प्रान्तीय शब्दकोशोंकी आवश्यकता है जिनमें प्रचलित और प्रयुक्त तद्भव तथा तत्सम शब्दों एवं व्युत्पत्तिके आधार पर आन्तरिक एकता स्पष्ट होजाए। यह सम्मेलन प्रान्तीय सम्मेलनोंसे अनुरोध करता है कि वे अपनी-अपनी प्रादेशिक भाषामें इस कार्यको पूर्ण करनेका प्रयत्न करें।"

हिन्दी साहित्य सम्मेलन हिन्दीके भाषाविदों, इतिहास-वेत्ताओं, वैज्ञानिकों, विचारकों और अन्य-अन्य साहित्यिक कार्यकर्त्ताओं द्वारा संचालित संस्था है। हमारे राष्ट्रीय और सांस्कृतिक जीवनमें उसका महत्वपूर्ण स्थान है। अतः यह जानकर कि इस प्रस्ताव द्वारा उसने कतिपय ऐसी स्थापनाओंको प्रामाण्य मानलिया है जो सर्वथा निराधार और भ्रामक हैं, प्रत्येक संस्कृत मनका क्षुब्ध होना अनिवार्य है। हमें ज्ञात है कि ऐसी अनैतिहासिक और अवैज्ञानिक स्थापनाएँ अन्य देशोंमें कीगयी हैं, परन्तु उन देशों और उन संस्थाओंसे जो 'असत्यको जितने बार ज़ोर-ज़ोरसे दुहराओ कुछ दिनोंमें वही सत्य बनजायगा' की नीतिका अवलम्ब लेकर साहित्य और संस्कृतिको विकलांग और विरूप करके मनुष्यके मन और विवेकको [illegible], जातीय स्पर्धा और हिंसाके साँचेमें ढालते रहे हैं, हमने और हमारी साहित्यिक संस्थाओंने कभी प्रेरणा नहीं ली। परन्तु इस बार ऐसा

ही हुआ, यह क्या सन्देह पैदा कर देनेवाली बात है ? सम्मेलनकी पहली स्थापना है कि प्रान्तीय भाषाओं और बोलियोंको पृथक्-पृथक् सभ्यता और संस्कृतिका परिचायक बनाना अवांछनीय है। जो बात हरिद्वार सम्मेलनके पहलेतक वांछनीय थी वह सहसा जयपुरमें आकर अवांछनीय होगयी, इसको क्या आकस्मिक घटना समझा जाए ? सम्मेलनकी दूसरी स्थापना है कि भारतमें केवल एक ही संस्कृति है। काश्मीरी, मद्रासी, पश्तो आदिको बोलनेवालों और तमिल तेलुगु बोलनेवाली जनताकी क्या एकही संस्कृति है ? अथवा हिंदुओंकी तुलनामें समान रूपसे सबकी होनेके कारण इन भिन्न जातियोंकी संस्कृति भी एक ही समझी जाय ? आज तक किसी विद्वान्ने इस तरहका दावा नहीं पेश किया, अधिकसे अधिक इतना ही स्वीकार किया जाता रहा है कि सदियोंके आदान-प्रदानके कारण भारतकी विभिन्न संस्कृतियोंमें बहुत-सी बातें सामान्य हैं। पर यह बात तो हम चीन, बर्मा, तिब्बत आदिसे अपने सम्बन्ध बताते समय भी कहते हैं। इसके अतिरिक्त 'भारतीय संस्कृति' एकार्थ-बोधक शब्द तो नहीं है। द्रविड़, आर्य, मुस्लिम आदि संस्कृतियोंका उसमें मिश्रण हुआ है और किसी प्रदेशमें एकका प्राधान्य है तो किसीमें दूसरेका। संस्कृति इतनी सरल संज्ञा नहीं है कि केवल पूर्वजोंके एक होनेसे ही युग-युग तक संस्कृतिभी एक ही बनी रहे। और न फिर यह सत्य है कि समस्त भारतीय जातियोंके पूर्वज एक ही जातिके हों। भाषा और भूगोलकी विभिन्नतासे संस्कृतिकी विभिन्नताभी स्थापित होती है। जो भारतीय नृशास्त्रके विद्यार्थी हैं वे जानते हैं कि भारतमें अनेक आदिम जातियाँ हैं, जिनकी सभ्यता-संस्कृतिसे हमारा कोई साम्य नहीं है। विभिन्न जातियोंके रस्मरिवाज नैतिकताके विचार आदि अपने-अपने अलग-अलग हैं। इस समय कुछ जातियाँ उन्नत और विकास-पथपर काफ़ी अग्रसर होचुकी हैं, कुछ बहुत पिछड़ी हुई हैं। मुस्लिम जातियाँ अपने को आर्य-संस्कृतिके अन्तर्गत नहीं मानतीं, यद्यपि अनुमानतः सम्मेलनकी दृष्टिमें 'भारतीय - संस्कृति' और 'आर्य संस्कृति' एकार्थक हैं। इस प्रकार सम्मेलनकी यह स्थापना अनैतिहासिक और असत्य है। ऐसी ही सम्मेलनकी तीसरी स्थापना है कि एक ही संस्कृति और एक ही भाषासे प्रभावित भाषाएँ बोलियाँ देशमें प्रचलित हैं। भाषाविज्ञानका साधारण विद्यार्थी भी जानता है कि भारतमें कमसे कम चार भाषा-कुलोंकी भाषाएँ प्रचलित हैं—आस्ट्री-एशियाई, द्राविड़ी, तिब्बती-चीनी और आर्य। ऐतिहासिक

दृष्टिसे ये भाषा - कुल सर्वथा भिन्न संस्कृतियों और जाति - समूहोंसे सम्बद्ध हैं। यह अवश्य है कि कालान्तरमें उनमें काफ़ी आदान-प्रदान हुआ है और एकने दूसरेको प्रभावित किया है। अतः एक ही संस्कृति और भाषा, जिससे तात्पर्य अनुमानतः आर्य संस्कृति और संस्कृत भाषासे है, का उल्लेख करना अज्ञानको प्रोत्साहन देना है। स्वयं संस्कृत आदि भाषा नहीं है, जैसा कि उसके नामसे ही सिद्ध है और अधिकांश वर्तमान आर्य परिवारकी भाषाएँ संस्कृतसे नहीं वरन् उन प्राकृतों और उनके अपभ्रंशोंसे विकसित हुई हैं जो उत्तर भारत और मध्यदेशके विभिन्न जदपदोंमें प्रचलित थीं। अतः इस तरहके दावे किसी साहित्यिक संस्थाकी विज्ञान और इतिहास-प्रियताकी दीनताका ही प्रदर्शन करते हैं। जनपदीय भाषाओंके आन्दोलनों की अपेक्षा ऐसी नकारात्मक प्रवृत्तियाँ ही अधिक अवांछनीय हैं। हम प्रगतिवादी अबौद्धिकताको प्रोत्साहन देना हिन्दीकेलिए घातक समझते हैं। अप्रासंगिक बातोंको बहसमें घसीटकर और ग़लत दावे पेशकर हठधर्मीसे किसी सत्यको ढकनेके हम आदी नहीं हैं। उक्त स्थापनाओंको मानकर सम्मेलन एक ही कार्य-नीति निर्धारित करसकता था—वह यह कि इतिहासकी गर्दन मरोड़कर अपनी बनायी भ्रामक स्थापनाओंके अनुकूल उसकी व्याख्या कराये। इसकेलिए सम्मेलनने प्रान्तीय सम्मेलनोंसे अनुरोध किया कि वे उक्त स्थापनाओंके आधारपर 'आन्तरिक एकता' सिद्ध करनेकेलिये 'प्रान्तीय शब्द कोष' बनायें। डॉ० अग्रवालके जनपद-कार्यक्रमका उद्देश्य जनपदोंसे सामग्री संग्रह करके हिन्दीका भंडार भरना था— इसका हमने समर्थन किया है, क्योंकि इससे एक ओर यदि हिन्दी समृद्ध होगी तो दूसरी ओर जनपदीय चेतनाकोभी प्रोत्साहन मिलेगा और सम्भव है कि हमारी खोजसे पिछड़ी हुई भाषाएँ भी अपने वाङ्मयको समृद्ध बनानेमें सहायता लेसकेंगी। पर इस प्रस्तावके अनुसार सम्मेलनके सामने तो हिन्दीका भण्डार भरनेका उद्देश्य भी नहीं रहा—जन - शिक्षाकी समस्याको हल करनेका उद्देश्य तो बहुत दूरकी बात हुई—उसके सम्मुख तो केवल एक ही प्रश्न रहगया कि किस प्रकार 'आन्तरिक एकता' स्पष्ट करदीजाय ताकि मातृ-भाषाओंके आन्दोलनकी अवांछनीयता सिद्ध होजाय। इससे सम्मेलन भ्रम फैलाने और एक जटिल प्रश्नमें और भी जटिल गुत्थियाँ डालनेके अतिरिक्त, वास्तवमें राष्ट्रीय आन्दोलनमें उत्पन्न जनपद - चेतनाको निर्मूल

करके इतिहास-चक्रको पीछे घुमानेमें सफल होसकेगा, यह संदिग्ध है। वास्तवमें सम्मेलनका प्रस्ताव एक राजनीतिक प्रस्ताव है। राजनीतिमें जो 'अखंड हिन्दुस्तान' के नामसे पुकाराजाता है, साहित्यमें इसने 'अखंड भाषा' का रूप धारण किया है। इस प्रस्तावने पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, डॉ० अग्रवाल और राहुलजी-तीनोंकी विचारधाराओंको अस्वीकृत कर दिया है। इसके उपरान्त जनपद-समितिकी कोई उपयोगिता ही नहीं रह जाती और कदाचित उसके सुयोग्य संयोजक समितिके विघटनको स्वतः सिद्ध मानकर निश्चिन्तताकी श्वास लेरहे होंगे।

विरोधियोंके तर्कोंकी अतार्किकता

जनपद आन्दोलनके विरोधियोंके जिन तर्कोंने सम्मेलनको ऐसी भ्रामक स्थापनाएँ करनेकेलिये विवश करदिया उनको क्रमबद्ध करके जाँचनेकी आवश्यकता है। इन तर्कोंको हम आठ वर्गोंमें बाँटसकते हैं:—

१ मातृभाषाओंको प्रोत्साहन देनेसे हिन्दीके घरमें विग्रह पैदा होगा—जनपदोंमें अपनी भाषा और संस्कृति अर्थात् जातीयताका अभिमान पैदा होगा—हिन्दीकेलिये यह अनिष्टकारी होगा। एकताके सूत्र टूट जाएँगे, राष्ट्र टुकड़ों-टुकड़ोंमें बँटजायेगा। पर भारतीय संस्कृति अखंड और अविभाज्य है।

हिन्दीके घरमें विग्रह पैदाहोनेका भय निराधार है। प्रारम्भमें अंग्रेज़ी के विरुद्ध अपने-अपने क्षेत्रोंमें भारतकी प्रमुख भाषाओं—हिन्दी, उर्दू, बँगला, मराठी, गुजराती, तमिल, तेलुगु, मलयालम, कनारी आदिने आत्मनिर्णयके अधिकार की न्यायसंगत माँगको उठाकर संघर्ष किया। देशके विभिन्न क्षेत्रोंसे उठनेवाले इस आन्दोलनने नये सांस्कृतिक और राष्ट्रीय जागरणमें भरपूर योगदिया और जातीय स्वाभिमानको जगाया। इससे हमारे देशको क्षति नहीं पहुँची, बल्कि हमारे स्वाधीनता संग्राममें विभिन्न जन-स्रोत आकर मिले और उन्होंने हमारे साम्राज्यविरोधी संघर्ष को सशक्त बनाया। उस समय किसीने यह नहीं कहा कि देशमें केवल एक ही संस्कृति और एक जाति है, केवल एक भाषाको ही सारे देशकी भाषा होना चाहिए और उसीके गढ़नेमें सभीको योगदेना चाहिए, और

अंग्रेज़ीके विरुद्ध उसी भाषाको जितानेका प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा किसीने नहीं कहा, यद्यपि अंग्रेज़ीके विरुद्ध सम्मिलित संघर्ष करनेके कारण हमारा राष्ट्रीय नारा यही था कि हम एक राष्ट्र हैं, हम और कुछ नहीं केवल भारतीय या हिन्दोस्तानी हैं। उस समय अंग्रेज़ प्रभुओंका प्रधान तर्क था कि 'भारत एक राष्ट्र नहीं है उसे हम स्वराज्य कैसे देसकते हैं।' विभिन्न भाषाओंमें अंग्रेज़ीके विरुद्ध जो आन्दोलन चलते रहे, हम सदा उनकी विजयकी कामना करते आये। अपने राष्ट्रीय उत्थानकेलिये जातीय स्वाभिमानका जागृत होना हम वांछनीय समझते थे। राष्ट्रीय नेताओंने सदैव जातीय जागरणका स्वागत किया क्योंकि वे अनुभव करते थे कि जबतक देशके कोने - कोनेमें राष्ट्रीय जाग्रति न फैलेगी तबतक अंग्रेज़ी शासनके विरुद्ध कोई देशव्यापी आन्दोलन करना असंभव होगा। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुरने 'जनगन मङ्गलदायक जय हे, भारत भाग्यविधाता राष्ट्रगीतमें 'पंजाब, सिंध, गुजरात, मराठा, द्राविड़, उत्कल, बंग' देशोंकी जातियोंके गौरवमय योगदानकी पुनीत कल्पनाकी। निश्चय ही उस समय हमारे सामने आजकेसे जटिल प्रश्न नहीं उठे थे। आज़ाद भारतकी व्यवस्था कैसी होगी, जनतन्त्रके सिद्धान्तोंका प्रयोग किस प्रकार किया जाएगा, विभिन्न जातियोंके क्या अधिकार होंगे, उनके परस्पर सम्बन्ध किस आधारपर स्थिर किये जाएँगे—ये ऐसे प्रश्न थे जिनपर उस समय बहुत कम सोचाजाता था। केवल व्यापक राष्ट्रीय चेतना फैलानेका ही प्रश्न सर्वोपरि था। कतिपय ऐतिहासिक कारणोंसे मध्यदेशमें हिन्दी (साहित्यिक खड़ीबोली) और उर्दू आधुनिक साहित्यका माध्यम बननेमें समर्थ हुई, और इस विशाल प्रदेशकी अन्य भाषाएँ जैसे राजस्थानी, भोजपुरी, मैथिली आदि-अपना विकास न करसकीं। परन्तु उत्तरोत्तर बढ़ती हुई राष्ट्रीय जाग्रतिने इन प्रदेशोंमें भी चेतनाकी लहर दौड़ादी और मध्य देशके जनपदभी अब अपनी सांस्कृतिक एकताका अनुभव करनेलगे हैं। वेभी अपनी राष्ट्रीय भाषाओंको समुन्नत और समृद्ध बनाना चाहते हैं, उन्हें वे अपनी सांस्कृतिक और साहित्यिक अभिव्यक्तिका माध्यम बनाना चाहते हैं। यदि राष्ट्रीय भाषाके प्रश्नको एक क्षणकेलिये अलग करके देखें तो जनपदोंकी यह माँगभी अंग्रेज़ीके विरुद्ध है, यह हमें स्वीकार करना पड़ेगा। यदि ये जनपद अपने आत्म-निर्णयकी माँगको लेकर अंग्रेज़ीके विरुद्ध अखाड़ेमें कुछ देरसे उतरे हैं तो

इससे उनकी स्वाधीनताकी माँग अवांछनीय तो नहीं कही जासकती। मध्य भारतमें अनेक ऐसे जनपद हैं जोकि आजभी राष्ट्रीय चेतना और सभ्यता की दृष्टिसे पिछड़े हुए हैं और वे अभीतक अखाड़ेमें नहीं उतरे। जाग्रत होनेपर वेभी अपनी एकता महसूस करेंगे और अपनी भाषाका स्वतन्त्र अस्तित्व मनवानेकेलिए माँग करेंगे। मध्य भारतमें ही नहीं आगेचलकर देशके अनेक विस्मृत जनपद-क्षेत्रोंसेभी यह माँग उठेगी। जिस तरह हमने अपेक्षाकृत उन्नत प्रान्तिक भाषाओंकी इस माँगका स्वागत किया था, उसी प्रकार पिछड़ी भाषाओंके आन्दोलनका भी हमें स्वागत करना चाहिए। ये आन्दोलन इस बातके द्योतक हैं कि हमारे देशके पिछड़े जनपदभी अब सचेत होकर उन्नत और सबल जनपदोंकी श्रेणीमें आकर बैठना चाहते हैं और इसकेलिए वे अपने पिछड़ेपनको त्यागकर अपनी उन्नतिमें संलग्न होना चाहते है। उनकी इस आकांक्षाको किस जनवादी सिद्धान्तके आधारपर हम दबानेकी कल्पना करसकते हैं? जिस आत्मनिर्णयके अधिकारके-लिये हमारे देशकी प्रमुख भाषाओंने, और विशेषकर हिन्दीने, अंग्रेज़ीसे संघर्ष किया है, उसी आत्मनिर्णयके अधिकारकेलिये यदि छोटी भाषाएँ भी अंग्रेज़ीसे संघर्ष करना चाहती हैं तो हिन्दी उनके मार्गमें अवरोध बनकर क्यों खड़ी हो? जनपद आन्दोलन हिन्दीके विरुद्ध नहीं बल्कि अंग्रेज़ीके विरुद्ध है। जनपदीय क्षेत्रोमें भी अंग्रेज़ी उच्च शिक्षाका माध्यम बनीहुई है। अतः हिन्दीको तो इस आन्दोलनका औरभी स्वागत करना चाहिए क्योंकि इससे अंग्रेज़ीको अपदस्थ करनेमें उसे जनपदोंका भी सक्रिय सहयोग मिलसकेगा।

साम्राज्यवादने अपनी सुविधाकेलिये हमारे देशकी विभिन्न जातियों को एक शासनके अन्तर्गत बाँधरखा है। जो हमें एकताका सूत्र दिखाई देता है वह वास्तवमें एक कारागारकी चहारदीवारीमें बन्द क़ैदियोंकी विवशता है। इस भ्रान्तिपूर्ण एकताका आधार क्या है? साम्राज्यवादी ग़ुलामी, दमन और निरंकुशता! स्वतन्त्र होकर यदि हमें अपने परिवारकी एकता, अखंडता अथवा अविभाज्यता क़ायम रखनी है तो परिवारके सभी सदस्योंके परस्पर-सम्बन्ध किसी दूसरे ही आधारपर स्थापित करने पड़ेंगे। ग़ुलामी, दमन और निरंकुशता तो साम्राज्यवादी अस्त्र हैं। स्वतन्त्र भारतमें उनके प्रयोगका कोई औचित्य नहीं होसकता। उस समय हम यह नहीं कहसकते कि हिन्दी बड़ी बहन है तो वह अपनी छोटी बहनोंके व्यक्तित्वको पनपने

नहीं देगी। बल्कि उसका तो हित इसीमें होगा कि उसकी छोटी बहनेंभी पूर्ण यौवना हों और वे बराबरीके साथ हिन्दीसे सहयोग करसकें। स्वतन्त्र जनवादी भारतमें समान अधिकार प्राप्त जातियाँ जब अपनी स्वतन्त्रताको सुरक्षित रखनेकेलिये एक दूसरेसे सहयोग करेंगी और एक संघ - शासनके अन्तर्गत रहना स्वीकार करेंगी तभी भारतकी अखंडता और अविभाज्यता क़ायम रखी जासकेगी। इसकेलिये हम अभीसे अपनी संकुचित मनोवृत्ति के कारण छोटी जातियोंके विरुद्ध खड़ेहोकर वातावरणको दूषित न करें; अन्यथा स्वतन्त्रताका कोई अर्थ न होगा और हमारे यह तथाकथित अखंड-तावादी मृगमरीचिकाके पीछे ही आजीवन दौड़ते रहेंगे और अपने भाग्य को और दूसरोंके कर्मोंको कोसते रहेंगे। जनपद आन्दोलनके समर्थक विग्रह का बीज नहीं बोरहे, बल्कि उसके विरोधी अनावश्यक ही विग्रहकी दुन्दुभी बजारहे हैं।

भारत एक बहुजातीक देश है, उसीके अनुसार उसमें अनेक भाषायेंभी हैं। मातृभाषाओंके स्वतन्त्र विकासके विरोधी जितने शीघ्र इस तथ्यको हृदयंगम करलें उतना ही देशकेलिए हितकर होगा। बहुत कुछ व्यर्थका वितण्डावाद समाप्त होजाएगा।

२ मातृभाषाओंको प्रोत्साहन देनेका परिणाम होगा कि हिन्दी राष्ट्रभाषा नहीं बनसकेगी। मातृभाषाओंको स्वतन्त्र भाषाएँ मान लेनेसे कुरु जनपदके तीस लाख बोलनेवालोंकी भाषा खड़ीबोलीकी स्थिति कितनी नगण्य होजायगी, यह अनुमेय है। हिन्दीका जनसंख्या बल नष्ट-होजाएगा और बँगला अथवा सरकारी पक्षपातके कारण उर्दू ही राष्ट्रभाषाके पदपर अधिकार जमालेगी।

हिन्दी (साहित्यिक खड़ीबोली) के राष्ट्रभाषा मानने और मनवाने का प्रश्न नहीं है। वह आजभी राष्ट्रभाषा है। अन्तर प्रान्तीय व्यवहारमें अंग्रेज़ीके अतिरिक्त हिन्दी (अथवा उर्दू) का ही सर्वत्र प्रयोग होता है। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जीने (Lauguages and the Linguistic Problems) में लिखा है कि हिन्दी वस्तुतः राष्ट्रभाषा बनगयी है। राष्ट्र भाषा कितने लोगोंकी मातृभाषा है अथवा उसमें कितना साहित्य है, इसका ब्योरा लेने देनेकी भी आवश्यकता नहीं है। केवल इतना जानलेना ही

यथेष्ट है कि विशेष ऐतिहासिक कारणोंसे, जो हिन्दीके पक्षमें रहे हैं और हैं, हिन्दी बिना सरकारी स्वीकृतिके भी राष्ट्रभाषाके रूपमें प्रसार पातीगयी है और आज हिन्दुस्तानके एक कोनेसे दूसरे कोने तक हिन्दी (अथवा उर्दू) का प्रयोग अन्तर प्रान्तीय आदान प्रदानमें होता है। स्वयं डॉक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी बँगलाको राष्ट्रभाषा बनानेका विचार असंगत समझते हैं, क्योंकि बँगलामें अन्तर-प्रान्तीय व्यवहार सम्भव नहीं है। सीमाप्रान्त का एक व्यक्ति उर्दूमें लखनऊके व्यक्तिसे बातें करसकता है लेकिन बंगला में ढाकाके मुसलमानसे बातें नहीं करसकता, अथवा गुजराती कलकत्तेके बंगालीसे हिन्दीमें बातें करसकता है, परन्तु बँगलामें नहीं। यहाँ तक कि द्राविड़ी भाषा-परिवारकी दक्खिन भारतीय जातियाँ भी हिन्दीके माध्यमसे ही उत्तर भारतके लोगोंसे विचार-विनिमय करसकती हैं, बँगलाके माध्यमसे नहीं। राष्ट्रीय कांग्रेस और मुस्लिम लीग आदि अखिलभारतीय राष्ट्रीय संस्थाएँ भी खड़ीबोली (हिन्दी अथवा उर्दू) कोही राष्ट्रभाषाके रूपमें स्वीकार करती हैं। अतः बँगला कभी राष्ट्रभाषा बननेका दावा पेशकरेगी, इसकी संभावना नहीं है। जहाँ तक उर्दूका प्रश्न है, वह एक अलग बात है और उसपर तभी विचार किया जासकता है जब हम पहले इतना मान लें कि जनसंख्या-बलसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि राष्ट्रभाषाका पद पानेमें हिन्दी (संस्कृत प्रधान खड़ीबोली) को किसी भाषासे प्रतियोगिता करनी पड़ेगी या पड़रही है तो वह उर्दू (फारसी प्रधान खड़ीबोली) से। इतना तो निश्चित है कि खड़ीबोली ही अन्तर प्रान्तीय व्यवहारकी भाषा बनेगी, चाहे वह कुरु जनपदकी ३० लाख जनताकी ही मातृभाषा क्यों न हो। खड़ीबोलीकी कौनसी शैली संस्कृत प्रधान हिन्दी अथवा फ़ारसी प्रधान उर्दू अथवा उनका कोई मम्मिलित रूप हिन्दुस्तानी अथवा अलग-अलग दोनों—समूचे भारतकी या दो भिन्न-भिन्न भूभागोंकी राष्ट्रभाषाएँ बनेंगी, इसका निर्णय करनेकेलिए एक दूसरेकी जनसंख्या बलका थप्पड़ मारनेकी ज़रूरत नहीं पड़ेगी। राष्ट्रभाषाका प्रश्न कैसे और किस रूपमें हल होगा, इस विषयपर यहाँ विचार करना विषयान्तर होगा। संक्षेपमें इतना अवश्य कहा जासकता है कि यह प्रश्न उतना जटिल नहीं है जितना कि 'राष्ट्र-भाषा हिन्दी है' अथवा 'क़ौमी ज़बान उर्दू है' का गला फाड़कर नारा लगानेवालोंको अपनी उत्तेजनामें लगता है। समूचे भारतकी एक मात्र

राष्ट्रभाषा बननेकी क्षमता इन दोनों शैलियोंमेंसे किसी एकमें नहीं है। अनुमानतः हमें दोनोंको दो भिन्न भूभागोंमें अलग-अलग राष्ट्रभाषाके रूपमें स्वीकार करना होगा। मध्य पूर्व और दक्षिण भारतकी संस्कृत-प्रधान तथा द्राविड़ी भाषाओंके बोलनेवालोंकेलिए फ़ारसी-अरबी प्रधान उर्दू अनुपयुक्त है, अतः इस बड़े भूभागकी राष्ट्रभाषा हिन्दी ही होसकती है। उत्तर पश्चिम भारतकी फ़ारसी-प्रधान भाषाओंको बोलनेवाली मुस्लिम जातियाँ हिन्दी (संस्कृत प्रधान) को राष्ट्रभाषा कदापि नहीं स्वीकार कर सकतीं। अतः उर्दू ही उस भूभागकी राष्ट्रभाषा बनसकती है। इसपरभी दोनों भागोंके अल्पसंख्यक हिन्दू अथवा मुस्लिम बाशिन्दोंकेलिये हिन्दी अथवा उर्दूको राजकीय व्यवहारमें प्रयोग करनेकी सुविधा प्रदान करनी पड़ेगी। मध्यदेशमें मुसलमानोंपर हिन्दी और पश्चिमोत्तर भारतमें हिन्दुओं पर उर्दू लादनेसे काम न चलेगा। इस प्रकारका अनुमान किसी विशेष राजनीतिक व्यवस्था पर आधारित नहीं है, अर्थात् राहुलजीकी तरह हम इस तरहका कोई निश्चित मत नहीं प्रकट करते हैं कि भारतका विभाजन हिन्दुस्तान और पाकिस्तानके आधार पर होगा ही। यदि ऐसा विभाजन हुआ, तब तो यह स्वतः सिद्ध है कि हिन्दी हिंदुस्तानकी और उर्दू पाकिस्तानकी राष्ट्रभाषा होगी। परन्तु यदि ऐसा न हुआ तो भी राष्ट्रभाषाका प्रश्न इसी आधार पर हल किया जासकेगा। सङ्घमें सम्मिलित उत्तर भारतके मुस्लिम-प्रधान-राष्ट्र अपने यहाँ उर्दूको ही राष्ट्रभाषाके रूपमें स्वीकार कराने पर ज़ोर देंगे और वह सङ्घको मानना होगा, और यह कोई अनहोनी बात न होगी। स्वयं डॉक्टर सुनीतिकुमार चटर्जीने इस बातका उल्लेख किया है कि अनेक राष्ट्रोंमें दो-दो राष्ट्रभाषाएँ राजकीय प्रयोगमें आती हैं। भारतमें भी कुछ ऐसा ही समाधान अनिवार्यतः करना पड़ेगा और यही न्याय-सङ्गत होगा। परन्तु फिर भी यदि राष्ट्रभाषा-प्रेमी जन-संख्या बलके बिना किसी समाधानकी कल्पना करनेमें असमर्थ हैं तो उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि मातृभाषाओंके स्वाभाविक-विकासको रोककर ज़बर्दस्ती जन-संख्या बल बढ़ानेकी नीतिके स्थान पर यदि वे प्रेम और सद्भावनासे हिन्दीका जन-संख्या बल बनाये रखनेकी चेष्टा करेंगे तो उन्हें अधिक सफलता मिलेगी। मध्यदेशकी जनपदीय भाषाएँ हिन्दीकी बहनें हैं, उनकी आकांक्षाओंके प्रति सहानुभूति रखनेसे उसे उनका समर्थन अवश्य मिलेगा।

जनपदीय भाषाओंके पुनर्जागरणमें हिन्दी आन्दोलनने मार्ग प्रदर्शन किया है जिससे उसके प्रति सभीकी ममता है, वह जनपदीय भाषाओंकी जाग्रति का प्रतीक है। इस समय जिन मातृभाषाओंमें जनपद आन्दोलन चलरहा है उन्होंने निरन्तर इस बात पर ज़ोर दिया है कि हिन्दी उनकी राष्ट्रभाषा है। अतः हिन्दीका जन-संख्या बल कम होजानेका भय निराधार है।

३. हिन्दी राष्ट्र-भाषा ही नहीं २० करोड़ जनताकी मातृभाषा भी है और सारी जनपदीय बोलियाँ हिन्दीकी बोलियाँ हैं।

इस तर्कके उत्तरमें भाषा शास्त्रियोंकी सम्मतिका उल्लेख करना ही पर्याप्त होगा। राष्ट्र-भाषाके रूपमें खड़ी बोली (हिन्दी और उर्दू) को व्यवहार में लाने वालोंकी संख्या डॉक्टर सुनीतिकुमार चटर्जीके अनुसार लगभग २५ करोड़ ७० लाख है। इसमेंसे यदि उर्दूको राष्ट्र-भाषा माननेवालोंकी संख्याको घटादें तो भी हिन्दी २० करोड़ अथवा उससे कुछ अधिक लोगों की राष्ट्रभाषा अवश्य है। परन्तु जिन लोगोंकी खड़ी बोली (हिन्दी और उर्दू) मातृभाषा है उनकी संख्या ग्रियर्सनके अनुसार ६५ लाख है। और डॉक्टर धीरेन्द्रवर्माके अनुसार ५३ लाख है। ५३ या ६५ लाखकी मातृभाषा किस प्रकार २० करोड़की मातृभाषा होगयी — इसे तिलस्मी चमत्कार ही कहना चाहिये! डॉक्टर धीरेन्द्र वर्माके अनुसार रामपुर रियासत, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुज़फ़्फ़रनगर, सहारनपुर, देहरादूनके मैदानी भाग अम्बाला तथा कलसिया और पटियाला रियासत के पूर्वी भागके गाँवोंमें खड़ी बोली मातृभाषाके रूपमें बोली जाती है। चूँकि कतिपय ऐतिहासिक कारणोंसे समस्त मध्यदेशमें साहित्यिक खड़ी बोली (हिन्दी-उर्दू) शिक्षा और साहित्यका माध्यम बनीहुई है, इससे हमारे व्याकुल हिन्दी सेवियोंको, जो अधिकतर अपने घरोंमें राजस्थानी, कोसली, भोजपुरी, मैथिली आदि अपनी विशेष मातृभाषाका ही प्रयोग करते हैं, यह भ्रम होगया है कि उच्च हिन्दी ही उनकी मातृभाषा भी है। कुछ लोग भाषा-शास्त्रको तिरस्कृत करके अब ऐसा आग्रह भी करनेलगे हैं कि सारी जनपदीय बोलियाँ हिन्दी (खड़ी बोली) की ही बोलियाँ हैं! भाषा विज्ञानका साधारण विद्यार्थी भी जानता है कि वर्त्तमान आर्य-भाषाओंकी उत्पत्ति मध्य-देशके विभिन्न भागोंमें प्रचलित प्राकृतों और उनके अपभ्रंशों से हुई है। डॉक्टर धीरेन्द्र वर्माके अनुसार "शौरसेनी अपभ्रंशसे हिन्दी,

राजस्थानी, पञ्जाबी, गुजराती पहाड़ी आदि भाषाओंका सम्बन्ध है।...... बिहारी, बँगला, आसामी और उड़ियाका सम्बन्ध मागधी अपभ्रंशसे है। पूर्वी हिन्दीका अर्धमागधी अपभ्रंशसे तथा मराठीका महाराष्ट्री अपभ्रंशसे सम्बन्ध है।......पञ्जाबीका सम्बन्ध भी केकय अपभ्रंशसे करना चाहिये। पहाड़ी भाषाओंके लिये खस अपभ्रंशकी कल्पनाकी गयी है। किन्तु बादको ये राजस्थानीसे बहुत प्रभावित होगयी थीं।" इससे स्पष्ट है कि इन अपभ्रंशों के परिवारकी अनेक भाषाओंमेंसे हिन्दी (खड़ी बोली) केवल एक भाषा है, वह स्वयं किसी भाषाकी अथवा बोलीकी जननी नहीं है। खड़ी बोली की साहित्यिक शैली गत सौ वर्षोंमें ही विकसित हुई है। उसके पूर्व मध्यदेश की साहित्यिक भाषाके स्थानपर राजस्थानी और ब्रजसदियों तक विराजमान रहचुकी हैं। खड़ी बोलीका यह आकस्मिक उत्थान उसकी अपनी विशेष प्रतिभाके कारण नहीं हुआ है, बल्कि अन्य राजनीतिक-ऐतिहासिक कारणों से। चन्द, कबीर, तुलसी, सूर, मीरा, भूषण, मतिराम, बिहारी, देव आदि इनमेंसे कोई भी वर्त्तमान साहित्यिक-हिन्दीके कवि नहीं थे। वे अपनी इन जनपदीय भाषाओंके ही कवि थे। अतएव विरोधियोंको मिथ्या स्थापनाओं की शरण नहीं लेनी चाहिये। सुनीतिकुमार चटर्जीका और डाक्टर धीरेन्द्र-वर्माका मत है कि भाषा शास्त्रकी दृष्टिसे *हिन्दीका अर्थ है साहित्यिक खड़ी बोली*। डॉक्टर चटर्जीके अनुसार 'भोजपुरी, मैथिली, राजस्थानी, कोसली, पञ्जाबी और हिन्दकी' तो निश्चित रूपेण 'व्याकरणकी दृष्टिसे न्यारी या प्रथक्-भाषा पदवाच्य हैं।' बुन्देली, ब्रज और कनौजीके विषयमें उनका सन्देह है और उन्हें वे हिन्दी (खड़ी बोली) का ही बदलाहुआ रूप समझते हैं। 'काशिका, मल्लिका, वज्जिका' आदिको वे भोजपुरीकी ही बोलियाँ मानते हैं। इस प्रकार वे राहुलजीके तीस जनपदोंकी तीस भाषाओंको संख्यामें कुछ घटा देते हैं, परन्तु हिन्दीके 'निखिल उत्तर भारतकी मातृभाषा' होनेको वे स्वीकार नहीं करते। राहुलजीकी गिनायी संख्याको 'अन्तिम निर्णय' के रूपमें नहीं लेना चाहिये। इसका निर्णय तो कोई एक विद्वान नहीं करसकता। इस प्रसङ्गमें केवल इस तथ्यको स्वीकार करनेकी आवश्यकता है कि हिन्दी-क्षेत्रमें खड़ी-बोलीके अतिरिक्त अन्य भाषाएँ भी हैं जिनका पृथक् अस्तित्व है।

४. मातृ-भाषाओंको शिक्षाका माध्यम बनाया गया तो उनके

व्याकरण बनजायेंगे। उनमें नया साहित्य उत्पन्न होने लगेगा और इस प्रकार हिन्दी और जनपदीय भाषाओंके एकरूप होनेमें नया व्यवधान खड़ा होजाएगा और उनका अन्तर स्थायी बनजाएगा।

जिस समय संस्कृत मध्यदेशकी साहित्यिक भाषा थी और प्राकृतों अथवा उनके विभिन्न अपभ्रंशोंमें न शिक्षा दीजाती थी, न साहित्यको प्रोत्साहन दिया जाता था, उस समय भी जनताने अपनी बोलीको नहीं त्यागा, बल्कि स्वयं संस्कृत ही कालान्तरमें एक निर्जीव भाषा बनगयी। रूसी साम्राज्यवादने भी रूसकी विभिन्न जातियोंकी भाषाओंको दबाकर रूसी भाषाका ही सर्वत्र प्रयोग कराया, परन्तु उसका जो परिणाम निकला, वह सर्वविदित है। कृत्रिम उपायोंसे भाषाओंका विकास या स्वरूप-परिवर्तन नहीं होपाता। और फिर जनपदोंकी जनता अपनी भाषाओंकी उपेक्षा कब तक सहन करेगी? मध्यदेशकी भाषाओंमें जो अन्तर है वह भाषाओंके ऐतिहासिक विकासका परिणाम है। प्रतिबन्ध लगाकर इस अन्तरको मिटा देना असम्भव है। इस तरहका तर्क अत्यन्त परिमित इतिहासका परिचय देता है; किसी भी उपायसे सभी जनपदीय भाषाएँ कभी एकरूप होजाएँगी, इसे मूढ़ कल्पना ही कहा जासकता है।

५. मातृ-भाषाओंको शिक्षाका माध्यम बनानेका प्रस्ताव अव्यावहारिक है। तीस विश्वविद्यालय स्थापित करके तीस भाषाओंमें ज्ञानको प्रकाशित करनेका विचार दुराशामात्र है। निर्धन भारत इतना बड़ा बोझ सँभालनेमें असमर्थ है।

भूतपूर्व शिक्षा-मन्त्री और समाजवादी विचारक सम्पूर्णानन्दजीने मातृभाषाओंके दावेको खारिज करनेकेलिये व्यावहारिकताकी कसौटी पेश की है! कदाचित् हमारा निर्धन भारत, जिसमें आज व्यक्तिकी औसत आय दो आने प्रतिदिनसे अधिक नहीं है, मध्य-देशके आठ विश्व-विद्यालयोंका बोझ भी उठानेमें असमर्थ है। शिक्षाका विलास उसके लिये असहनीय और एक क्रूर व्यङ्ग है। शिक्षा-मन्त्री पदसे सम्पूर्णानन्दजीको तो कमसे कम संयुक्त-प्रान्तमें पाँच विश्वविद्यालयों और दर्जनों कॉलेजों आदिको बन्द करादेना चाहिये था। पाँच विश्व-विद्यालयों और सैकड़ों स्कूल-कॉलेजोंके लिये शिक्षा-विभाग, अध्यापकों, और पाठ्य-ग्रन्थोंके समुच्चयों आदिपर जो लाखों रुपया खर्च होरहा है, कम-सेकम सम्पूर्णानन्दजी अपने प्रान्तकी

जनताके सिरपरसे इस बोझको उतारनेमें तो सहायक हो ही सकते थे। निर्धन भारत पहले अपना पेट भरले, शिक्षाके सपने उसे कदापि नहीं देखने चाहिये! यदि हमारी स्मरण-शक्ति दुरुस्त है तो हमें याद है कि राष्ट्रीय कांग्रेसने, जिसके सम्पूर्णानन्दजी प्रमुख सदस्य हैं, सदैव ब्रिटिश सरकारकी शिक्षा सम्बन्धी नीतिकी निन्दाकी है कि अपने डेढ़ सौ वर्षके शासन-कालमें वह देशकी आठ प्रतिशत जनताको ही केवल साक्षर बना पायी है, इसमें शिक्षितों और विशेषकर उच्च शिक्षा प्राप्त लोगोंकी संख्या तो और भी नगण्य है। और जब सरकार देशकी निर्धनता और बजटमें रुपयोंकी कमीका बहाना पेश करती है तब राष्ट्रीय कांग्रेस और देशके सभी विचारक अपने कर्त्तव्यका ध्यान दिलाकर सरकारको निरुत्तर करनेकी कोशिश करते हैं। देश निर्धन हो अथवा सम्पन्न, सरकारका तो कर्त्तव्य है कि वह सार्वजनिक शिक्षाका आयोजन करे और यदि वह रक्षा-विभाग पर राष्ट्रीय आयका आधेके लगभग रुपया अनावश्यक ही खर्च कर देती है तो इस अपव्ययको रोककर शिक्षा-विभागपर और क्यों नहीं खर्च करसकती! और फिर भारत निर्धन है तो इसमें दोषका किसका है? राष्ट्रीय काँग्रेस जन-हितकी भावनासे प्रेरित होकर सदैव अनिवार्य शिक्षाकी माँग करती आयी है और उसके सन् १९३७ ई० के चुनाव घोषणा-पत्रसेभी विदित है कि उसकी दृष्टिमें प्रत्येक मनुष्यको अनिवार्य शिक्षा पानेका अधिकार है। सरकारको इसके लिये सुविधाएँ जुटानी ही पड़ेंगी। काँग्रेसका इसीलिए यह आदर्श है कि भारतके ४० करोड़ जन, सबके सब, केवल साक्षर ही नहीं, शिक्षित भी हों। काँग्रेस-जनोंने इसके लिए रूसका उदाहरण बारबार दुहराया है कि यदि सोवियट रूस पचीस वर्षोंमें अपनी जनताको ९९ फ़ीसदीसे ज्यादा शिक्षित बनासकता है, जबकि क्रांतिके पूर्व १३ फ़ीसदी ही साक्षर थे, तो भारतके ४० करोड़-जनोंको भी हम स्वतन्त्र भारतमें कम-से-कम अवधिके अन्दर ही शिक्षित क्यों नहीं बनासकते? बिना सार्वजनीन शिक्षाके हमारा देश उन्नति कैसे करसकता है? काँग्रेसका आदर्श वर्तमान स्कूल-कॉलेजों से ही तो नहीं पूरा होसकता। हर स्कूलवयके व्यक्तिकेलिये यदि शिक्षा अनिवार्य करदी जायगी तो निश्चय ही हमारे विद्यार्थियोंकी संख्या आजकी अपेक्षा दस-बीस गुनी ज्यादा बढ़ जायगी। इसके लिये आजकी संख्यासे दस-बीस गुने स्कूल-कॉलेज और विश्वविद्यालय भी आवश्यक

होजायँगे। ये स्कूल-कॉलेज एक भाषाके हों अथवा अनेक, इससे विशेष फ़रक़ नहीं पड़ेगा क्योंकि शिक्षाका व्यय तो अपने अनुपातमें ही बढ़ जाएगा और निर्धन भारतके सिरपर इस दुष्पापका बोझ बीस गुना ज़्यादा होजाएगा। जिस असहानुभूतिके साथ सम्पूर्णानन्दजीने खर्चका बहीखाता खोलकर सार्वजनिक शिक्षाके आदर्शको त्याज्य और घातक घोषितकर करदिया—राहुल जीकी विचारधाराके मूलमें सार्वजनिक शिक्षाका उद्देश्य ही सर्वत्र व्याप्त है—उससे तो ऐसा ही अनुमान होता है कि राष्ट्रीय कांग्रेसका अनिवार्य शिक्षाका आदर्श कोरा नारा है, वस्तुतः उद्देश्य कुछ दूसरा है। परन्तु हमारा विश्वास है कि बात ऐसी नहीं है। कांग्रेस अपनी घोषणाओंमें बारबार स्पष्ट करचुकी है कि स्वतन्त्र भारतमें प्रत्येक अल्प-संख्यक जाति या भाषा-क्षेत्रकी संस्कृति, भाषा और लिपिकी सुरक्षाका प्रबन्ध किया जायगा। यदि सम्पूर्णानन्दजीको कांग्रेसकी नीतिका सच्चा प्रतिनिधि मानलें तो फिर व्यावहारिक और आर्थिक कठिनाइयोंके बहाने उन्हें राष्ट्र-संघकी ओरसे जैसी सुरक्षा मिलेगी उससे उन्हें रसातलमें ही कहीं अपने लिये जगह खोजनी पड़जायगी। या सम्पूर्णानन्दजीके अनुसार स्वायत्त शासन और सांस्कृतिक स्वाधीनताके सिद्धान्त मध्य-देशके जनपदों, संस्कृतियों और भाषाओंपर लागू न होकर भारतके अन्य भागों पर लागू होंगे ? पर कांग्रेसकी घोषणाओं में ऐसी कोई शर्त नहीं रखी गयी है। फिर भी जनपद आन्दोलनका विरोध करते समय सम्पूर्णानन्दजी देशके भलेकी बात करते हैं, आश्चर्य इसी बात पर होता है। उनसे यह आशाकी जाती थी कि भूतपूर्व शिक्षा-मन्त्री होनेके नाते उन्होंने संसारकी विभिन्न शिक्षा पद्धतियोंका सम्यक् अध्ययन किया होगा और कदाचित इतिहासकी साक्षी पाकर वे कम-से-कम सिद्धान्ततः इतना तो मानने लगे होंगे कि मातृभाषाओंके द्वारा ही सार्वजनिक शिक्षा सम्भव है तथा एक विद्यार्थीकी स्वाभाविक प्रतिभाका पूर्ण विकास भी मातृभाषाओंके द्वारा ही अधिक सम्भव है। इस सिद्धान्तको मानकर यदि वे व्यावहारिक कठिनाइयोंका प्रश्न उठाते तो उनकी बातमें ज़्यादा वज़न होता।

६. राहुलजीने मातृभाषाओंका प्रश्न उठाकर रूसके पौधेको भारत में गाड़नेकी चेष्टाकी है। इस सम्बन्धमें रूसको आदर्श नहीं बनाया जासकता, क्योंकि दोनों देशोंकी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्थामें भेद है।

जनपद आन्दोलनको बदनाम करनेकी कुचेष्टामें विरोधी स्वयं

७. मातृभाषाओंको पृथक् विकासकी स्वाधीनता देनेका अर्थ होगा कि देशमें पचासों छोटे-छोटे निर्बल राष्ट्र बनजायँगे और आत्म-रक्षा और आर्थिक-दृष्टिसे वे बाल्कनके छोटे-छोटे राष्ट्रोंकी तरह दूसरोंपर निर्भर रहेंगे। इससे निरन्तर गृह-कलह और फूटको उत्तेजना मिलती रहेगी। जो चाहेगा देशको परतन्त्र बनालेगा।

शिक्षा, संस्कृति और साहित्यके प्रश्नोंको लेकर जनपद आन्दोलन एक सांस्कृतिक आन्दोलन है। राजनीतिक नारे उसने नहीं लगाये। फिर भी उसके विरोधी हरतरफसे उसपर आक्रमण करना ही अपनी कूटनीतिका चरम लक्ष्य समझते हैं। देशमें कितने राष्ट्र होंगे, वे किसी संघमें मिलकर रहेंगे अथवा बिल्कुल अलग रहेंगे, इस तरहके प्रश्न जनपद आन्दोलनने कभी नहीं उठाये। सांस्कृतिक क्षेत्रमें ही उसने पूर्ण स्वाधीनताकी माँगकी है और जहाँ संभव लगा है, किसी एक भाषाके आधारपर पृथक् प्रान्तकी भी माँगकी है। यदि हिन्दी - क्षेत्रों तक ही जनपद - आन्दोलनको सीमित रखकर देखें, तो 'पचासों छोटे राष्ट्रोंमें देश बँटजायगा' इस तरहकी आशंकाएँ उठाना देशके वर्तमान भूगोलकी अनभिज्ञताका प्रदर्शन करना है। यदि क्षणभरकेलिये मानभी लियाजाय कि मध्यदेशकी भाषा मात्र हिन्दी ही रहे, तोभी उसके चारों ओर स्वतन्त्र और पृथक् भाषाओंकी और उनके आधार पर बने प्रान्तोंकी एक मेखला बनी रहेगी, देश छोटे-छोटे भागोंमें तो बँटा ही रहेगा। आसामी बंगाली, उड़िया, तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, मराठी, गुजराती, सिंधी, बलोची, पश्तो, पच्छिमी पंजाबी, काश्मीरी, नेपाली आदि भाषाएँ और उनके प्रान्त तो पृथक् रहेंगे ही। या भारतवर्ष और राष्ट्रकी एकताके टुकड़े होनेकी आशंका उसी समय उठखड़ी होती है जब हिन्दी-क्षेत्रोंकी भाषाओं और उनके बोलनेवालोंके साथ न्यायकी बात करनेका प्रश्न आता है? हमारे इन मित्रोंने कहीं से बाल्कन राष्ट्रोंका नाम सुन-लिया है और अब मौके-बेमौके अल्प जातियोंकी राजनीतिक अथवा मात्र सांस्कृतिक विकासकी माँगको ठुकरानेकेलिये यह नाम आँखमें धूलझोंकने का काम देनेलगा है।

८. हिन्दी साहित्य सम्मेलनको इस बखेड़ेसे क्या सम्बन्ध?

जनपद आन्दोलनके विरुद्ध कुतर्कोंका प्रपञ्च रचनेके उपरान्त, अर्थात्

[illegible] हिन्दी [illegible] सबकी ओर मातृभाषा-भाषियोंकी इच्छाके समर्थन करके और [illegible]। परन्तु ऐसी भावनाओंको [illegible]। [illegible] विद्वान् सम्मेलनके हिन्दी-भाषा प्रदेशोंमें स्थापित करना चाहते हैं, "वे सब भूले हैं, पर साहित्य सबके सबकी एक संस्थामें ही संगठन चाहिए।" अतः साहित्य सम्मेलनके सदस्योंने स्वतन्त्र प्रान्तीय-भाषाओंके सम्बन्धमें बतलाया और इस प्रकार उनका प्रान्तीय [illegible] अनुभव करके प्रान्तीय भाषाओंका [illegible] के पुर प्रस्ताव रखे गये हैं, और वे साहित्य सम्मेलनके भीतर रहकर [illegible] निर्भय होकर चलते रहते हैं। परन्तु सचमुच है, प्रान्तीय आन्दोलन चलानेवाले इसका इन चीजोंमें शामिल नहीं हैं, और वे हिन्दी साहित्य सम्मेलनका दामन नहीं छोड़ना चाहते। हिन्दी साहित्य सम्मेलनने हिन्दी (राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी) की राष्ट्रभाषा पदपर प्रतिष्ठामें सबसे बड़ा काम किया है और हिन्दी-प्रदेशमें अन्य भाषाओंके प्रेमियोंको सहयोग तथा मातृभाषा आन्दोलन करने वालोंमें उनका आदर भी स्वीकार करती है। अतः समूचे मध्यदेशकी भाषाओंके प्रति सम्मेलनका दायित्व बहुत बड़ा है। इसे वह छोड़ नहीं सकता है! और यदि आज कतिपय नामधारी हिन्दीप्रेमियोंके सब [illegible] सम्मेलन स्वयं इसकी और स्वतन्त्र प्रान्तीय आन्दोलनको उन्नतिवादी पक्षपातियोंसे बचाकर मातृभाषाओंके स्वतन्त्र विकासकी आवश्यकता स्वीकार करके जयपुरमें प्रस्ताव पास करवाता है, तो कभी न्याय और जनहितका विचार करके वह मातृभाषाओंके आत्मनिर्णयके अधिकारको स्वीकार कर उदारता और दूरदर्शिताका भी परिचय देसकता है, और जनपदोंकी भाषा और संस्कृति के विकासमें सहायक होकर समूचे मध्यदेशके समान-सांस्कृतिक-उत्थानका नया शिलान्यास करसकता है। सम्मेलन इस प्रश्नपर तटस्थ नहीं है, हो भी नहीं सकता। यदि जनपदोंके क्षेत्रमें सम्मेलनका अस्तित्व न होता तो जयपुरका प्रस्ताव केवल इतना ही कहता कि मातृभाषाओंके आन्दोलनके प्रति सम्मेलन तटस्थ रहेगा। वह इन आन्दोलनोंके कार्यकर्ताओंसे केवल इतना अनुरोध करता है कि वे ऐसी प्रवृत्तियोंको न उभरने दें जो हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार करनेसे इन्कार करें। दिल्ली, हरिद्वार और जयपुर के प्रस्तावोंसे यह सिद्ध है कि मातृभाषाओं-सम्बन्धी प्रश्न सम्मेलनकी विचार-सीमामें आते हैं। किन्तु इस समय सम्मेलनका हस्तक्षेप मातृ-

भाषाओंके विरोधमें हुआ, यह हमारेलिए गौरवकी बात नहीं है। यह तो उसी प्रकार हुआ जिस प्रकार गांधीजी लार्डइर्विङ्गके पास 'रोटी माँगने गये पर बदलेमें मिला पत्थर।'

जनपद आन्दोलनके विरोधियोंके तर्कोंका इतने विस्तारसे उत्तर देनेकी आवश्यकता थी क्योंकि वे अभीतक अज्ञानके सागरमें भय और आशङ्काकी नावपर बैठे डूब-उतरा रहे हैं और जनपदकी दिशा भूलगये हैं। अतः उनतक तीव्र सर्चलाइट फेंकनेकी ज़रूरत थी।

प्रगतिवादियों का दृष्टिकोण

जनपदीय भाषाओंके प्रश्नपर प्रगतिवादी विचारकों तथा साहित्यिकोंका क्या दृष्टिकोण है, उनकी कार्यनीतिका क्या स्वरूप है, अब इन प्रश्नोंपर हमें गंभीरता पूर्वक विचार करना है।

प्रगतिवादी और राष्ट्रभाषा हिन्दी

इस रिपोर्टके कतिपय शब्दोंको तोड़ मरोड़कर जनपदीय भाषाओंके विरोधी अर्थका अनर्थ न करें और हमारे ऊपर कहीं यह मिथ्यारोप न लगानेलगें कि प्रगतिवादी हिन्दीको राष्ट्रभाषा-पदसे गिरानेकेलिए जनपदीय भाषाओंका पक्ष-समर्थन कररहे हैं, हमें इस सम्बन्धमें पुनः अपनी नीतिकी स्पष्ट घोषणा करदेना चाहिए। ये लोग व्यर्थ कीचड़ उछालकर अपनेको और देशके वातावरणको और दूषित करें यह हम सहन नहीं करसकते। *हमारा निश्चित मत है कि पूर्वी पञ्जाबी, दिल्ली, युक्त-प्रान्त, राजस्थान, विहार, मध्य-भारत, महाराष्ट्र, गुजरात, उड़ीसा, बङ्गाल, आसाम आदि मध्य-देश और पूर्वी भारतके प्रान्तोंमें जहाँकी वर्त्तमान भाषाओंमें संस्कृतके सहस्रों शब्द अपने तत्सम और तद्भव दोनों रूपोंमें प्रचलित हैं, जिसके कारण उनमें एक साम्य स्थापित किया जासकता है, हिन्दी (संस्कृत प्रधान साहित्यिक खड़ीबोली) को राष्ट्र-भाषाके रूपमें स्वीकार करनेका प्रयत्न जारी रहना चाहिए। एक प्रकारसे इन विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशोंमें सर्व-साधारणके अन्दर हिन्दी राष्ट्र-भाषाके रूपमें प्रतिष्ठित होचुकी है। सरकारी तौरपरभी उसे मनवानेका प्रयत्न करते रहना चाहिए। दक्षिणकी द्राविड़ी भाषाएँ भी यदि हिन्दीको स्वीकार*

करले तो हमें प्रसन्नता होगी, परन्तु इसका अन्तिम निर्णय
निवासी ही करसकते हैं। यदि वे तमिल, तेलुगु, कनारी, मलया
किसी एकको द्राविड़ क्षेत्रोंकी राष्ट्र-भाषाका पद देना चाहेंगे त
उन्हें रोका नहीं जासकेगा। पश्चिमी पञ्जाब, सिंध, बलोचि
सीमा-प्रान्त और काश्मीर आदि प्रदेशोंमें अन्तर प्रान्तीय व्यव
भाषा, अर्थात् राष्ट्रभाषा भी हिन्दी (संस्कृत प्रधान खड़ीबोल
हो, इस बातपर जोर देना हम उचित नहीं समझते। हमारा
है कि इन प्रदेशोंमें खड़ीबोलीका उर्दू रूपही अन्तर प्रान्तीय व्यव
भाषाकेलिये अधिक उपयुक्त होगा। इस प्रकार भावी भारतीय
संघका चाहे जो विधान हो, हमें अन्ततोगत्वा कम-से-कम दो
भूमिखण्डोंकेलिये अलग-अलग दो राष्ट्रभाषाएँ स्वीकार करनी

एक समय था जब गान्धीजीकी ही तरह प्रगतिवादिय
हिन्दी-उर्दूके झगड़ेका अन्त करनेकेलिए एक सरल समाधान
स्तानी' के रूपमें प्रतिपादित किया था। परन्तु भाषाओंके वि
इतिहासने और गत दस वर्षकी राष्ट्रीय परिस्थितियोंने हमें इस
गहराईसे सोचनेपर मजबूर करदिया और हम अब इस परि
पहुंचे हैं कि एक सामान्य राष्ट्रभाषाका उद्देश्य चाहे कितना ही
क्यों न हो, वर्तमान परिस्थितियोंमें वह असम्भव है। न कोई नय
कृत्रिम उपायोंसे गढ़ी जासकती है और न राजनीतिक वाताव
इस समय इसके पक्षमें हैं। अतः हिन्दी उर्दू दोनोंको अपने
क्षेत्रोंमें राष्ट्रभाषा स्वीकार करलेना उचित है। दोनोंका सामा
तो सद्भावनाके वातावरणमें दोनों संस्कृतियोंके मेलसे ही कहीं वि
होसकेगा।

इस स्पष्टीकरणसे स्वतः सिद्ध है कि हिन्दी क्षेत्रोंमें यदि
पदीय भाषाओंके प्रतिनिधि प्रतिक्रियावश जातीय उन्माद औ
कत्वकी भावनासे प्रेरित होकर हिंदीको राष्ट्रभाषा पदसे गिरानेका
करेंगे, तो प्रगतिवादी उस प्रयत्नको अपना समर्थन कदापि नहीं
हमारा यह भी निश्चित मत है कि हिन्दीके जनपदीय क्षेत्रों
उस समस्त भूखण्डमें जहाँकी राष्ट्रभाषा हम हिन्दीको बनाना
हैं, मातृभाषाओंके साथ-साथ उच्च कक्षाओंमें द्वितीय भाषाके

हिन्दीका पढ़ायाजाना अनिवार्य होना चाहिए ताकि अन्तरप्रान्तीय व्यवहारमें और अधिक सुगम होसके।

राष्ट्रभाषाके अनुकूल हिन्दीके साहित्य भण्डारको समृद्ध और गौरवशाली बनानेका दायित्व हम प्रगतिवादियोंके ऊपरभी हैं, और इसमें किञ्चित् सन्देह नहीं है कि अपने दायित्वको निभानेमें हम किसीसे कम जागरूक नही रहे हैं। अपनी रचनात्मक कृतियों द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दीका साहित्य भण्डार भरनेमें सतत लगेरहनेसे हमें जो अनुभव प्राप्त हुआ है वह महत्त्वपूर्ण है। इस अनुभवके आधारपर हम इतना तो निश्चित कह सकते हैं कि आधुनिक साहित्यिक हिन्दीकी वर्णन और भाव-प्रकाशनकी शक्ति, सामाजिक और आर्थिक जीवनके विविध क्षेत्रोंमें प्रयुक्त नाना प्रकारकी उत्पादन, व्यवस्था और निर्माणकी क्रियाओंका सजीव और साङ्गोपाङ्ग चित्रण करनेकी क्षमता अत्यधिक स्वल्प और अधूरी है। यही कारण है कि साधारण बोलचालमें पढ़े-लिखे नागरिक या तो भाव-प्रकाशनकेलिए क्लिष्ट संस्कृत पदावलीका आश्रय लेते हैं या फिर अङ्गरेज़ी-हिन्दी मिश्रित ऐसी खिचड़ी भाषाका प्रयोग करते हैं जिससे भाषाका सौष्ठव नष्ट होजाता है और वह विरूप और कृत्रिम होतीजाती है। यह परिस्थिति गम्भीर है और हिन्दी-भाषा (साहित्यिक खड़ीबोली) में उपस्थित एक क्रूर सङ्कटकी चेतावनी देती है। इसके दो कारण होसकते हैं, पहला तो यह कि मध्य-देशके उन जनपदोंकी भाषाओंके-जहाँकी मातृभाषा खड़ी बोली नहीं है परन्तु साहित्यिक हिन्दीका वर्त्तमान रूप खड़ी बोली ही है और शिक्षालयोंमें उसका ही प्रचलन है—स्थानिक प्रभावसे बचाकर हिन्दीके राष्ट्रभाषा तथा साहित्यिक रूपको सर्वत्र एक स्टैन्डर्ड रूप देनेकी प्रवृत्ति हिन्दीकी क्षमताओंको संकुचित करती जारही है। स्थानीय प्रभावोंसे अपना दामन बचाकर हर नयी क्रिया अथवा भावकी अभिव्यक्तिकेलिये हिन्दी-संस्कृतसे शब्द उधार लेती है। विशुद्धताकी यह प्रवृत्ति उसके प्रकृत विकासको रोकरही है। दूसरा कारण यह यह है कि हिन्दी कुरु जनपदकी जिस खड़ी बोलीका साहित्यिक रूप है, उससे उसका सम्बन्ध अत्यन्त शिथिल पड़गया है, जिससे उसे पर्याप्त मात्रामें प्राणरस नहीं मिल पाता और उसकी प्रकृत शक्तिका विकास नहीं हो पारहा। अपनेको सक्षम और जीवित बनाये रखनेकेलिये उसे संस्कृत (हिन्दीको) फ़ारसी (उर्दूको) और अङ्गरेज़ी (हिन्दी उर्दू दोनोंको)

अपनी सामर्थ्यसे इतना अधिक उधार लेना पड़रहा है कि उसे तत्सम शब्दों का अजीर्ण-सा होगया है। अतः हम इस परिणामपर पहुँचे हैं कि जिस प्रकार आचार्य द्विवेदीके कालमें भाषा-क्रान्ति द्वारा खड़ी बोलीका साहित्यिक रूप स्थिर कियागया था, उसी प्रकार उसमें नया ओज, सूक्ष्म और सजीव वर्णन और भावाभिव्यञ्जनकी शक्ति लानेकेलिये आज दूसरी क्रान्ति अनिवार्य होगयी है। यह क्रान्ति हिन्दीको अपने जनपदकी सर्वसाधारणकी बोलीके निकट लेजानेसे ही सम्पन्नकी जासकती है। अतः हमारा विचार है कि डॉ० अग्रवालकी योजनाके अनुसार कार्यकरनेकेलिए सर्वप्रथम कुरु जनपदमें ही खड़ी बोलीके अध्ययन और खोजके केन्द्र स्थापित किये जाँय। साहित्य सम्मेलनकी इतिहास, साहित्य और विज्ञान परिषदोंको सम्मिलित रूपसे इस महत् कार्यका भार तुरन्त उठालेना चाहिए। प्रगतिवादी इस कार्यमें सहयोग देंगे, यह बतानेकी आवश्यकता नहीं है।

जनपद समस्या का समग्ररूप

(१) अखिल भारतीय

सम्पूर्णानन्दजी मध्यदेशके ३० जनपदोंके नामसे ही विवेक और धैर्य्य खोबैठे, यदि सम्पूर्ण भारतको दृष्टिमें रखकर राहुलजीने "जनपद-समस्यापर विचार किया होता तो क्या परिणाम होता, हम अनुमान लगानेमें असमर्थ हैं। परन्तु हम अपने सुविशाल देशके संदर्भमें ही मध्य-देशकी जनपदीय भाषाओंके प्रश्नका समाधान खोजना चाहते हैं।

ग्रियर्सनकृत *लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इण्डिआ* के अनुसार समूचे भारतवर्षमें १७९ पृथक् भाषाएँ और ५४४ उनकी बोलियाँ हैं। बोलियों को इस प्रसंगमें लाना अनावश्यक है, क्योंकि वे इन्हीं १७९ भाषाओंकी बोलियाँ हैं, उनका अपनी भाषाके अतिरिक्त कोई पृथक् अस्तित्व नहीं माना जाता, यद्यपि अनेक बोलियाँ प्राचीन साहित्य और विकासकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं और वे कालान्तरमें कभी भी पृथक् भाषाएँ बन-सकती हैं। इस प्रकार ये १७९ भाषाएँ भारतीय भाषाओंके चार बड़े भाषा-कुलोंकी हैं—*तिब्बती-चीनी, आस्ट्री, द्राविड़ी और हिन्द-ईरानी।*

तिब्बती-चीनी-कुल—डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जीके कथनानुसार भारतकी एकसौ उनासी भाषाओंमेंसे एकसौ सोलह तो तिब्बती-चीनी

कुलकी हैं। ये भाषाएँ आसामके उत्तरी और पूर्वी भाग, नैपालके थोड़ेसे भाग और हिमालयके भीतरी हिस्सोंमें बोलीजाती हैं। डॉ० चटर्जीके अनुसार इनके बोलनेवालोंकी संख्या कुल चालीस लाखके लगभग है। डॉ० बाबूराम सक्सेना इस संख्याको डेढ़ करोड़से ऊपर बताते हैं। इस कुलकी चार प्रमुख भाषाएँ हैं; *मनीपुरी*—(तीन लाख बानवे हज़ार) *लुशी* (साठ हज़ार) बोदो जातिकी भाषा *गारो* (दो लाख तीस हज़ार) और नैपालकी *नेवारी* (संख्या अज्ञात)। *नेवारी* और *मनीपुरी* में लिखित साहित्य भी मिलता है और *मनीपुरी लुशी* और *गारो*को कलकत्ता विश्वविद्यालयने 'छोटी भाषाओं' के रूपमें पाठ्यक्रममें स्थान दिया है।

आस्ट्री-कुल—आस्ट्री कुलकी भाषाएँ तीन वर्गोंमें विभक्त हैं—(१) *मुंडा* अथवा *कोल* जिसके अन्तर्गत निम्न भाषाएँ हैं—*संथाली* (पचीस लाख), *मुंडारी* (छः लाख पचास हज़ार), *हो* (चार लाख पचास हज़ार), *कुर्कू* (एक लाख साठ हज़ार) *सवर* (एक लाख सत्तानवे हज़ार) और *गडावा* (चवालीस हज़ार)। (२) आसामकी *खासी* (दो लाख चौंतीस हज़ार) और (३) *निकोबारी* (दस हज़ार)। इनके बोलनेवाले *छोटा नागपुर*, *मध्यभारत*, *उड़ीसा*, *मद्रास*, *पश्चिमी बङ्गाल* और *बिहार*के जंगलोंसे लेकर *शिमला पहाड़ी* तक हिमालयकी तराईमें बिखरे मिलते हैं। *खासी*के बोलनेवाले *आसामकी पहाड़ियों* पर मिलते हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालयने *खासी* और *सन्थाली* को 'छोटी भाषाओं' के रूपमें अपने पाठ्यक्रममें स्थान दिया है। इन भाषाओंके बोलनेवालोंकी संख्या लगभग साढ़े तिरेपन लाख है। उनमें लिखित साहित्य नहीं मिलता, और न कोई प्रचलित लिपि ही है। लोक गीत और वार्ताएँ ही केवल मिलती हैं।

द्राविड़ी-कुल—इस कुलमें चौदह भाषाएँ हैं, जिनमेंसे चार तो उच्चकोटिकी साहित्यिक भाषाएँ हैं—*तेलुगु* (दो करोड़ साठ लाख), *कनारी* (एक करोड़ दस लाख) *तामिल* (दो करोड़ + सिंहल द्वीपमें बीस लाख) और *मलयालम* (नब्बे लाख)। इनके अतिरिक्त *मध्यप्रान्त*, *हैदराबाद रियासत* और *मद्रास* में *तुलु* (एक लाख बावन हज़ार) *कोडगु* (पैंतालीस हज़ार) *टोडा* (छः सौ) और *गोंडी* (अठारह लाख पैंसठ हज़ार), *उड़ीसा प्रान्तमें कुई* (या कन्धी, पांच लाख छियासी हज़ार); *बिहार* और

उड़ीसा प्रान्तों में *कुरुख* (दस लाख अड़तीस हज़ार), *राजमहल* की पहाड़ियों में *माल्टो* (इकहत्तर हज़ार) और *बलूचिस्तान* में *ब्राहुई* (दो लाख सात हज़ार) आदि द्राविड़ी परिवारकी पिछड़ी भाषाएँ हैं जिनमें लिखित साहित्य नहीं मिलता। कुल मिलाकर द्राविड़ी भाषाओंके बोलने वाले भारतमें सात करोड़ पचीस लाखके लगभग हैं।

हिन्द-ईरानी शाखा—हिन्द-ईरानी शाखाको तीन उपशाखाओंमें बाँटना आवश्यक है :

(१) *ईरानी*, जिसकी दो भाषाएँ *पश्तो* (सोलह लाख) और *बलोची* (छः लाख अट्ठाइस हज़ार) हैं।

(२) *दर्दी*, जिसकी *काश्मीरी* (पंद्रह लाख), *शीना* (अड़सठ हज़ार), *खोवारी*, *बाशगली* और *पशाई* आदि काश्मीरके सुदूर पहाड़ी इलाक़ोंकी छोटी छोटी भाषाएँ हैं और

(३) *भारतीय-आर्य* जिसके अन्तर्गत *लँहदी* या *पश्चिमी-पञ्जाबी* (छियासी लाख), *सिन्धी* (चालीस लाख), *मराठी* (दो करोड़ नौ लाख), *उड़िया* (एक करोड़ बारह लाख), *बङ्गाली*, (पाँच करोड़ पैंतीस लाख), *आसामी* (बीस लाख), *मैथिली* (एक करोड़), *मगही* (पैंसठ लाख), *भोजपुरिया* (दो करोड़ पाँच लाख), *कोसली* या *पूर्वी-हिन्दी* जिसमें *अवधी*, *बघेली* और *छत्तीसगढ़ी* (दो करोड़ पचीस लाख) सम्मिलित हैं, *पश्चिमी-हिन्दी*—हिन्दी-उर्दू सम्मिलित *खड़ीबोली*, *बाँगरू*, *ब्रज-भाषा*, *कन्नौजी* और *बुन्देली* (चार करोड़ दस लाख), *पूर्वी-पञ्जाबी* (एक करोड़ पचपन लाख), *राजस्थानी*—चारों बोलियोंको सम्मिलित करके (एक करोड़ उनतालीस लाख), *भीली* (बीस लाख), *गुजराती*, (एक करोड़ दस लाख), *पूर्वी-पहाड़ी* या *नेपाली* (साठ लाख), *मध्य-पहाड़ी*—*गढ़वाली* और *कमाऊँनी* (दस लाख) को लेकर और *पश्चिमी-पहाड़ी* (बीस लाख) हैं। हिन्द-ईरानी-शाखाकी भाषाओंको बोलनेवालोंकी संख्या भारतमें लगभग पच्चीस करोड़ पिचहत्तर लाख है। *

अपने देशकी विभिन्न भाषाओंपर जब हम विहङ्गम दृष्टि डालकर देखते हैं तो हमें एक विचित्र रहस्यपर प्रकाश पड़ता दीखता है।

तिब्बती-चीनी कुलकी एक-सौ-सोलह भाषाओंके चालीस लाख

* यह लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इण्डिया १९३१ के आधारपर दी संख्याएँ हैं।

अथवा डेढ़ करोड़ बोलनेवाले असभ्य ही समझेजाते हैं। उनको अपनी मातृभाषाओंमें शिक्षा पानेका अधिकार नहीं है। अर्थात् उनमें अशिक्षा निन्यानवे फ़ीसदी है। दूसरे प्रान्तोंके लोगोंसे व्यवहार रखनेकेलिए उन्होंने *बङ्गाली*, *आसामी* या *नेपाली* सीखली है जिसके द्वारा वे सभ्य भारतके अफ़सरों, ठीकेदारों या बाबुओंके हुक्मोंको समझजाते हैं या बनियेकी दूकानसे ज़रूरतकी चीज़ें खरीद लाते हैं।

आस्ट्री कुलकी आठ-नौ भाषाओंको बोलनेवाली जातियाँ भी—जिनकी संख्या साढ़े तिरेपन लाख है—असभ्य ही समझीजाती हैं, अतः उनको भी अपनी मातृ-भाषाओंमें शिक्षा पानेका अधिकार नहीं है। अशिक्षा उनमें भी निन्यानवे फ़ीसदीसे ज़्यादा है। उनका भाग्य भी *तिब्बती-चीनी* भाषाओंको बोलनेवाली जातियोंसे किसी प्रकार उत्तम नहीं है।

द्राविड़ी कुलकी चौदह भाषाओंमेंसे चार भाषाओंमें ही साहित्य-शिक्षाका प्रबन्ध है। बाक़ी दस भाषाओंके लगभग पैंतालीस लाख बोलने वालोंकेलिए यदि शिक्षाकी कोई व्यवस्था है तो विजातीय भाषाओंमें ही। अशिक्षा उनमें भी ९५ फ़ीसदीसे अधिक ही है। उसपर इन उपेक्षित भाषाओंमें *गोंडी*, *कुरुख*, *कुई*, या *ब्राहुई* काफ़ी बड़े जनपदोंकी भाषाएँ हैं।

हिन्दी-ईरानी शाखाकी लगभग पच्चीस भाषाओंमेंसे केवल आठ भाषाओंमें ही शिक्षाका प्रबन्ध है। इन भाषाओंके अतिरिक्त दस भाषाओं और चार बड़ी उप-भाषाओंके—जिनमें प्राचीन साहित्य प्रचुर मात्रामें मिलता है—बोलनेवाले लगभग पन्द्रह करोड़ बयासी लाख व्यक्तियोंको अपनी मातृ-भाषामें शिक्षा पानेसे वञ्चित रखागया है। उल्लेखनीय बात केवल इतनी है कि इस अभागी पन्द्रह करोड़ बयासी लाख जनताको यदि शिक्षा पानेकी लालसा होती है तो वह हिन्दी (साहित्यिक खड़ीबोली) अथवा उर्दू आदि विजातीय भाषाओं द्वारा शिक्षा ग्रहण करना पड़ती है। लगभग पिचासी फ़ीसदी हिन्द-ईरानी शाखाके भाषा-क्षेत्रोंके निवासी भी अनपढ़ हैं। किन्हीं-किन्हीं क्षेत्रोंमें, जैसे काश्मीर, पश्चिमी पञ्जाब, बलोचिस्तान, पहाड़ी प्रदेश आदिमें तो अशिक्षा पिचानवे फ़ीसदी तक व्याप्त है।

भारतकी एक सौ उन्नासी भाषाओंमेंसे केवल बारह भाषाएँ ही शिक्षाका माध्यम हैं। ये बारह भाषाएँ लगभग सत्रह करोड़ अट्ठाईस लाख जनताकी मातृभाषा हैं। भारतीय भाषाओंके चार बड़े

कुलोंकी अन्य एक-सौ-बावन भाषाओंको अपने-अपने क्षेत्रोंमें शिक्षाका माध्यम बननेका अधिकार नहीं है। इन एक-सौ-बावन भाषाओंको बोलनेवाली लगभग सत्रह करोड़ इक्कीस लाख जनता विजातीय भाषाओंमें ही शिक्षा पासकती है। लगभग एक दर्जनसे अधिक और भाषाएँ हैं जो भारतीय भाषाओंके चार बड़े कुलोंके बाहरकी हैं और उनके बोलनेवालोंकी संख्या यद्यपि नगण्य है परन्तु वे भी अपनी मातृ-भाषाओंमें शिक्षा पानेसे वञ्चित हैं।

अकेली खड़ीबोली (हिन्दी-उर्दू) ने लगभग पन्द्रह करोड़ बयालीस लाख व्यक्तियोंको अपनी मातृ-भाषाओंमें शिक्षा पानेसे वञ्चित कररखा है। इससे सिद्ध है कि भारत भी 'भाषाओं का विशाल कारागार' है।

जब हम इन संख्याओंपर दृष्टि डालते हैं और अपने देशकी अशिक्षा और सांस्कृतिक हीनतापर गौर करते हैं, तो अनायास ही लज्जासे हमारा मस्तक झुकजाता है। विदेशी-शासनका उद्देश्य कभी सार्वजनिक शिक्षा और प्रत्येक जातिकी सांस्कृतिक उन्नति नहीं होसकता था, उसका उद्देश्य तो अपने शासन कार्यकेलिए कुछ लोगोंको शिक्षित करके देशकी बाकी जनताको असभ्य और अर्ध-सभ्य अवस्थामें ही पड़े रहनेदेना हो सकता था। इसीका यह परिणाम है कि हमारी स्थिति इतनी दयनीय है कि देशकी कम-से कम आधे दर्जन ऐसी भाषाएँ भी, जिनके बोलनेवालों की संख्या ईरानी, तुर्की, बर्मी, यूनानी आदि अनेक देशोंकी भाषाओंसे ज्यादा हैं और जिनमें गौरवमय प्राचीन-साहित्य भी मौजूद है, उपेक्षित पड़ी रहीं; छोटी-छोटी भाषाओंकी तो बात जाने ही दीजिए। हमारे राष्ट्रीय आन्दोलनने इस स्थितिको कभी श्लाघ्य नहीं समझा और उसने सदैव इस बातपर ज़ोर दिया कि देशकी पिछड़ी और अनुन्नत भाषाओं, संस्कृतियों और जातियोंको शिक्षित, सभ्य और उन्नत बनानेकेलिए उनके स्वाभाविक विकास की समस्त सुविधाएँ प्रदान कीजाँय। यह हमारे राष्ट्रीय आन्दोलनकी गौरव-शाली, जनवादी परम्परा है। इसे ध्यानमें रखकर ही जनपद आन्दोलन की वांछनीयता और अवांछनीयताका निर्णय करना चाहिए।

एक बात और। जनपदीय भाषाओंका प्रश्न केवल हिन्दी-क्षेत्रों अथवा मध्य-देशकी भाषाओं तक ही सीमित नहीं है। यह एक अखिल

भारतीय प्रश्न भी है। हम अभी बताचुके हैं कि *तिब्बती-चीनी* कुलकी भाषाओंके लगभग एक सौ सोलह जनपद, *आस्ट्री-* कुलकी भाषाओंके आठ-नौ जनपद, *द्राविड़*-कुलकी भाषाओंके लगभग दस जनपद और *हिन्दी-ईरानी* शाखाकी भाषाओंके लगभग सोलहसे लेकर बीस जनपद साम्राज्यवादी शासनकी दुर्नीतिके निरुपाय शिकार बने हैं, उनके आत्म-विकासके सारे द्वार बन्द हैं। परन्तु जहाँ-जहाँ राष्ट्रीय आन्दोलनकी प्रकाश-रेखाएँ पहुँचगयी हैं, और जो जनपद अपने प्राचीन गौरवके इतिहासको एकदम विस्मृत नहीं करपाये हैं, उनके जाग्रतिके चिह्न प्रकट होनेलगे हैं। अहिन्दी भाषा क्षेत्रोंमें भी जनपद-आन्दोलन मुखर होउठा है। पश्तो, आंध्र (तेलुगु), उड़िया, असामी आदिके आन्दोलनोंके विषयमें हम अनभिज्ञ नहीं हैं। काश्मीरी, सिंधी, पञ्जाबी आदिमें भी जनपद-चेतना फूट निकली है।

जो भाषाएँ साम्राज्यवादी शासनकी आवश्यकताओंके फलस्वरूप प्रोत्साहन पाकर तथा राष्ट्रीय आन्दोलन द्वारा उत्पन्न कीहुई चेतनाकी वाहन बनकर अपेक्षाकृत उन्नत और साहित्य-सम्पन्न होगयी हैं, उनका ही यह कर्तव्य होजाता है कि वे अपनी निर्बोध, छोटी बहनोंको अपने-अपने क्षेत्रोंमें सहारा देकर ऊपर उठाएँ, उनके लिए स्वतन्त्र विकासके द्वार खोलें। यह बड़ी भाषाओंका जनवादी कर्तव्य है और इस कर्तव्यका पालन अखिल भारतमें सर्वत्र करना अपेक्षित और अनिवार्य है। साम्राज्यवादने देशकी भाषाओं और संस्कृतियों और इस प्रकार जातियोंका जो 'विशाल कारागार' बनारखा है, उसकी शृंखलाओंको तोड़नेमें यदि सशक्त भाषाएँ और जातियाँ सहयोग नहीं देंगीं तो इसका अर्थ होगा कि वे भी साम्राज्यवादी नीतिको ही स्वतन्त्र भारतमें भी जारी रखना चाहती हैं। अल्पसंख्यक जातियोंकी भाषा-संस्कृतिको मिटाकर उन्हें हम गुलाम ही बनाये रख सकते हैं, उन्नतिके पथपर अग्रसर कर अपने बराबर नहीं बना सकते। जो लोग इसे ही वांछनीय समझते हैं वे वास्तवमें जयपुर-सम्मेलनके अवसरपर राष्ट्र-भाषा परिषद्के सभापति श्री कन्हैयालाल मुन्शीके शब्दोंमें 'भाषाका साम्राज्यवाद' स्थापित करनेका दुःस्वप्न देखरहे हैं। अखिल भारतमें जनपदीय भाषाओं और संस्कृतियोंका प्रश्न किस प्रकार हल कियाजाय, इसके लिए सोवियत् रूसकी जातीय समस्याओंके प्रति व्यवहृत नीतिका अध्ययन उपयोगी होगा। परन्तु चूँकि जनपद आन्दोलनके विरोधी, जिनमें समाजवादी-

गांधीवादी दोनों शामिल हैं; सोवियत् रूसके नामसे ही भड़क उ
हम यहाँ उसका उल्लेख नहीं करेंगे। और फिर हमें जनपद स
अखिल भारतीय समग्र रूपपर विहङ्गम दृष्टि डालकर पुनः हिन्द
तथा मध्य-देशकी जनपद-समस्याका समाधान ढूँढने तक ही
प्रयत्नोंको सीमित रखना चाहिए, क्योंकि हमारे कार्यक्षेत्रकी सीमा
देश ही आता है। अहिन्दी-प्रान्तोंके लोग अपने-अपने यहाँ इस स
हल स्वयं अपने अनुभव और जनवादी विचारधाराके आधारपर
ऐसा हमारा विश्वास है।

मध्य-देशीय जनपद-समस्या

मध्य-देशसे तात्पर्य 'बिहार, संयुक्त-प्रान्त, हिन्दी मध्य-प्रान्त
भारत, हिमालयके पहाड़ी प्रान्त तथा पञ्जाब' से है। इसमेंसे हम प
लहँदी और पञ्जाबी भाषाओंके क्षेत्रोंको निकाल सकते हैं। केवल
पञ्जाबकी बाँगरू बोलीके क्षेत्रको ही मध्य देशमें सम्मिलित करना
है। लहँदाके छियासी लाख बोलनेवाले प्रायः मुसलमान हैं। अब
अपनी 'लेंडा' लिपिको छोड़कर फ़ारसी लिपिका प्रयोग शुरू किया है।
के एक करोड़ उनतालीस लाख बोलनेवाले अब दो लिपियोंका प्रयो
हैं, पश्चिममें फ़ारसी लिपिका और मध्य-पूरबके सिख गुरुमुखी लि
जम्मूकी डोंगरी बोली भी पञ्जाबीके अन्तर्गत है।

राजस्थानकी भीली और बिहारके संथाल परगनाकी
आदि आस्ट्री-कुलकी भाषाओंकी भी हम मध्य-देशकी भाषाओंमें
न करेंगे। भीली, संथाली आदिके बोलनेवालोंको अपनी ही भा
शिक्षा देना होगा। उनकी लिपियाँ भी बनानी होंगी। उन्हे हिन्दी
से काम न चलेगा।

जैसा हम पहले कहचुके हैं, भाषा-शास्त्री समूचे मध्य-देशक
मात्र भाषा हिन्दी (साहित्यिक खड़ीबोली) है, ऐसा नहीं स्वीकार
केवल साधारण व्यवहारमें ही हिन्दी शब्दसे लोग इतने व्याप
लगाते हैं। इसी कारण जब जनपदीय भाषाओंका प्रश्न उठता
आग्रह और दुराग्रह भाषा-शास्त्रीय दृष्टिका स्थान लेलेता है।

अङ्गरेज़ी शासनने वर्तमान प्रान्तोंकी सीमाएँ भाषाओंके अ
नहीं रखीं। किसीभी नयी व्यवस्थाके अन्दर वर्तमान असुविधाओं

करके नयी सीमाएँ निर्धारित करनी पड़ेंगी। नयी सीमाएँ क्या वे जनपदीय भाषाओंको स्वतन्त्र विकासकी सुविधा प्रदान करने बनायी जायेंगी अथवा हिन्दी (साहित्यिक खड़ीबोली) के जन-र को और ठोस बनानेकी दृष्टिसे निर्धारित कीजायेंगी, इसका नि तत्कालीन जनपद-आन्दोलनकी शक्ति और राष्ट्र-सङ्घके कर्णधारोंक भावनापर ही निर्भर करेगा। डॉक्टर धीरेन्द्र वर्माका बहुत दिनों रहा है कि समूचे मध्य-देशका नयी व्यवस्थामें एक महाप्रान्त ब जाय, क्योंकि इस विशाल प्रदेशमें साहित्यिक खड़ीबोली (हिन्दी उ साहित्यकी भाषा है। उनके स्वप्नमें लहँदी जनपद भी सम्मिलित हैं इस प्रश्नपर कोई मत प्रकट करना अनावश्यक समझते हैं। सदै हमारा उद्देश्य जनपदीय भाषाओंकी वस्तुस्थिति समझकर ज आन्दोलनका पूरा परिचय पाना है ताकि अपना दृष्टिकोण स्थिर करते मध्य-देशकी जनपदीय समस्या अपने समग्र रूपमें हमारे सामने स्पष्ट

मध्यदेशकी भाषाओं और उनके जनपद आन्दोलनोंपर एक निकटसे दृष्टि डालें:—

राजस्थानी—राजस्थानी *शौरसेनी प्राकृत* के *नगर अपभ्रं* की भाषा है। वह *पश्चिमी हिन्दी* (खड़ीबोली, ब्रज, बुन्देली, बाँगरू की अपेक्षा *गुजराती* के अधिक निकट है। एक समय राजस्थानी समर मध्यदेशकी साहित्यिक भाषा रहचुकी है और राजस्थानका प्राचीन चारण जैन, ब्राह्मणी, सन्त और लोक साहित्य—गद्य और पद्य दोनोंमें—विशाल है। आधुनिक साहित्य भी उसमें न्यूनाधिक मात्रामें उत्पन्न होनेलगा है परन्तु समस्त राजस्थानकी साहित्यिक भाषाका एक ही रूप नहीं है। राजस्थानीके चार रूप प्रचलित हैं:-

(१) *मेवाती*: अलवर राज्य और देहलीके दक्षिणमें गुड़गाँवके आसपासकी बोली;

(२) *मालवी*: मालवा प्रदेश अर्थात् इन्दौर राज्यमें प्रचलित बोली;

(३) *जयपुरी-हाड़ौती*: जयपुर, कोटा, बूँदी राज्यमें प्रचलित बोली;

(४) *मारवाड़ी-मेवाड़ी*: जोधपुर, बीकानेर, जैलसमेर तथा उदयपुर राज्योंकी बोली।

राजस्थानीके कुल बोलनेवाले एक करोड़ उन्तालीस लाखसे अधिक

हैं। और राजस्थानका क्षेत्रफल लगभग डेढ़-लाख वर्गमील है। भारतके बंबई, पञ्जाब, बंगाल आदि प्रान्तों अथवा इंगलैण्ड, आयर्लैंड, रूमानिया, ग्रीस, नॉर्वे, फिन्लैंड, जापान आदि देशोंसे राजस्थानका क्षेत्रफल बड़ा है। राजस्थान सदियोंसे अनेक देशी राज्योंमें बँटारहा है, अतः आश्चर्यकी बात नहीं है कि राजस्थानीका कोई एकही साहित्यिक रूप विकसित नहीं हो पाया है। राजस्थानी - आन्दोलनके नेताओंको पूरी आशा है कि यदि राजस्थानीको स्वतन्त्र विकासकी सुविधा दीगयी तो वे निकट भविष्यमें ही राजस्थानीका एक सर्व-सम्मत रूप निखारलेंगे। इसके मार्गमें कई बाधाएँ हैं। पहली तो यह कि जबतक देशी नरेश रहेंगे वे समूचे राजस्थानको एक भाषाके सूत्रमें बँधनेके मार्गमें अवरोध बने रहेंगे। दूसरे स्वयं सदियों से पृथक् राज्योंमें बँटी जनता विभिन्न आर्थिक - सामाजिक इकाइयोंमें विभाजित रही है और उसकी अलग - अलग जातीयताका विकास होता गया है। अतः बिल्कुल सम्भव है कि देशी नरेशोंसे मुक्ति पाकर *मेवाती*, *मालवी*, *जयपुरी*, और *मारवाड़ी* अपने-अपने क्षेत्रोंमें स्वतन्त्र भाषाएँ बननेका प्रयत्न करें और अपनी पृथक् जातीयताको सुरक्षित रखना ही आवश्यक समझें। इस प्रकार असंभव नहीं है कि राजस्थानीके एक संयुक्त साहित्यिक भाषा बननेके पूर्वही उसके वर्तमान चारों रूप स्वतन्त्र विकास करजाएँ। यह अनिवार्य नहीं है कि वे भाषा-शास्त्रीय दृष्टिसे 'पृथक् भाषा पदवाच्य' हों तभी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बना सकें। गुजराती तीन सौ वर्ष पूर्व राजस्थानीकी ही बोली थी, परन्तु आज एक स्वतन्त्र भाषा है। राजस्थानीके जनपद - आन्दोलनके नेता भी सोचते हैं कि 'प्रारम्भमें सभी बोलियोंमें रचना होगी। धीरे-धीरे या तो कोई एक बोली साहित्यकी भाषा बनजायगी या सबका मिश्रण होकर साहित्यकी भाषाका निर्माण होगा।' अभी इस विषयमें निश्चितरूपेण कुछ कहना दुस्साहस होगा, परन्तु राजस्थानीके नेताओंको इस संभावनाकी ओर भी ध्यान रखना होगा। राजस्थानमें मातृभाषा आन्दोलन बहुत व्यापक होगया है और *जोधपुर*, *बीकानेर*, *उदयपुर*, *जयपुर*, *इन्दौर* आदि इस आन्दोलनके केन्द्र बनगये हैं। राजस्थानी अपनी मातृभाषाकी अवहेलनासे खिन्न हैं, इसका उदाहरण मारवाड़ीकी इस व्यंग्योक्तिमें मिलता है :

'अगर-मगर' के सोरह आने 'इकड़े-तिकड़े' बार।
'अठे-कठे' के अटहिज आने 'सूँ छे' पइसा चार।

अर्थात् राजस्थानमें जहाँ हिन्दी-उर्दूकी क़ीमत सोलह आने और मराठीकी बारह आने है, वहाँ मारवाड़ीकी क़ीमत उसीके देशमें आठ आने है।

देशी राज्य परिषद्के प्रधान नेता जोधपुरसे जयनारायण व्यास, सत्यदेव विद्यालङ्कार, सुमनेशजी, राजस्थानी साहित्यपीठ बीकानेरके नरोत्तमदास स्वामी, प्रो॰ रामसिंह, पुरुषोत्तमदास स्वामी, अगड़चन्द नाहटा, अजमेरकी 'मीरा' के सम्पादक जगदीशप्रसाद माथुर 'दीपक', हिन्दी विद्यापीठ उदयपुरके मोतीलाल मेनारिया, जनार्दनराय नागर, दुर्गाशङ्कर दुर्गावत और भँवरलाल मेहता आदि प्रमुख साहित्यिक, विचारक और प्रजामंडलोंके कार्यकर्त्ता राजस्थानीके जनपद-आन्दोलनमें भाग लेरहे हैं।

राजस्थानी स्वतन्त्र भारतमें अपना अलग प्रजातन्त्र बनाना चाहेंगे अथवा वे मध्यदेशके संयुक्त प्रजातन्त्रमें सम्मिलित होना चाहेंगे, इसका निर्णय वे स्वयं करेंगे। डॉ॰ धीरेन्द्र वर्माके सुख-स्वप्नको वही सफल अथवा विफल करसकते हैं। ऊपरसे, राष्ट्रसंघकी ओरसे, उनपर कोई व्यवस्था नहीं लादी जासकेगी।

राजस्थानीका अपना अलग साहित्य सम्मेलन है, प्रकाशन संस्थाएँ हैं जिनकी ओरसे योग्य साहित्यसेवी, डॉ॰ अग्रवालकी योजना तक ही अपने कार्यक्षेत्रको सीमित न रखकर, सर्वतोमुखी अभिनव साहित्यके निर्माणका अनुष्ठान कररहे हैं। राजस्थानीमें अनेक पत्र-पत्रिकाएँ भी निकलती हैं।

मैथिली—मागधी अपभ्रंश की भाषा है, और अपनी उत्पत्तिके कारण *बंगाली, उड़िया, आसामी* से अधिक मिलती है। मैथिली द*रभंगा*के आस-पासके जनपदकी भाषा है। बोलनेवालोंकी संख्या एक करोड़ है। लिपि मैथिली है जो प्राचीन नागरीसे निकली है। प्राचीन साहित्य उच्चकोटिका है। *विद्यापति* इसी भाषाके कवि थे। मैथिली साहित्य परिषद् है, जिसकी ओरसे परीक्षाएँ होती हैं, परन्तु वह शिक्षाका माध्यम नहीं बनायी गयी है, यद्यपि इसकेलिए प्रबल आन्दोलन किया जारहा है। मैथिलीका जनपद आन्दोलन भी काफ़ी संगठित और मुखर है। मैथिलीका आधुनिक काव्य साहित्य भी उत्तम है। दरभंगासे *मिथिला मिहिर* और मुज़फ़्फ़रपुरसे *तिरहुत समाचार* मैथिलीमें निकलते हैं। *प्रो॰ जयकान्त मिश्र* ने *डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा* को उत्तर देतेहुए अगस्त १९४४ में *लीडर* में लिखा

था कि मिथिला कभी मध्यदेशका अङ्ग नहीं रहा है। *डॉ० अमरनाथ झा, रामइकबालसिंह 'राकेश', कवि भुवनेश्वरसिंह 'भुवन' प्रो० जयकान्त मिश्र* आदि मैथिलीके प्रमुख साहित्य-सेवी हैं, जो राहुलजीकी विचारधाराका समर्थन करते हैं।

मगही—*पटना* और *गया* केन्द्रोंके आस-पासकी भाषा *मगही* भी *मागधी-अपभ्रंश* से उत्पन्न हुई है। इसके बोलनेवालोंकी संख्या पैंसठ लाख है। मगहीमें प्राचीन साहित्य नहींके बराबर है और आधुनिक साहित्य भी नहीं है। इस भाषा-क्षेत्रमें जनपद आन्दोलन अभीतक नहीं पैदाहुआ। एक प्रकारसे बिहारकी भाषाओंमें सबसे अचेतन यही जनपद है। अभी हालमें *मागधी साहित्य परिषद्* की स्थापनाकी कोशिश की जारही है और आश्चर्य और खुशीकी बात है कि अखण्ड हिन्दी के समर्थक साहित्य सम्मेलनके सभापति *स्वामी गणेशदत्तजी* स्वयं इस परिषद्का उद्घाटन करने जारहे हैं।

डॉ० सुनीति कुमार चटर्जीका कथन है कि मैथिली और मगही को भोजपुरीके साथ एक कोष्ठमें रखकर तीनोंको एक 'बिहारी' भाषाके अन्तर्गत रखदेना ग़लत है, क्योंकि मगही और मैथिली मागधी-अपभ्रंश से निकली हैं और उनका हिन्दीसे कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु भोजपुरी अर्धमागधीसे निकली है और कोसलीके वह अधिक निकट है।

भोजपुरी बिहारके *शाहाबाद, आरा, चम्पारन* और *सारन जिलों* में तथा *संयुक्त प्रान्तकी गोरखपुर* और *बनारस कमिश्नरियोंमें भोजपुरी भाषा बोलीजाती है।* बोलनेवालोंकी संख्या दो करोड़ पाँच लाख है। इसमें *काशिका, मल्लिका, वज्जिका* आदि भोजपुरीकी बोलियाँ हैं। भोजपुरी भी अन्य बिहारी भाषाओंके समान ही हिन्दीसे बिल्कुल पृथक् भाषा है। अब इस भाषाक्षेत्रमें जनपद चेतना काफ़ी व्याप्त होगयी है और यद्यपि भोजपुरीकी अभी कोई साहित्य परिषद् नहीं बनी है, और न उसमें पत्र-पत्रादि ही निकलते हैं, फिर भी भोजपुरीकेलिए आन्दोलन शुरू होगया है, भोजपुरीके लोकगीतोंके संग्रह प्रकाशित होरहे हैं और भोजपुरीका व्याकरण लिखा जारहा है। *राहुलजी* स्वयं भोजपुरिया हैं। *प्रो० शिवपूजनसहाय, डॉ० उदयनारायण तिवारी, कृष्णदेव उपाध्याय, बाबू दुर्गाप्रसादसिंह, नन्दकिशोरसिंह* 'किशोर', *गणेश चौबे* आदि

भोजपुरीके प्रमुख विद्वान् और अग्रगण्य नेता हैं। अगणित ग्रामीण कवियों में काशिकाके कवि *रामकेर* और *धर्मराज* कबीरकी प्रतिभाका स्मरण दिलाते हैं।

पहाड़ी भाषाएँ—पूर्वी पहाड़ी नेपाली—नेपालकी भाषाको *नेपाली*, *पर्वतिया*, *गोरखाली* या *खसकुरा* कहते हैं। बोलनेवालोंकी संख्या लगभग ६० लाख है। नेपाल राज्यमें सर्वत्र नेपाली ही नहीं बोली जाती, मुख्यतः यह *काठमाँडू घाटीकी भाषा* है। वैसे *तिब्बती-चीनी* कुलकी अनेक भाषाएँ नेपालमें प्रचलित हैं, जिनमें *'नेवारी'* सबसे प्रमुख है। नेपाली देवनागरी लिपिमें ही लिखीजाती है। इधर सौ वर्षोंसे इसमें साहित्य भी होने लगा है, और यह *नेपाल राज्यकी राजभाषा* भी है। पहाड़ी भाषाएँ राजस्थानीसे अधिक मिलती जुलती हैं, हिन्दीसे कम।

मध्य-पहाड़ी—मध्य-पहाड़ीके दो मुख्य भेद हैं :

(१) *कुमाउँनी*, जो *अलमोड़ा*, *नैनीताल* के प्रदेशमें बोलीजाती है। इसमें थोड़ा-सा साहित्य है। कवि सुमित्रानन्दन पन्तकी मातृभाषा कुमाउँनी ही है। कुमाउँनीमें गत तीस वर्षोंसे जनपद आन्दोलन भी चलरहा है, यद्यपि यह आन्दोलन कभी बहुत प्रबल नहीं होपाया।

(२) *गढ़वाली*, जो गढ़वाल राज्य तथा मसूरीके निकट पहाड़ी प्रदेशमें बोलीजाती है। इसमें विशेष साहित्य नहीं है।

ये दोनों बोलियाँ देवनागरी लिपिमें ही लिखीजाती हैं। डॉक्टर *पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल*की मातृभाषा गढ़वाली थी। गढ़वालियोंमें जातीय-चेतना तीव्रतासे फैलरही है और यद्यपि अभी गढ़वालीमें नियमित रूपसे जनपद आन्दोलनका सूत्रपात नहीं हुआ है, तथापि *इलाहाबाद*, *लखनऊ*, और *लाहौर* आदि शहरोंमें *गढ़वाली साहित्य परिषदोंकी* स्थापना उनकी जातीय चेतनाकी शक्तिकी सूचक है। गढ़वालीकी उन्नतिके प्रयत्न शुरू होगये हैं। *प्रो० बल्देवप्रसाद नौटियाल* गढ़वालीका कोष तैयार कररहे हैं, *शालिग्राम वैष्णव* ने नागरी प्रचारिणी सभासे गढ़वाली पखाणों (कहावतों) का संग्रह निकाला है। *'पहाड़ी'*, *ललिताप्रसाद नैथानी*, *लालनमोहन*, *थपलियाल* आदि अनेक लेखक और विचारक गढ़वालीके विकासके इच्छुक हैं। *'गुमान'* गढ़वालीके बड़े कवि होगये हैं। *सुरेशचन्द्र* *कुकरेती* अच्छे आधुनिक कवि थे।

पश्चिमी-पहाड़ी— पश्चिमी-पहाड़ी लगभग *तीस* बोलियोंका एक *समूह* है। उनका कोई सर्वमान्य मुख्य रूप नहीं है। *शिमलाके* निकटवर्ती प्रदेशमें इनके लगभग बीस लाख बोलनेवाले पहाड़ोंपर फैले हुए हैं। मुख्य बोलियाँ, संयुक्त प्रान्तके *जौनसार-बावर* प्रदेशकी *जौनसारी*, *शिमला पहाड़* की *क्योंथली*, *कूलू* प्रदेशकी *कुलुई* और *चंबा राज्य* की *चंबाली* हैं। *चंबाली* को छोड़कर ये सभी बोलियाँ *टाकरी* या *टक्करी* लिपिमें लिखीजाती हैं। इन बोलियोंमें कोई साहित्य नहीं मिलता, और न जनपद आन्दोलन ही है। अधिकांश बोलनेवाली पहाड़ी जातियाँ बहुत पिछड़ी दशामें हैं।

मध्य-देशकी उपरोक्त भाषाएँ—लहँदी, पञ्जाबी, सिंधी, भीली, राजस्थानी, मैथिली, मगही, भोजपुरी, संथाली और पहाड़ी भाषाएँ आदि—भाषा शास्त्रीय दृष्टिसे अ-हिन्दी भाषाएँ हैं जहाँपर ब्रिटिश शासनने हिन्दी को ही प्राइमरी शिक्षाका माध्यम बनाकर अपने दायित्वसे छुट्टी पाली है। स्वाभाविक है कि शिक्षाका और कोई माध्यम न होनेके कारण और राज्यकी ओरसे हिन्दीको ही प्रोत्साहन मिलनेके कारण, इन अहिन्दी जन-पदोंके शिक्षित वर्गने स्थितिसे समझौता किया और हिन्दीको ही अबतक साहित्यका माध्यम मानकर उसमें स्वयं भी साहित्य-सृजन किया। परन्तु वहाँ की असंख्य अनपढ़ जनता अपनी-अपनी भाषाओं और बोलियोंमें ही बोलती है और स्वयं शिक्षित वर्ग भी अपने घरोंमें अपनी मातृभाषाओंका ही प्रयोग करता है। अब जातीय चेतनाके उदय होनेसे इन भाषाओंमें जनपद आन्दो-लन उठखड़े हुए हैं। यह स्थिति तो है हिन्दीके अहिन्दी भाषा-क्षेत्रोंकी, अब हमें संक्षेपमें हिन्दीके अपने घरकी परिस्थितिपर भी दृष्टि डाललेनी चाहिए।

हिन्दी—हिन्दी स्वयं एक-रूप भाषा नहीं है, वरन् आठ बोलियोंके समुदायको हिन्दीके नामसे पुकारा जाता है। इनमेंसे *बाँगरू*, *खड़ीबोली*, *ब्रज*, *कन्नौजी* तथा *बुन्देली* को भाषा-शास्त्री *पश्चिमी-हिन्दी* का समुदाय बताते हैं और *कोसली*, *बघेली* तथा *छत्तीसगढ़ी* को *पूर्वी-हिन्दी* का। ऐतिहासिक दृष्टिसे *पश्चिमी हिन्दी*का सम्बन्ध *शौरसेनी प्राकृत* से है, *पूर्वी हिन्दी*का *अर्धमागधी* प्राकृतसे। पहले हम पूर्वी हिन्दीपर विचार करेंगे।

पूर्वी-हिन्दी—(१) *कोसली* : *अवधी*—संयुक्त प्रान्तके *लखनऊ*, *उन्नाव*, *रायबरेली*, *सीतापुर*, *खीरी*, *फ़ैज़ाबाद* *गोंडा*, *बहराइच*,

सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, बाराबङ्की आदि ज़िलों तथा दक्षिण में गङ्गापार, इलाहाबाद, फ़तेहपुर, कानपुर, मिर्ज़ापुर के कुछ भागों की मातृभाषा अवधी है। बोलनेवालोंकी जन-संख्या लगभग एक करोड़ बयालीस लाख है। थोड़ा प्राचीन साहित्य भी है, जिसमें मलिक मुहम्मद जायसी-कृत 'पद्मावत' और गोस्वामी तुलसीदासकृत 'रामचरित मानस' अवधीके महान् महाकाव्य हैं। अवधीमें अभी जनपद आन्दोलनका सूत्रपात नहीं हुआ है तथापि स्वर्गीय बलभद्रप्रसाद दीक्षित, स्वर्गीय बुद्धिभद्र दीक्षित, चन्द्रभूषण और वन्शीधर ने अवधीमें उच्चकोटिकी आधुनिक कविता की है। ये लेखक अवधीको स्वतन्त्र भाषाके रूपमें विकास करनेके पक्षमें रहे हैं। स्वयं डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल कोसल जनपदमें अपनी योजना के अनुसार कार्य प्रारम्भ करनेके प्रयत्नमें हैं और अवधी साहित्य परिषद् की स्थापना करनेका विचार कररहे हैं।

(२) बघेली—अवधीके दक्षिण में बघेलीका क्षेत्र है। रीवाँ राज्य इसका केन्द्र है, किन्तु यह मध्य-प्रान्त के दमोह, जबलपुर, मौंडला तथा बालाघाटके ज़िलों तक फैलीहुई है। बोलनेवालों की संख्या छियालीस लाख है। बघेलीमें प्राचीन साहित्य थोड़ा ही है, परन्तु बघेलोंमें जनपद-चेतना कई वर्षोंसे फैलरही है। बघेलीके जनपद आन्दोलनकी माँगें अभी स्पष्ट नहीं बनपायी हैं, तथापि बघेले अपनेको एक जाति मानते हैं, ऐसा अनुमान किया जासकता है; तथा उनका जनपद आन्दोलन निकट भविष्य में ही बघेलीकी पृथक् सत्ताकी माँग करेगा, इसकी सम्भावनाएँ भी मौजूद हैं। रीवाँकी 'रघुराज साहित्य परिषद्' बघेलीकी उन्नतिकेलिए कार्य कररही है, और बघेली जनपद-आन्दोलनकी ओरसे एक पत्र 'बान्धव' भी निकलता है। लाल चन्द्रकीर्तिसिंह 'दयावान', लाल भानुसिंह बघेल और जगन्मोहन निगम आदि बघेली जनपद आन्दोलनके प्रमुख कार्यकर्त्ता हैं।

(३) छत्तीसगढ़ी—"छत्तीसगढ़ीको लरिया या खल्ताही भी कहते हैं। यह मध्यप्रान्त में रायपुर और बिलासपुर के ज़िलों तथा काँकेर, नन्दगाँव, खैरगढ़, रायगढ़, कोटिया, सरगुजा, उदयपुर तथा जशपुर आदि राज्योंमें भिन्न भिन्न रूपोंमें बोली जाती है।" बोलनेवालों की संख्या तैंतीस या अड़तीस लाखके लगभग है। थोड़ा पुराना साहित्य

है, कुछ अत्यन्त साधारण नया साहित्य भी है। छत्तीसगढ़ीमें अभीतक जनपद आन्दोलन नहीं पैदा हुआ, क्योंकि अधिकांश बोलनेवाले भिन्न-भिन्न रियासतोंमें बँटेहुए हैं और उनमें शिक्षाका प्रसार नहींके बराबर है। *श्यामाचरण दुबे* छत्तीसगढ़ीके लोक-साहित्यका संग्रह कररहे हैं। बिलासपुरके ए. आर. कॉलेजके प्रिन्सिपल डॉ० *बल्देवप्रसाद मिश्र* राहुलजीकी विचारधाराके समर्थक हैं और वे छत्तीसगढ़ीमें जनपद-चेतना जगानेका प्रयत्न कररहे हैं।

पश्चिमी हिन्दी—(१) *बाँगरू*—*जाटू* या *हरियानी* नामसे प्रसिद्ध बाँगरूबोली *पंजाबी* और *राजस्थानी* मिश्रित *खड़ीबोली* है। यह *दिल्ली*, *करनाल*, *रोहतक* और *हिसार* ज़िलोंमें और पड़ोसके *पटियाला*, *नाभा*, और *जींद* रियासतोंके गावोंमें बोलीजाती है। बोलनेवालोंकी संख्या लगभग बाईस लाख है। पानीपत और कुरुक्षेत्र इस बोलीकी सीमामें ही पड़ते हैं। बाँगरूमें न तो साहित्य है और न जनपद आन्दोलन ही।

(२) *ब्रजभाषा*—खड़ीबोलीके पूर्व कई शताब्दियों तक *ब्रजभाषा* हिन्दी साहित्यकी भाषा रहचुकी है। इसका प्राचीन काव्य-साहित्य अद्वितीय है। यह बोली *मथुरा*, *आगरा*, *अलीगढ़*के ज़िलों और *धौलपुर* रियासतमें बोलीजाती है। *गुड़गाँव*, *भरतपुर*, *करौली* तथा *ग्वालियर*के पश्चिमोत्तर भागमें; *बुलन्दशहर*, *बदायूँ* तथा *नेपाल* की तराईमें; *एटा* *मैनपुरी*, *बरेली*, *पीलीभीत* और *इटावा* ज़िलोंमें ब्रजभाषापर स्थानानुसार राजस्थानी, बुन्देली, खड़ीबोली, कन्नौजीका प्रभाव पड़ा है और बोलीका रूप मिलाजुला होगया है। ब्रजभाषाके बोलनेवालोंकी संख्या लगभग उन्नासी लाख है। *टर्की*, *बेल्जियम*, *हॉलैण्ड*, *हंगेरी*, *ऑस्ट्रिया*, *पुर्तगाल* आदि देशोंकी भाषाओंसे ब्रजभाषाके बोलनेवालोंकी संख्या ज्यादा है। *खड़ीबोली* थोड़े ही दिनोंसे *ब्रजभाषा* के साहित्यिक स्थानपर विराजमान हुई है। ब्रजभाषा-भाषियोंको अपनी भाषापर गर्व है और वे आजभी उसके अपने प्राचीन गौरवको विस्मृत नहीं करपाये हैं। '*ब्रजसाहित्य मण्डल*' की मथुरामें कई वर्ष पूर्व स्थापना भी होचुकी है और उसकी ओरसे '*ब्रज-भारती*' पत्रिका भी निकलतीरही है। डॉ० *वासुदेवशरण अग्रवाल* ब्रज-साहित्य-मण्डलके सभापति हैं और उसकी कार्यकारिणीमें हिन्दीके ख्याति-नामा लेखक *जैनेन्द्रकुमार*, *बाबू गुलाबराय*, *हरिशंकर शर्मा*, *सत्येन्द्र*,

गोपालप्रसाद व्यास, श्रीनारायण चतुर्वेदी, जवाहरलाल चतुर्वेदी व गोपालशंकर नागर, प्रभुदयाल मित्तल आदि हैं। इनमेंसे सत्येन्द्रजी, व्यासजी, हरिशङ्कर शर्मा आदि राहुलजीकी विचारधाराके विरोधी हैं। परन्तु अधिकांश व्यक्ति डॉ० अग्रवाल के जनपद कार्य-क्रमको स्वीकार करते हैं। मण्डलकी तरफ़से इस योजनाके अनुसार कुछ कार्य भी प्रारम्भ कियागया था। ब्रजभाषामें थोड़ा प्राचीन गद्य साहित्य भी है। वर्तमान कालमें अलीगढ़, आगरा और मथुरा के दर्जनों जन - कवि ब्रजभाषामें राष्ट्रीय जागरणके सुन्दर गीत और खंडकाव्य लिखकर जनताको उद्बुद्ध कररहे हैं।

बुन्देली—जैसा नामसे ही प्रकट है, बुन्देली बुन्देलखण्डकी भाषा है। 'झांसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भूपाल, ओरछा, सागर, नरसिंहपुर, सिवनी तथा होशंगाबाद में बुन्देली अपने शुद्ध रूपमें बोलीजाती है। दतिया, पन्ना, चरखारी, दमोह, बालाघाट तथा छिन्दवाड़ाके कुछ भागोंमें इसके कई मिश्रित रूप पायेजाते हैं।' बोलनेवालोंकी संख्या लगभग उनहत्तर लाख है। 'मध्यकालमें बुन्देलखण्ड साहित्यका प्रसिद्ध केन्द्र रहा है।' बुन्देली ब्रजभाषा के बहुत निकट है, परन्तु इधर कुछ दिनोंसे बुन्देलखण्डमें जनपद - चेतना बहुत तेज़ीसे जगी है। वे न केवल अपनी मातृभाषाके स्वतन्त्र विकासकी माँग करनेलगे हैं, वरन् पृथक् बुन्देलखंड प्रान्त निर्माणकी भी ज़ोरदार माँग कररहे हैं। इस प्रदेशके राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता भी इस माँगका समर्थन कररहे हैं। ब्यौहार राजेन्द्रसिंह जो पहले महाकोसल प्रान्त बनानेकी कमेटीके मन्त्री थे, बुन्देलखण्ड प्रान्त निर्माण आन्दोलनके भी अग्रगण्य नेता हैं। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी और जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी के सम्पादकत्वमें टीकमगढ़से निकलने वाला पाक्षिक-पत्र 'मधुकर' बुन्देली जनपद आन्दोलन और बुन्देलखण्ड प्रान्त निर्माण आन्दोलनका मुख - पत्र है। इस पत्रने बुन्देलखण्डमें जनपद-चेतना फैलानेमें सराहनीय कार्य किया है। कृष्णानन्द गुप्त के सम्पादकत्वमें बुन्देलीमें 'लोकवार्ता' नामसे एक त्रैमासिक पत्रिका टीकमगढ़से प्रकाशित होनेलगी है जिसमें बुन्देलखण्डी जनताके 'रहन-सहन, रीति-रिवाजों, उत्सवों, धार्मिक - विश्वासों, और संस्कारों तथा लोक-साहित्य और लोक-कलाओंका अध्ययन' रहता है। बुन्देली जनपदके अधिकांश कार्यकर्त्ता और साहित्य-सेवी राहुलजी की विचारधारासे सहानुभूति रखते

हैं। हिन्दीके राष्ट्रीय कवि *मैथिलीशरण गुप्त*, *सियारामशरण गुप्त*, उपन्यास लेखक *वृन्दावनलाल वर्मा* आदिकी मातृभाषा बुन्देली है।

कनौजी—*ब्रजभाषा* और *अवधी* के क्षेत्रोंके बीचमें *कनौजी* बोलीजाती है। "कनौजीका केन्द्र फरुख़ाबाद है किन्तु यह *हरदोई*, *शाहजहाँपुर* तथा *पीलीभीत* तक और दक्षिणमें *इटावा* तथा *कानपुर* के पश्चिमी भागमें बोलीजाती है। कनौजीको बोलनेवालोंकी संख्या पैंतालीस लाख है।" भाषा-शास्त्री कनौजीको ब्रजभाषाका ही एक उपरूप मानते हैं और उसे स्वतन्त्र बोली भी माननेको तैयार नहीं है। जोभी हो, कनौजीमें अपना साहित्य नहीं और न कहीं कनौजीमें जनपद-चेतना ही है कि उसका कोई पृथक् अस्तित्व ऊपर उभरकर सामने आये।

खड़ीबोली—*खड़ीबोली* जिसका साहित्यिक रूप आज *हिन्दी* और *उर्दू* के नामसे विख्यात है '*पश्चिमी रुहेलखण्ड*, *गङ्गाके उत्तरी दोआवा* तथा *अम्बाला जि़लेकी बोली है*।' इसके बोलनेवालोंकी संख्या लगभग तिरेपन या पैंसठ लाख है। उल्लेखनीय बात यह है कि इस प्रदेश की ग्रामीण खड़ीबोलीमें *फ़ारसी* - *अरबीके* शब्दोंका हिन्दी - समुदायकी अन्य बोलियोंकी अपेक्षा बहुत अधिक समावेश है। परन्तु ये शब्द शुद्ध तत्सम रूपमें कम प्रयुक्त होते हैं। ग्रामीण खड़ीबोलीके साथ वे अर्धतत्सम अथवा तद्भव रूपमें घुलमिल गये हैं। उन्हींको तत्सम बनानेसे खड़ीबोली *उर्दू* बनजाती है। इसका कारण यह है कि खड़ीबोलीका क्षेत्र मुस्लिम शासनके केन्द्र *दिल्ली* के निकट रहा है, अतः उसपर मुस्लिम-प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक पड़ा। आज जो *संस्कृत-प्रधान* रूप साहित्यिक खड़ीबोली का है, वह ग्रामीण बोलीसे बहुत दूर हटाहुआ है।

साहित्यिक खड़ीबोली '*हिन्दी*' के नामसे आज हिन्दी-समुदायकी आठ बोलियोंके क्षेत्रमें ही नहीं वरन् अहिन्दी भाषाओं, जैसे राजस्थानी, बिहारी और पहाड़ी भाषाओंके क्षेत्रोंमें तथा पञ्जाबीके क्षेत्रमें भी साहित्यिक भाषा बनीहुई है एवं प्राथमिक शिक्षाका माध्यम है।

हिन्दी - समुदायकी आठ बोलियोंकी स्थितिका विश्लेषण करनेसे यह स्पष्ट है कि खड़ीबोलीके अतिरिक्त और जो सात बोलियाँ हैं वे भाषाशास्त्रकी दृष्टिसे किसी भी प्रकार *खड़ीबोलीकी बोलियाँ* नहीं कही जासकतीं, वे *स्वतन्त्र बोलियाँ* हैं जिस प्रकार *खड़ीबोली एक स्वतन्त्र बोली*

है। केवल एक दूसरेके क़ाफ़ी निकट होनेके कारण ही इन सब बोलियों को अलग-अलग भाषाएँ न मानकर उनके समूहको '*पश्चिमी*' और '*पूर्वी*' *हिन्दी* का नाम दियाजाता है।

डॉ० *धीरेन्द्र वर्मा* तथा अन्य भाषाशास्त्री इन बोलियोंके इतिहासका उल्लेख करतेहुए जब यह कहते हैं कि इनमेंसे कभी *ब्रजभाषा* साहित्यकी भाषाके स्थानपर आसीन थी तो अब *खड़ीबोली* उस स्थानको सुशोभित कररही है और इस परिवर्तनको ब्रज तथा अन्य बोलियोंने सहर्ष स्वीकार करलिया है, तो वे इतिहासका ग़लत विवेचन कर हमारे सामने रखते हैं। किसी आन्तरिक वैशिष्ट्यके बलपर अथवा अन्य बोलियोंके जनपदोंकी सर्व-सम्मतिसे कोई बोली साहित्यिक भाषाके पदपर पहुँची हो, ऐसा कभी नहीं हुआ। इसमें बाहरी और राजकीय प्रभाव ही निर्णायक रहे हैं। डॉ० वर्मा या अन्य लोग इस तथ्यको स्वीकार करके यह निष्कर्ष निकालनेसे हिचकिचाते हैं कि चूँकि पश्चिमी हिन्दीकी बोलियाँ, स्वतन्त्र बोलियाँ हैं, और खड़ीबोलीके पूर्व ब्रज भी साहित्यकी भाषा रहचुकी है, अतः संभव है जनपद-चेतना उत्पन्न होनेके पश्चात् इन सभी बोलियों में पुनः साहित्यकी भाषा बननेकी इच्छा प्रबल होउठे, केवल इस बार ऐसा न होगा कि एक साहित्यकी भाषा बनकर दूसरी भाषाओंके क्षेत्रमें भी राज्य करनेलगे; ऐसी साम्राज्य-कामनासे प्रेरित उनकी इच्छा न होगी, बल्कि इस बार वे स्वयं अपने घरकी रानी बननेका दावा करेंगी और इस दावेको वे पूरा भी करा सकेंगी, क्योंकि ये बोलियाँ आत्मनिर्भर होसकती हैं। वे खड़ीबोलीकी दूधपीती बेटियाँ नहीं हैं बल्कि वयस-प्राप्त बहनें हैं और स्वयं अपनी गृहस्थी बसानेका निश्चय करसकती हैं। यदि ऐसा हुआ-और बुन्देली, बघेली, ब्रज आदि भाषा-क्षेत्रोंके जनपद आन्दोलन हमें ऐसा होनेका संकेत देरहे हैं तो फिर खड़ीबोलीको अपने साम्राज्यका पश्चिमी हिन्दीके क्षेत्रमें भी विघटन करके अपने जनपदसे ही सन्तोष करना पड़ेगा! भविष्य पुराने इतिहासकी ही लकीर नहीं पीटेगा—इतिहासके क्षितिजपर नयी शक्तियों, नये विचारों, नये नैतिक-सम्बन्धोंका उदय होगया है जिनके आलोकमें नहाकर हमारा नव-संस्कार होरहा है।

उक्त विवेचनमें हमने भाषाशास्त्रकी मान्य मीमाओंके अन्दर ही अपनेको सीमित रखकर '*हिन्दी-साम्राज्य*' के विभिन्न '*भाषा-उपनिवेशों*'

की आन्तरिक परिस्थितियोंपर दृष्टि डाली है। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जीका सुझाव मानकर हमने राहुलजीकी तरह अत्यन्त सूक्ष्म विभाजन करनेका प्रयत्न नहीं किया है और न उनकी तरह अनेक छोटे जनपदोंकी बोलियोंको स्वतन्त्र भाषाएँ मानकर (जैसे पञ्चाली, वात्सी, चेदिका, काशिका वज्जिका, अङ्गिका आदि) मातृभाषाओंके प्रश्नको और भी जटिल बनानेकी चेष्टा की है, परन्तु इस विवेचनसे इतना तो स्पष्ट है कि हिन्दीका वर्तमान साम्राज्य '*ताशके घर*' से अधिक मज़बूत नहीं है, क्योंकि जिस आधारपर वह टिका है वह आधार समानता, स्वतन्त्रता और न्यायका नहीं है वरन् राजकीय प्रोत्साहन, पक्षपात, और अन्यान्य भाषाओंके असमान विकास अथवा पिछड़ेपनके कारण ही यह '*ताशका घर*' खड़ा हुआ है। राष्ट्रीय आन्दोलनने भी पहले हिन्दीको ही आगे बढ़ाया, परन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन से ही अब अन्य भाषाएँ भी प्रेरणा लेरही हैं और यदि वर्तमान आधारको हटाकर न्याय, समानता और स्वतन्त्रताका नया आधार न प्रदान किया गया तो भारतके स्वतन्त्र होनेपर हिन्दीके साम्राज्यको ढहते देर न लगेगी। यह बड़ी द्वन्द्वमूलक परिस्थिति है और हमारे विचारकोंको जनपदीय समस्यापर अपने विचार प्रकट करते समय अपने शब्दोंके अर्थारोपोंपर खूब विचार करके देखलेना चाहिए कि कहीं वे जोकुछ कहरहे हैं वह वास्तवमें हिन्दी-क्षेत्रोंके करोड़ो नर-नारियोंकी सांस्कृतिक (तथा राजनीतिक) निरन्तर गुलामीका चार्टर तो नहीं है। हिन्दी हित और जनपदीय भाषाओं का हित दो विरोधी स्वार्थ नहीं हैं, जिनमें सामंजस्य सम्भव ही न हो। जो इस दृष्टिसे देखनेके आदी हैं वे लाख चेष्टा करनेपर भी जनताके हितमें नहीं सोच सकते।

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जीके सुझाव

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जीने पक्षपातरहित दृष्टिसे मातृभाषाओं के प्रश्नपर विचार किया है। उन्होंने मातृभाषाओंको या घरेलू बोलियोंको शिक्षा, साहित्य तथा बाहिरी जीवनकी भाषाके पदपर उन्नति करनेका निर्णय करनेके पूर्व छै विषयोंपर ध्यान देनेकी सम्मति दी है। (१) *व्याकरण या भाषा-तत्त्व* (२) *भाव प्रवणता* (३) *आवश्यकता* (४) *सम्भाव्यता* (५) *सामाजिक योग-सूत्र* और (६) *प्रवृत्ति*।

(१) *व्याकरण या भाषा-तत्त्व*—अर्थात् भाषा - तात्त्विक दृष्टिसे पृथक् भाषा होना। (२) *भावप्रवणता*—अर्थात् बोलनेवालोंमें अपनी भाषाके प्रति पर्याप्त ममता-बोध होना। (३) *आवश्यकता*—अर्थात् जो साहित्य या शिक्षाका माध्यम अब चालू है उसे अपनानेमें अनपढ़ लोगों को तकलीफ़ होती है, लोग उसे दिक़्क़त समझते हैं। (४) *सम्भाव्यता*—अर्थात् कहाँतक मातृभाषाकी साहित्यिक स्थापना सम्भव है, उसमें प्राचीन साहित्य है अथवा नहीं; यदि साहित्य है तो जागृति आसानीसे सम्भव होगी, यदि नहीं तो कठिनाई होगी। (५) *सामाजिक योग-सूत्र*—अर्थात् ऐतिहासिक और सामाजिक योगके फलस्वरूप वह किसी अन्य भाषाकी उपभाषा तो नहीं बनगयी है। (६) *प्रवृत्ति*—अर्थात् बोलनेवालोंमें स्वातन्त्र्य-बोध अधिक है अथवा मिलन-बोध। यदि स्वातन्त्र्य-बोध अधिक है तो उपभाषाएँ तक भाषा-तात्त्विक भेद न होनेपर भी स्वतन्त्र भाषा होनेका प्रयत्न करेंगी और यदि मिलन-बोध अधिक है तो स्वतन्त्र भाषा भी किसी अन्य भाषाका एकाधिपत्य स्वीकार करसकती है, जैसे प्राचीन कालमें संस्कृतका।

किसी भाषाके भाग्यका निर्णय करनेमें डॉक्टर चटर्जीके बताये हुए सुझाव उपयोगी होसकते हैं, परन्तु इन सुझावोंमें दो-एक बातें ऐसी संदिग्ध रहजाती हैं जिनके कारण परस्पर-विरोधी विचारोंसे प्रेरित व्यक्ति उनकी व्याख्या अपने-अपने अनुकूल करसकते हैं। *भाषा-तत्त्व* की कसौटी तो वैज्ञानिक है और उसमें खेंचातानीकी ज़्यादा गुंजाइश नहीं है, परन्तु *भाव-प्रवणता*, *आवश्यकता*, *सम्भाव्यता*, *सामाजिक-योगसूत्र* और *प्रवृत्ति* का स्थायी रूपसे निर्णय करना असम्भव है। ऐतिहासिक कारणोंसे भाषाओंका असमान विकास हुआ है। अतः वर्तमानको ही उनकी चिरंतन स्थिति मानकर कोई निर्णय करलेना ग़लत होगा, क्योंकि *सामाजिक योग-सूत्र* और *प्रवृत्ति* किसी भी समय बदल सकती हैं। फिर किसी भाषाकी *सम्भाव्यता* के बारेमें भविष्यवाणी करके यह कहना कि चूँकि उसमें प्राचीन साहित्य नहीं है, अतएव उसकी साहित्यिक स्थापना नहीं होसकती, उसको बोलनेवाली जातिके भावी विकासकी सम्भावनाओं को हीन करना है। वस्तुतः ऐसी कोई भाषा नहीं है—चाहे उसकी अभी तक लिपि भी न बनी हो—जिसमें लोक-गीतों और लोक-वार्ताओंका सजीव

प्राणवान् साहित्य न हो। मनुष्य अपनी अर्ध-सभ्य अवस्थामें भी जैसा कुछ सोचता और अनुभव करता है उसको और अपने भावोंको अभिव्यक्ति देनेकी सतत् चेष्टा करता रहता है। उसमें संवेदन और अनुभूतियों की जागृति अक्षर-ज्ञानके उपरान्त ही नहीं पैदा होती। इस प्रकार प्रत्येक जातिके पास अज्ञात कवियों और कथाकारों-द्वारा रचित लोक-साहित्यकी अक्षय पूँजी है और किसी भी जातिकी विशिष्ट प्रतिभाकी विकास-संभावनाएँ जाँचनेकेलिए इस पूँजीकी ओर देखना चाहिए न कि केवल ज्ञातनामा कवियों और लेखकोंकी काग़ज़पर लिखी कृतियोंकी ओर। इससे हमारे अन्दर प्रत्येक भाषा और जातिके जीवित रहनेकी औचित्य-भावनाका उदय होगा और इससे हम श्रेष्ठ और निकृष्ट वर्गोंमें किये अवैज्ञानिक जाति-भेद की दलदलमें गिरनेसे बचजायेंगे। *भावप्रवणता* और *आवश्यकता*का निर्णय तो तभी होसकता है जब प्रत्येक भाषा और जातिका ऐतिहासिक विकास समान रूपसे हुआ हो। और उसको अपने आत्म-विकासकी समान सुविधाएँ प्राप्त हों, वह पूर्ण रूपसे स्वाधीन हो, ताकि कोई प्रचारकी आँधी चलाकर उसके *ममता-बोध* को धूलसे न ढँकदे। आजकी परिस्थितिमें ऐसा असम्भव है। राष्ट्रीय जागरण भी सर्वत्र समान रूपसे नहीं हुआ है। कोई जाति पहिले जागृत होकर आगे बढ़गयी, कोई बादमें जागृत होकर मध्यमें पड़ी है, और कोई अभी बिल्कुल अन्धकारमें डूबी है और कहीं भविष्यमें ही उससे बाहर निकलकर अपने अस्तित्वकी घोषणा करपायेगी। ऐसी स्थितिमें यदि डॉक्टर चटर्जीके बतायेहुए नियमोंका उदारता-पूर्वक प्रयोग न कियागया, जिसकी सम्भावना ही अधिक है, तो फिर निरंकुशता की ही अन्तिम विजय होगी। डॉ० चटर्जीकी इस कसौटीकी सबसे बड़ी कमी यह है कि वह वर्तमान स्थितिको ही थोड़ा-सा इधर-उधर उलट-फेर कर क़ायम रखनेतक सीमित है। कोई व्यापक विचारधारा अथवा सिद्धान्त उसके मूलमें नहीं है जो आमूल ऐतिहासिक परिवर्तनोंके फलाफलका निर्णय करसके। हमारी दृष्टिमें भाषा-शास्त्रियोंके सम्मुख यह प्रश्न नहीं है कि वे विभिन्न भाषाओं और इस प्रकार उनको बोलनेवाली विभिन्न उन्नत-अनुन्नत जातियोंके भाग्य-निर्णायक बनकर अपने बनाये नियमोंके आधारपर किसी भाषाके जीवित रहने अथवा जीवित न रहनेका फ़ैसला करें--यह भाषा-शास्त्र की कार्य-सीमाके बाहरकी बात है। भाषा शास्त्रियोंका कर्तव्य केवल इतना है कि वे अपने देशकी विभिन्न भाषाओं और भाषा-क्षेत्रोंकी खोज करके यह

बताएँ कि तथोक्त भाषाओंकी लिपि, व्याकरण, साहित्य, शिक्षा सम्बन्धी समस्याएँ किस प्रकार हल की जासकती हैं। प्रत्येक छोटी - बड़ी भाषाको जीवित रहने और अपनी साहित्यिक स्थापना करनेका अधिकार है, केवल इतना ही नहीं; जिनकी साहित्यिक स्थापना नहीं हुई है, उनकी साहित्यिक स्थापनामें सक्रिय सहयोग देना भाषा - शास्त्रियों और भाषाओंके साहित्य-सेवियोंका जनवादी कर्तव्य है। अतः यदि भाषाशास्त्री किसी बातके निर्णायक होसकते हैं तो केवल इस बातके कि छोटी या अनुन्नत भाषाकी शीघ्रातिशीघ्र साहित्यिक स्थापना किस विधिसे कीजाय कि वह निकट भविष्यमें ही प्रारम्भिकसे लेकर उच्च शिक्षा तककी माध्यम बनसके।

तीन सिद्धान्त : तीन उद्देश्य

इतना तो निर्विवाद है कि प्रगतिवादी जनपदीय भाषाओंके स्वतंत्र विकासके पूर्ण समर्थक हैं और इसे वे राष्ट्र और हिन्दीकी सांस्कृतिक उन्नति का एकमात्र मार्ग समझते हैं। परन्तु ऐसे कौनसे सिद्धान्त हैं, कौनसे उद्देश्य हैं जो प्रगतिवादियोंकी दृष्टिके सामने हिन्दी - क्षेत्रोंकी १६-२० भाषाओंके विकासकी एक सुविशाल समन्वित तस्वीर खोलदेते हैं ? निश्चय ही अब हम उक्त रिपोर्टके आधारपर इस विचारधारा, सिद्धान्त, उद्देश्य और कार्य-क्रमकी अविलम्ब स्थापना करके बहसके परिणामोंको सूत्री-बद्ध करसकते हैं।

प्रगतिवाद एक सांस्कृतिक आन्दोलन है। सांस्कृतिक प्रश्नोंपर उसके दृष्टिकोणकी विधायक, मूलभूत विचारधाराको हम तीन सिद्धान्तोंमें बाँट सकते हैं :

(१) जातियोंके आत्मनिर्णयके अधिकारका सिद्धान्त;
(२) सांस्कृतिक स्वाधीनताका सिद्धान्त; और
(३) प्रगतिवादका सिद्धान्त।

जनपदीय भाषाओंका प्रश्न एक सांस्कृतिक प्रश्न है, अतः प्रगतिवादकी विचारधाराके उपरोक्त तीनों सिद्धान्त पृथक् और सम्मिलित रूपमें इस प्रश्नका समाधान निर्दिष्ट करनेमें हमारा पथ-प्रदर्शन करते हैं और उसके लक्ष्यकी रूपरेखा भी स्थिर करते हैं। जनपदीय प्रश्नपर, हमारी सम्मतिमें, प्रगतिवादके तीन उद्देश्य : कार्यक्रम होसकते हैं—

(१) जन-भाषा;

(२) जनशिक्षा; और

(३) जन-साहित्य-संस्कृति ।

ये सिद्धान्त और उद्देश्य मनुष्यकी सहस्रों वर्षकी स्वातन्त्र्य कामनाके प्रतीक हैं और सांस्कृतिक क्षेत्रमें जनवादकी श्रेष्ठतम परम्पराका सूत्रपात करते हैं। जनपदीय भाषाओंके विरोधियोंसे हमारा अनुरोध है कि वे भी एकबार निष्पक्ष भावसे इन सिद्धान्तों और उद्देश्योंपर विचार करें और इनके आलोकमें अपना हृदय-मन्थन करके देखें ।

१. जातियों के आत्मनिर्णयके अधिकारका सिद्धान्त

जातियोंके आत्मनिर्णयके अधिकारकी चर्चा अब हमारे देशमें होने लगी है। विचारशील लोग इस परिणामपर पहुँचरहे हैं कि अपने देशकी स्वाधीनताका व्यापक आधार इस सिद्धान्तको ही बनाना अभीष्ट होगा। हमारे देशके राष्ट्रीय आन्दोलनने भी अब आंशिक रूपसे इस सिद्धान्तको स्वीकार करलिया है। प्रगतिवादियोंके निकट जनपदीय भाषाओंके प्रश्नका समाधान इस सिद्धान्तका आधार लिये बिना असम्भव होगा । जन-भाषा, जन-शिक्षा और जन-साहित्य - संस्कृतिका लक्ष्य उस समयतक आकाशकुसुम बना रहेगा जबतक कि इस सिद्धान्तपर अमल न कियाजायगा ।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल और राहुलजीने मातृभाषाओंको उनके जनपदोंसे सम्बद्ध किया है। डॉ० अग्रवालने जनपदका अर्थ केवल 'ग्रामोंका समूह' ही बताया है ।परन्तु ऐतिहासिक अर्थमें भी केवल 'ग्रामों का समूह' बिना आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक जीवनकी इकाई हुए अपने पृथक् जनपद-अस्तित्वका औचित्य नहीं रख सकता था। विभिन्न ग्राम - समूहोंका विशिष्ट जनपद - नामकरण तभी हुआहोगा जब उनका विशिष्ट जातीय-जीवन रहा होगा। जनपद शब्दकी प्राचीनता और उपयुक्तता के कारण प्रगतिवादी 'जनपद' शब्दका आज भी प्रयोग करना वांछनीय और श्लाघ्य समझते हैं। परन्तु वे 'जनपद' शब्दके अर्थोंको संदिग्ध और अनिश्चित न छोड़कर उसकी एक निश्चित आधुनिक परिभाषा देना आवश्यक समझते हैं ताकि लोग उससे भिन्न-भिन्न अर्थ न लगातेजायँ। प्रगतिवादियोंके अनुसार 'जनपद' *एक ऐसा भूमिखंड है जिसपर बसनेवालोंकी एक ही भाषा हो, एक ऐतिहासिक परम्परा हो, एक*

संस्कृति हो और एक आर्थिक - सामाजिक जीवन हो, रहा हो या भविष्यमें भी होसकता हो—अर्थात् वह जन - समुदाय एक विशिष्ट जाति हो।

अतएव भाषा, इतिहास, संस्कृति और आर्थिक जीवनकी एकताके आधारपर फिरसे प्रादेशिक विभाजनका प्रश्न उठेगा कि इन मातृभाषाओंका पृथक् - पृथक् क्षेत्र कहाँसे कहाँतक समझाजाय। जातियोंके आत्म-निर्णयके अधिकारके सिद्धान्तके आधारपर ही इस प्रकारके भाषा-मूलक जनपदोंमें मध्यदेशका पुनः क्षेत्रविभाजन प्रतिपादित किया जासकता है। अपने-अपने क्षेत्रोंमें ये भाषा-जनपद अपना राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक जीवन सङ्गठित करनेकेलिए स्वतन्त्र हों, इसकी अनिवार्यता भी स्वीकार की जासकती है। परन्तु मध्यदेशके ये पृथक् भाषा-जनपद स्वतंत्र राष्ट्र होंगे, अथवा एक विशाल मध्यदेशीय संयुक्त राष्ट्रकी विभिन्न स्वायत्त शासन-प्राप्त इकाइयोंके रूपमें रहेंगे, यह एक राजनीतिक प्रश्न है और उसपर कोई मत प्रकट करना हम अनपेक्षित समझते हैं। इन क्षेत्रोंकी विधान-निर्मात्री-समितियाँ ही इसका निर्णय करसकेंगी। सांस्कृतिक दृष्टिसे हम केवल इतना ही प्रस्ताव करसकते हैं कि भाषागत आधारपर मध्यदेश का प्रादेशिक विभाजन कियाजाय। कदाचित यह तभी संभव होगा जब भारत स्वतंत्र हो और कोई सरकारी कमीशन पुनः समूचे मध्यदेश (तथा अखिल भारतवर्ष) के भाषा-क्षेत्रोंका निर्णय करनेकेलिये भौगोलिक जाँच या सर्वे करे और तदन्तर क्षेत्रविभाजन करदिया जाय। उस समय सम्भव है कि अनेक नयी जातियाँ निकलपड़ें और राहुलजीने पंचाली, वात्सी, चेदिका, काशिका, वज्जिका, अंगिका आदि जिन जनपदोंका उल्लेख किया है और जिनको हमने उक्त विवेचनमें पृथक्-भाषा-जनपद नहीं स्वीकार किया है, उस समय तक अपने पृथक् अस्तित्वकी माँग करनेलगें और केवल भाषा-शास्त्रीय कसौटी ही उनकी माँगको ठुकरानेकेलिए पर्याप्त न रहजाय। अतः बिना एक कमीशनके इस प्रश्नका अन्तिम निर्णय नहीं किया जासकता। परन्तु तब तककेलिए ग्रियर्सनके 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इण्डिया' [Linguistic Survey of India] में निर्दिष्ट भाषा - क्षेत्रोंको ही स्वीकार करके हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन अपने विधान मेवाती, मालवी, जयपुरी, मारवाड़ी, मैथिली, मगही, भोजपुरी, नेपाली, कुमाऊँनी, गढ़वाली, पश्चिमी पहाड़ी

(जौनसारी, रवाँईली, कुमाउँ, नेपाली आदि), मैथिली, कोसली, छत्तीसगढ़ी, ब्रज, बुन्देली, कन्नौजी, कौरव और मालवीभाषीके १६ भाषा-क्षेत्रोंके पृथक् अस्तित्वको स्वीकार करते और इन भाषा-जनपदोंके आधारपर ही हिन्दी-साहित्य सम्मेलनके लिए प्रतिनिधि चुने जानेका नियम बनाये। इस प्रकारका विकेन्द्रीकरण सम्मेलन और इन भाषा-जनपदों, दोनोंके लिए सुविधाजनक होगा। इन जनपदोंमें स्थित प्रतिनिधि-सम्मेलन आवश्यकताओंके अनुसार साहित्य-प्रचारका प्रबन्ध अधिक सुगम होगा और जन-भाषा, जन-शिक्षा और जन-साहित्यके उद्देश्योंकी पूर्तिके लिए विशेष सहयोग जुटाना भी सम्भव होगा।

अन्तमें, भाव प्रवणता, आदर्शपरता, सम्भाव्यता और प्रवृत्तिकी कमीसे मानकर जो कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी, जातियोंके भाग्य-निर्णयके अधिकारको माननेसे कठिनाइयाँ भी नहीं उठेंगी। किस जनपदकी भाषाको जीवित रहनेका अधिकार है, किसको नहीं, इस प्रकारके जनवाद-विरोधी विवादको बढ़ाना और सन्देहोंको स्थान करनेका यही एकमात्र उपाय है। तब ऐसी दुर्भावनाओंको पनपनेका अवसर ही नहीं मिलेगा कि एक दल उठकर कहे कि अमुक भाषाको जीवित रहनेका अधिकार नहीं है, और न तब दूसरी स्वाभाविक प्रतिक्रियाको ही सिर उठानेका मौका मिलेगा। प्रत्युत एक जनवादी धारामें हम प्रत्येक उन्नत-अनुन्नत भाषाको पनपने और उसकी साहित्यिक स्थापना करनेका अवसर देंगे। भाग्य-निर्णयके अधिकारका सिद्धान्त जातियोंके भाईचारेका पूर्वांग सिद्धान्त है।

२. सांस्कृतिक स्वाधीनताका सिद्धान्त

जातियोंके भाग्य-निर्णयके सिद्धान्तके समान ही सांस्कृतिक स्वाधीनताका सिद्धान्त भी अत्यन्त व्यापक सिद्धान्त है। इसके दो पक्ष हैं। इस सिद्धान्तको ही मानकर राष्ट्रीय कांग्रेसने 'अल्प-संख्यक जातियों और विभिन्न भाषाक्षेत्रोंकी संस्कृति-भाषा और लिपिकी सुरक्षा' का दायित्व अपने ऊपर लिया है। जन-भाषा, जन-शिक्षा और जन-साहित्यके उद्देश्योंकी पूर्तिके लिए इस सिद्धान्तको स्वीकार करना अनिवार्य है, कदाचित् इतना तो स्पष्ट हो चुका होगा। विभिन्न भाषा-जनपदोंको यदि अपने-अपने क्षेत्रोंमें पूर्ण सांस्कृतिक स्वाधीनता न हुई तो वे कभी उन्नति न कर सकेंगे, यह भी असंदिग्ध है। सांस्कृतिक स्वाधीनताके अर्थ हैं कि वे कचहरियोंमें, राजकीय

व्यवहारमें, शिक्षालयोंमें और सांस्कृतिक आयोजनोंमें—जैसे रेडियो, सिनेमा, थियेटर आदिमें—अपनी भाषाका प्रयोग करनेको पूर्ण स्वतन्त्र हों। यदि उन्हें यह स्वतन्त्रता न मिली तो मातृ-भाषाएँ मृत-भाषाएँ ही बनी रहेंगी और विद्वानोंके निकट पुरातत्त्वकी दृष्टिसे ही महत्त्व रखेंगी। राष्ट्र-भाषा हिन्दीको ही तब अखण्ड भाषाके उन्मादमें इन जनपदोंकी मातृभाषा बनानेका प्रयत्न होगा और इस प्रकार जो आज 'भाषाओंका विशाल कारागार' है, भविष्यमें भी अक्षुण्ण बना रहेगा और जनताको कभी सौ फ़ीसदी शिक्षित न बनाया जासकेगा। उदारचेता विचारक शिक्षा-प्रसारकी योजनाएँ बनाते रहेंगे, पर वे योजनाएँ कभी सफल न होसकेंगी। दूसरी ओर हिन्दी-साम्राज्य स्थापित करनेका उन्माद इस सीमा तक भी पहुँच जानेकी सम्भावना है कि जब इन भाषा-जनपदोंकी जातीय विशिष्टताओंको नष्ट करनेकी खुलेआम घोषणाएँ की जानेलगें और इसका स्वाभाविक परिणाम यह हो कि घोर प्रतिक्रिया की गोदमें इन जनपदोंकी जातीय चेतना जागे और वहाँकी पुरोगामी, सामन्ती और पूँजीवादी शक्तियाँ, जनपदोंकी आत्मनिर्णयके अधिकार और सांस्कृतिक स्वाधीनताकी न्यायोचित भावनाको अत्यन्त संकीर्ण पृथकत्वकी भावनामें परिणत करनेमें समर्थ होजायँ और इस प्रकार हिन्दी और इन मातृभाषाओंमें स्थायी विग्रहके बीज उगनेलगें। ऐसी स्थितिमें जन-साहित्यके स्थानपर ऐसे साहित्यकी रचनाकी प्रवृत्ति ज़ोर पकड़े जिसमें अपनी-अपनी जनपदीय संस्कृति और इतिहासको मिथ्या गौरवसे अतिरञ्जित किया जाय और एक वैज्ञानिक सांस्कृतिक दृष्टिकोणके स्थानपर अंध-विश्वास, मिथ्याभिमान और जातीय अवसरवाद साहित्य और संस्कृतिका आधेय बनजाय। साहित्य-सम्मेलन और उसके अनेक कार्यकर्त्ताओंने अबतक जिस संकीर्ण मनोवृत्तिका परिचय दिया है, उसने वातावरणको काफ़ी विषैला बनाया है परन्तु फिर भी जनपदीय कार्यकर्त्ताओंने असाधारण धैर्य्य और संयम दिखाया है। सम्मेलनके विचारक और कार्यकर्त्ता यदि इतिहासकी साक्षीसे इस तथ्यको हृदयंगम करलें कि सांस्कृतिक स्वाधीनताके सिद्धान्तको स्वीकार किये बिना देशकी सर्वतोमुखी सांस्कृतिक प्रगति नहीं होसकती, तो विग्रहके बीजको कभी उर्वर धरती न मिले।

परन्तु साथ ही भाषा-जनपदोंके कार्यकर्त्ताओंको भी सांस्कृतिक स्वाधीनताके सिद्धान्तके व्यापक अर्थोंको समझकर अपनी चेतनाका नया

संस्कार करना होगा। जिस भाषागत तथा भौगोलिक एकता अथवा अखंडता के आधारपर जातियोंके आत्मनिर्णयके सिद्धान्तका प्रतिपादन किया जाता है, वह आधार भी सर्वथा अविभाज्य और अवंचक नहीं है। प्रत्येक जनपद में अनेक ऐसे छोटे-छोटे जनसमूह बसते हैं जिनका धर्म, भाषा, सांस्कृतिक-स्तर, रीति-रिवाज, रूढ़ि-परम्पराएँ, रहन-सहन अपने जनपद-विशेषकी भाषा, जाति और इतिहास-परम्परासे सर्वथा भिन्न हैं। उदाहरणकेलिए हिन्दी क्षेत्रोंके समस्त जनपदोंमें मुसलमान काफ़ी संख्यामें बसते हैं, और वे अपनी मातृभाषा उर्दू बतलाते हैं—कमसे कम नगरोंके मुसलमानोंकी मातृभाषा तो उर्दू ही है। दफ़्तरोंमें अथवा उद्योग-धंधोंमें पंजाबी, गुजराती, मद्रासी, बङ्गाली, बिहारी, मराठी आदि अनेक जातियोंके लोग प्रत्येक भाषा-जनपदके क्षेत्रमें लगेहुए हैं और वे अपने परिवारोंके साथ वहाँ बसते हैं। सम्भव है अनेक जनपदोंमें दूबूड़ी भाषाके बोलनेवाली डोम और जिप्सी जातियाँ भी यत्र-तत्र बिखरी हों। ऐसी स्थितिमें आत्मनिर्णय का अधिकार और सांस्कृतिक स्वाधीनता पानेका यह अर्थ नहीं होगा कि हठपूर्वक यह कहाजाय कि किसी भाषा-जनपद विशेषकी सीमामें केवल उस जनपदकी भाषा ही शिक्षाका माध्यम होगी, उसीका एकच्छत्र राज्य होगा, और बाहरसे आकर बसीहुई विभिन्न अल्प-संख्यक जातियोंको उनकी अपनी मातृभाषाओंमें शिक्षा नहीं दीजायगी। ऐसा सोचना साहित्य सम्मेलन के तर्कको ही अपनालेना होगा। जन-शिक्षाकी योजना बनाते समय प्रत्येक भाषा-जनपदको स्वयं अपने जनपदकी विस्तृत सर्वे करनी पड़ेगी और यह देखना होगा कि किन-किन स्थानोंपर, नगरोंमें अथवा ग्रामोंमें किसी अन्य मातृभाषाके बोलनेवाले कमसे कम इतनी संख्यामें रहते हैं कि उनके लिए उनकी भाषामें प्राथमिक और यदि आवश्यक हो तो पृथक् ही माध्यमिक अथवा उच्च शिक्षाका भी प्रबन्ध कियाजाय। किसी छोटीसे छोटी, यत्र-तत्र बिखरी अथवा खानाबदोशोंका जीवन व्यतीत करनेवाली जातिसे भी उसकी मातृभाषाको छुड़ानेका प्रयत्न जनवाद और सांस्कृतिक स्वाधीनता के सिद्धान्तोंके मूलपर आघात करेगा, इस सत्यको भाषा-जनपदोंके कार्यकर्त्ताओंको हृदयंगम करलेना चाहिए। वैज्ञानिक नृशास्त्र उच्च और निम्न—इस प्रकारका फ़ासिस्ती जातिभेद नहीं स्वीकार करता, अतः केवल संख्याकी अल्पता अथवा विजातीयताके कारण किसीभी जाति या भाषा समूहको

सांस्कृतिक स्वाधीनताके अधिकारसे वंचित नहीं किया जासकता। इस प्रकार सांस्कृतिक स्वाधीनताका सिद्धान्त विभिन्न भाषाओं और संस्कृतिओंमें परस्पर समानता और आदर-भाव स्थापित करनेका उदार सिद्धान्त है।

३. प्रगतिवादका सिद्धान्त

भाषा-जनपदोंमें जन-भाषा, जन-शिक्षा और जन-साहित्य-संस्कृति के निर्माणमें प्रगतिवादका सिद्धान्त प्रेरक-शक्ति और पथ-प्रदर्शकके रूपमें क्यों अभिप्रेत है, इसका उत्तर सरल है। प्रगतिवाद एक वैज्ञानिक, जनवादी दृष्टिकोण है। प्रत्येक भाषा-जनपदके कार्यकर्त्ताओंके सम्मुख यह प्रश्न उठेगा अथवा उठना चाहिए कि उनके जनपदकी भाषाकी साहित्यिक स्थापना, उनके जनपदमें सार्वजनीन शिक्षाका प्रबन्ध और उनके जनपदीय साहित्य-संस्कृतिके निर्माणका कार्य अनियमित-अनियन्त्रित-अराजक गतिसे आगे बढ़े अथवा किसी व्यापक, वैज्ञानिक दृष्टिकोणके आधारपर योजनानुसार सङ्गठित कियाजाय, ताकि अल्पसे अल्प कालमें ही उनकी भाषा यथेष्ट उन्नति कर जाय, शिक्षाका प्रसार अपूर्व गतिसे आगे बढ़जाय और साहित्य-संस्कृति आधुनिक और शक्तिशाली होजाय। हमारा दृढ़ मत है कि पहला मार्ग जोखिमका है। भाषा-जनपदोंकी प्रगतिको अवसरपर छोड़देना हानिकर भी होसकता है और जटिल समस्याएँ भी पैदा करसकता है; फिर, ऐसे अनेक पिछड़े जनपद हैं जिनमें प्राचीन साहित्य नहीं है। अतः भाषाका साहित्यिक संस्कार करते समय किसी वैज्ञानिक, जनवादी दृष्टिकोणके अभाव में बहुत संभव है यह प्रवृत्ति ज़ोर पकड़े कि साहित्यकी भाषाको बोलचाल की भाषासे एकदम भिन्न रूप देनेकी चेष्टा कीजाय, और इससे भाषा कृत्रिम बनजाय। संभव है शिक्षा-प्रणाली, पाठ्य-पुस्तकें और पाठ्य-क्रमको ऐसा बनानेकी प्रवृत्ति हो जो पुरानी लकीरोंको ही पीटता है और जनताको कम-से कम समयमें अधिकसे अधिक वैज्ञानिक और उच्चकोटिका ज्ञान देनेकी दृष्टिसे न बनाया जाय। इससे अनुन्नत जनता दक़ियानूसी और अवैज्ञानिक विचार पद्धतिको ही पकड़े रहे। संभव है साहित्य और संस्कृतिका निर्माण ऐसा हो जिसमें जर्जर, रूढ़ परम्पराओं, हानिकर रस्मरिवाजों और अन्ध-विश्वासोंको ही अपने जनपदका सांस्कृतिक वैशिष्ट्य बताकर मिथ्या गौरव से मण्डित कियाजाय और प्राचीन रूप-विधानोंमें नयी, आधुनिक वस्तु न देकर पुरानी दक़ियानूसी वस्तु ही दीजाय और इस प्रकार एक जनपद

का सांस्कृतिक विकास टेढ़े-मेढ़े और उल्टे-सीधे मार्ग पकड़ले। इस प्रकार अवसरपर छोड़देनेसे प्रगतिके कार्यमें जो अराजकता फैलेगी, उसमें श्रम-साधनका कितना अपव्यय होगा और उद्देश्य-सिद्धिके मार्गमें कितनी अप्रत्याशित बाधाएँ पड़ेंगी, इसका अनुमान नहीं किया जासकता। अतएव प्रगतिवादके सुनिश्चित, व्यापक सिद्धान्तके आधारपर ही योजना बनाकर जनपदकी जन-भाषा, जन-शिक्षा और जन-साहित्य संस्कृतिके अभ्युत्थान का अनुष्ठान करना चाहिए।

इस प्रकार प्रगतिवाद जातियोंके सांस्कृतिक अभ्युदयका सबसे अधिक वैज्ञानिक और प्रशस्त मार्ग है।

इन तीन मूलभूत सिद्धान्तोंके विवेचनसे स्पष्ट है कि प्रगतिवादी जनपदीय भाषाओंके प्रश्नका समाधान करते समय किसी भी अवस्थामें संकीर्ण राष्ट्रीयता, संकीर्ण जातीयता और संकीर्ण सांस्कृतिक दृष्टिकोणको प्रश्रय नहीं देते।

इन तीन मूलभूत सिद्धान्तोंके आधारपर जनपदीय भाषाओंकेलिए जन-भाषा, जन-शिक्षा और जन-साहित्य-संस्कृतिके जो महान् उद्देश्य प्रगतिवादी अपने समक्ष रखते हैं, उनकी पूर्तिसे राष्ट्रभाषा हिन्दीकी किसी भी प्रकारसे हानि संभाव्य नहीं है। प्रत्युत हमारा विचार है कि इनसे राष्ट्र-भाषा अधिक समृद्ध और समुन्नत ही होगी। अर्थात् राष्ट्रभाषा और जन-पदीय भाषाओंमें प्रतियोगिता अथवा हित-वैषम्यका प्रश्न नहीं उठता। ऐसा प्रश्न तभी उठसकता है जब सिद्धान्तोंको तिलाञ्जलि देकर अनर्गल वादों-अपवादोंका सहारा पकड़ा जाय।

जनपदीय प्रगतिशील साहित्य-संघ

उक्त विवेचनसे यह भी स्पष्ट है कि जनपदीय भाषाओंके प्रश्नको विवादके क्षेत्रसे हटाकर कार्यके क्षेत्रमें लेआया जाय। अर्थात् जनपदों को एक निश्चित कार्य-क्रमके अनुसार संगठित कियाजाय। विवाद तो चलते ही रहेंगे, परन्तु जो उपरोक्त सिद्धान्तोंको मानते हैं वे निष्क्रिय नहीं बैठ-सकते, क्योंकि उनकी निष्क्रियताका अर्थ है मध्यदेशकी सांस्कृतिक प्रगति के एकमात्र मार्गके प्रति उदासीनता दिखाना। जिन जनपदोंमें आन्दोलन मुखर होगया है उसको भी एक व्यापक आधारपर पुनः संगठित करनेका प्रश्न है। अतः यह आवश्यक है कि विभिन्न जनपदोंमें जनपदीय प्रगतिशील

साहित्य संघ निर्विलम्ब स्थापित कियेजायँ। 'प्रगतिशील' इसलिए कि जनपदीय साहित्य संघ अपने तीन सिद्धान्तों और तीन उद्देश्योंसे कभी दूर न जापड़ें अथवा उन्हें कभी विस्मृत न करदें।

इन जनपदीय प्रगतिशील साहित्य संघोंमें प्रत्येक भाषा जनपदके उन सभी लेखकोंकी जो इस समय चाहे हिन्दीमें ही क्यों न लिखते हों, उन सभी वैज्ञानिकों, इतिहासवेत्ताओं, समाजशास्त्रियों, ग्रामीण कवियों आदिको संगठित किया जाय जो उपरोक्त तीन सिद्धान्तों और तीन उद्देश्योंको स्वीकार करते हैं।

भाषा-जनपदों का वर्गीकरण

ऊपर दियेगये विवरणसे यह विदित होचुका है कि मध्यदेशके सभी जनपदोंका समान विकास नहीं हुआ है; कुछ भाषा, साहित्य और संस्कृति की दृष्टिसे अधिक उत्तम हैं, कुछ बहुत पिछड़ेहुए। कुछ जनपदोंकी जनसंख्या योरपके कतिपय राष्ट्रोंके बराबर है और कुछकी जनसंख्या बहुत कम है, जैसे पूर्वी और पश्चिमी पहाड़ी भाषाओंके जनपदोंकी। ऐसी स्थिति में सभी जनपदीय प्रगतिशील साहित्य संघोंका न एक ही कार्य-क्रम सम्भव है और न इनकी तात्कालिक माँगें ही एक होसकती हैं। विभिन्न जनपदों की भाषा और उनके साहित्यकी वर्तमान अवस्थाके आधारपर मध्यदेशीय जनपदोंका तीन भागोंमें वर्गीकरण करना सुविधाजनक होगा।

(१) मेवाती, मालवी, जयपुरी, मारवाड़ी, मैथिली, भोजपुरी, कोसली, बुन्देली, ब्रज और नेपाली भाषाओंके जनपद। इन जनपदीय भाषाओंके बोलनेवालोंकी संख्या भी बड़ी है और उनमें पुराना साहित्य भी मिलता है। अतः थोड़े प्रयत्नके पश्चात् ही इन भाषाओं और बोलियों को अपने-अपने क्षेत्रोंमें माध्यमिक शिक्षा (हाईस्कूल तक) का माध्यम बनाया जासकता है।

(२) मगही, बघेली, छत्तीसगढ़ी, कनौजी, बाँगरू, कुमाऊँनी, गढ़वाली भाषाओंके जनपद। जनसंख्याकी दृष्टिसे इनमेंसे पहली पाँच भाषाएँ बड़ी भाषाएँ हैं, तथापि उनमें प्राचीन साहित्यका अभाव है, अतः उनमें उच्चकोटिका साहित्य उत्पन्न करनेमें समय लगेगा। इन भाषाओंको थोड़े प्रयत्नसे अभी केवल प्राथमिक शिक्षा (छठे दर्जेतक) का ही माध्यम बनाया जासकेगा।

(३) जौनसारी, क्योंथली, कुलुई और चंबाली भाषाओंके जनपद। इन भाषाओंको बोलनेवालोंकी संख्या भी थोड़ी है और ये भाषाएँ बहुत पिछड़ी हुई हैं, अतः उनको नागरी तथा चंबालीकी जगहपर देवनागरी लिपि में लिखनेका प्रबन्ध करने तथा पाठ्यपुस्तकें आदि तैयार करनेमें समय लगेगा। प्रारम्भिक प्रयत्नके पश्चात् ही इन भाषाओंको वर्णमाला सिखाने का माध्यम बनाया जासकता है, अर्थात् उनमें प्रारंभिक शिक्षा (तीसरे दर्जेतक) दीजासकती है।

जनपदीय प्रगतिशील साहित्य संघोंका कार्यक्रम

अपने अपने भाषा क्षेत्रोंमें जन-भाषा, जन-शिक्षा और जन-साहित्य का निर्माण और प्रसार करनेकेलिए जनपदीय प्रगतिशील साहित्य सङ्घों को उपरोक्त वर्गीकरणको ध्यानमें रखकर ही अपना कार्यक्रम बनाना चाहिए। ज्यों ज्यों उनका तात्कालिक कार्यक्रम पूरा होता जाय, तीसरे वर्गके जनपद दूसरे वर्गके कार्यक्रमको अपना सकते हैं, दूसरे वर्गके जनपद पहले वर्गके कार्यक्रमको अपना सकते हैं, और पहले वर्गके जनपद अपनी भाषाओंमें उच्चशिक्षा दीजानेकी माँग रख सकते हैं। निश्चय ही यह सारा कार्य अविराम निर्माणका कार्य है, केवल प्रचारका नहीं। विभिन्न जनपदोंमें जन-भाषाका साहित्यिक संस्कार कैसा होगा, जनशिक्षाकेलिए पाठ्यक्रम और शिक्षा-पद्धति कैसी होगी, जन-साहित्यके निर्माणकी योजना प्रारम्भमें किन अङ्गोंकी समृद्धिपर विशेष ज़ोर देगी आदि प्रश्न ऐसे हैं जिनका निर्णय विभिन्न जनपदीय प्रगतिशील साहित्य संघ स्वयं ही करेंगे। हम यहाँपर प्रस्तावित साहित्य संघोंकेलिए कोई विस्तृत कार्य-योजना नहीं बना सकते, केवल कतिपय साधारण सुझाव रखसकते हैं जिन्हें केवल विस्तृत योजना का आधार बनाया जासकता है:—

जनभाषा

(१) जनपदीय भाषाओंका साहित्यिक रूप स्थिर करने और उनकी प्रकृत-शक्तिका पूर्ण विकास करनेकेलिए डॉ० वासुदेवशरण अग्रवालकी जनपद-योजनाके अनुसार कार्य करना। भेद केवल इतना रहे कि वैज्ञानिक खोज और संग्रहके उपरान्त जो अध्ययन प्रस्तुत किये जायँ, वे यथा-सम्भव जनपदीय भाषाओंमें ही हों। इसकेलिए व्याकरण,

साहित्य, भूगोल, इतिहास और विज्ञान आदिकी परिषदें स्थापित कीजायँ और गद्य और पद्यकी आधुनिक शैलियोंका प्रयोग जनपदीय भाषाओंमें सिखाया जाय।

(२) जनपदीय भाषाओंको अपने-अपने क्षेत्रोंमें (उपरोक्त वर्गीकरणके आधारपर) प्रारम्भिक, प्राथमिक अथवा माध्यमिक शिक्षा का माध्यम बनानेकेलिए आन्दोलन करना।

जन-शिक्षा

(१) ब्रिटेन, अमेरिका, रूस, स्विट्ज़रलैण्ड आदि शिक्षाकी दृष्टिसे उन्नत देशोंकी शिक्षा-पद्धतियोंका विस्तृत अध्ययन करके अपनी-अपनी जनपदीय भाषाकी स्थितिके अनुसार समूची जनताको प्रारम्भिक, प्राथमिक अथवा माध्यमिक शिक्षा देनेकेलिए शिक्षा-प्रणालीका निर्णय करना और व्यापक कार्य-योजना बनाना।

(२) विभिन्न परिषदों द्वारा शिक्षण-योजनाको कार्यान्वित करने केलिए ऐसी वैज्ञानिक पाठ्य-पुस्तकोंकी रचना करना जो संक्षेपमें सरलतापूर्वक अधिक ज्ञान प्रदान करसकें।

(३) जनपदीय भाषाओंमें प्रारम्भिक, प्राथमिक अथवा माध्यमिक स्टेज तककी परीक्षाएँ चालू करना और उनका व्यापक प्रचार करना। इनके ऊपरकी शिक्षाकेलिए जबतक जनपदीय भाषाएँ स्वयं सम्पन्न न होजायँ, हिन्दी-माध्यमको प्रोत्साहन देना।

जन-साहित्य

(१) काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदिके रूपमें मौलिक-साहित्यकी रचनाकेलिए जनपदीय कवियों और लेखकोंको प्रोत्साहन देना।

(२) विज्ञान और समाजशास्त्रके विभिन्न अङ्गोंकी समृद्धिके लिए परिषदों द्वारा ग्रन्थोंका निर्माण कराना। जहाँतक सम्भव हो हिन्दीमें प्रचलित पारिभाषिक शब्दोंको ही ग्रहण किया जाय।

(३) एक व्यापक योजनाके अनुसार अन्य देशी तथा विदेशी भाषाओंके उच्चकोटिके उपन्यास और नाट्य साहित्य तथा वैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय साहित्यके प्रामाणिक अविकल अनुवादका प्रबन्ध करना।

(४) उक्त साहित्यकेलिए प्रेस और प्रकाशनकी सुविधाएँ जुटाना, तथा जनपदीय भाषाओंमें पत्रिका आदि प्रकाशित करना।

जनपदीय प्रगतिशील साहित्य संघ और हिन्दी साहित्य सम्मेलन

उपरोक्त विवेचनमें यद्यपि हम जनपदीय प्रगतिशील साहित्य संघों और हिन्दी साहित्य सम्मेलनके परस्पर सम्बन्धके बारेमें एक-आध बार संकेत करचुके हैं, परन्तु फिरभी सम्भव है कि हिन्दी-साहित्य सम्मेलनके वर्तमान कार्य-कर्त्ताओं और विशेषकर जनपद आन्दोलनके विरोधियोंके मनमें अबभी शंकाएँ हों। इसके अतिरिक्त स्वयं जनपदीय प्रगतिशील साहित्य संघोंके प्रतिनिधि साहित्य सम्मेलनकी विरोधी नीतिसे क्षुब्ध होकर उससे अपना सम्बन्ध-विच्छेद करना ही आवश्यक समझ सकते हैं। वे कह सकते हैं कि जब बँगला, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगु आदि आर्य और द्राविड़ी भाषाओंके साहित्य-संघ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनसे संबद्ध नहीं हैं तो जनपदीय प्रगतिशील साहित्य संघोंको इससे क्यों संबद्ध होना चाहिए? जनपदीय भाषाएँ भी स्वतन्त्र हैं और उन्हें अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखना चाहिए।

यहाँ पर हम केवल प्रगतिवादियोंकी ओरसे कुछ सुझाव पेश कर सकते हैं यद्यपि इस सम्बन्धमें अन्तिम निर्णय तो जनपदीय साहित्य संघ करेंगे। हिन्दी-साहित्य सम्मेलनसे जनपदीय साहित्य संघोंका क्या और कैसा सम्बन्ध रहे इस प्रश्नपर प्रगतिवादियोंको अभीसे अपनी कार्य-नीति निर्धारित करलेनी चाहिए। मेरी सम्मतिसे इस विषयमें दो-तीन बातें विचारणीय हैं:—

पहिली बात: जनपदीय भाषाओंके विकासके विरोधमें सबसे बड़ी बात यह कही जाती है कि इससे हिन्दी (साहित्यिक खड़ीबोली) का अहित होगा। इस आशंकाका निर्मूलन करना जनपदीय भाषाओंके प्रतिनिधियोंका कर्तव्य है, क्योंकि राजस्थानी, मैथिली और व्रज आदि जनपदीय भाषाओंकी प्राचीन साहित्यिक परम्पराका अपनेको उत्तराधिकारी घोषित करके हिन्दी (साहित्यिक खड़ीबोली) ने समस्त मध्यदेशमें साहित्यिक पुनर्निर्माण और राष्ट्रीय जागरणकी व्यापक नींव डाली है। जनपदीय भाषाओंकी प्राचीन साहित्यिक परम्पराओंका हिन्दीने तिरस्कार

करके फ़ोर्ट विलियम कॉलेजके समयसे अपनी कोई निराली संस्कृति और साहित्य परम्परा बनानेकी चेष्टा नहीं की, बल्कि उसने समूचे मध्यदेशके प्राचीन साहित्यकी अटूट परम्पराको अपनाकर उसके प्रति अपना पूरा सम्मान दिखाया। इसीका परिणाम है कि आज मध्यदेशकी अनेक जनपदीय भाषाएँ अपने प्राचीन साहित्यके गौरवसे अपरिचित नहीं रहीं और वे अब पुनः नये जीवनके स्पन्दनका अनुभव करने लगी हैं। अतः अपने पुनर्जागरणके उषाकालमें जनपदीय भाषाओंको भी मध्यदेशकी इस परम्परासे, जिसको हिन्दीने समृद्ध और विकसित किया है, अलग हटकर एकान्त-साधक न बनजाना चाहिए, अर्थात् दोनोंका साहित्यिक आदान-प्रदान अक्षुण्ण बना रहना चाहिए। हिन्दी-साहित्य सम्मेलन इस आदान-प्रदानका भविष्यमें मध्य-केन्द्र बनसकता है।

दूसरी बात : यह सभी स्वीकार करते हैं कि हिन्दीके अतिरिक्त और कोई दूसरी भाषा मध्यदेशकी राष्ट्रभाषा नहीं होसकती और यदि द्राविड़ी-क्षेत्रों के निवासी भी स्वीकार करलें तो हिन्दी मध्यदेश और दक्षिण भारतकी भी राष्ट्रभाषा बनसकती है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन हिन्दीको राष्ट्रभाषाके पदपर प्रतिष्ठित करना चाहता है, और राष्ट्रभाषा प्रचार ही उसका मुख्य कार्य-क्रम है। व्यावहारिक रूपमें सम्मेलन राष्ट्रभाषा-प्रचार-सम्मेलन बन गया है, परन्तु अभीतक राष्ट्रभाषा-प्रचार-सम्मेलनकी दृष्टिसे साहित्य सम्मेलनका विधान और कार्य-प्रणाली एकांगी हैं, जनतान्त्रिक और राष्ट्रीय नहीं। साहित्य सम्मेलनकी ओरसे अहिन्दी प्रान्तोंमें राष्ट्रभाषा हिन्दीका जो प्रचार किया जारहा है उसमें अहिन्दी भाषाओंके साहित्य-सम्मेलनोंके प्रतिनिधियोंकी सहमति-असहमतिको महत्व नहीं दिया जाता, और न उनसे परामर्श ही कियाजाता है। सारा प्रचार ऊपरसे किया जारहा है, जिससे अनेक भ्रम भी उत्पन्न होगये हैं। कुछ कार्यकर्त्ता अनावश्यक रूपसे ग़लत उत्साह दिखारहे हैं जिससे लगता है कि वे हिन्दीको मध्यदेशकी राष्ट्रभाषा ही नहीं वरन मातृभाषा भी बनाना चाहते हैं। उत्तर-पश्चिम भारत की समस्या अलग प्रचंड रूप धारण करती जारही है। वहाँके अल्प-संख्यक हिन्दुओंमें हिन्दीका प्रचार करके, बहुसंख्यक मुसलमानोंके ऊपर हिन्दीको राष्ट्रभाषाके रूपमें लादनेका प्रयत्न होरहा है। दक्षिण भारतमें कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलने हिन्दीको शिक्षालयोंमें अनिवार्य द्वितीय भाषा बनाकर

द्राविड़ी भाषाओंके सम्मेलनों और प्रतिनिधियोंकी सम्मतिके प्रति घोर उपेक्षा दिखायी और अपनी निरंकुश नीतिके विरुद्ध स्वाभाविक विरोधको न्यौता दिया। मध्यदेशमें भी हिन्दीका प्रचार केवल हिन्दुओं तक ही सीमित है, वहाँके अल्प-संख्यक मुसलमान उसे राष्ट्रभाषाके रूपमें स्वीकार करनेको तैयार नहीं हैं। इन सब जटिल समस्याओंका हल केवल हिन्दी-वाले नहीं कर पाते, फिरभी हिन्दी-साहित्य सम्मेलन अपनी सीमित और एकांगी विजयोंपर ही प्रमत्त होउठा है, और अपने आधारको जनतान्त्रिक बनानेको तैयार नहीं है। ऐसी स्थितिमें जनपदीय साहित्य संघोंका कर्तव्य है कि वे उसे जनतान्त्रिक आधार दें। यह तभी सम्भव होसकता है जब हम यह स्वीकार करलें कि हिन्दीको ज़ोर-ज़बर्दस्तीसे नहीं बल्कि मध्यदेश और दक्षिण भारतकी समस्त भाषाओंकी सहमतिसे ही राष्ट्रभाषा बनाया जासकता है, तथा इसकेलिए हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनका राष्ट्रभाषा-साहित्य सम्मेलनके रूपमें जनतान्त्रिक आधारपर पुनर्सङ्गठन कियाजाय। इससे बहुतसे विवादोंका भी अन्त होजायगा।

तीसरी बात: मध्यदेश और दक्षिणकी अनेक जनपदीय भाषाएँ पिछड़ी हैं। वे स्वयं अपने बलपर साहित्यिक स्थापना करनेमें समर्थ नहीं हैं। इसकेलिए उन्हें उन्नत भाषाओंके सहयोगकी आवश्यकता है। अतः यह ज़रूरी है कि साहित्यिक जगतका वातावरण असाहित्यिक प्रश्नोंकी गूँजसे क्षुब्ध न होता रहे। लोग इस सहयोगका व्यापक आयोजन करसकें और एक शान्त वातावरणमें आदान-प्रदानका क्रम अविराम चलता रहे। इस दृष्टिसे भी साहित्य सम्मेलनके आधारको व्यापक बनानेकी ज़रूरत है और बिना उसे अन्यान्य भाषाओंकी प्रतिनिधि संस्था, अर्थात् राष्ट्रभाषा प्रचार सम्मेलन, बनाये यह कार्य सम्भव नहीं होगा। यह हिन्दी साहित्य सम्मेलन के हितमें होगा। यदि वर्तमान हिन्दी जनपदोंके प्रतिनिधियोंके अतिरिक्त गुजराती, मराठी, उड़िया, असामी, बंगाली आदि भाषाओंके प्रतिनिधि भी राष्ट्रभाषा प्रचार सम्मेलनमें हिन्दीके प्रतिनिधियोंके साथ समानताके आधारपर एकत्र किये जासकें और वे एक मतसे हिन्दीको राष्ट्रभाषा स्वीकार करलें तो फिर कौन हिन्दीको अपदस्थ करसकेगा? यदि द्राविड़ी भाषाओं के प्रतिनिधि भी हिन्दीको राष्ट्रभाषा मानलें तो मद्रास प्रान्तमें हिन्दीको अनिवार्य द्वितीय भाषा बनानेसे कौन आपत्ति करेगा? राष्ट्रभाषा आदिके

प्रश्न तात्कालिक महत्वके प्रश्न नहीं हैं। सब भाषाओंके प्रतिनिधियोंको इस पर ख़ूब सोचने-विचारनेका और स्वतन्त्र मत रखनेका अधिकार देना चाहिए। अतः हिन्दी साहित्य सम्मेलनको विचार-स्वातंत्र्यका वाहक बनाने केलिए उसे नये आधारपर संगठित करके राष्ट्रभाषा-प्रचार सम्मेलन बनाना अनिवार्य होगया है।

इन सभी दृष्टियोंसे देखनेपर हमारा निश्चित मत है कि जनपदीय प्रगतिशील साहित्य संघोंको एक निश्चित कार्यक्रम लेकर हिन्दी साहित्य सम्मेलनसे सम्बद्ध होजाना चाहिए। हम संक्षेपमें इस कार्यक्रमकी निम्न रूपरेखा बनासकते हैं :—

(१) हिन्दी-साहित्य सम्मेलनके विधानमें परिवर्तन :—

(अ) सम्मेलनका नाम 'राष्ट्रभाषा हिन्दी प्रचार सम्मेलन' रखा जाय।

(ब) रा० हि० प्र० स० उन सभी हिन्दी और अहिन्दी भाषाओं का 'संघ' हो जो हिन्दीको राष्ट्रभाषा मानती हैं, अर्थात् मध्यदेशके जनपदीय साहित्य संघों और गुजराती, मराठी, बङ्गला, उड़िया, असामी और यदि सम्भव हो तो द्राविड़ी भाषाओं (तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम आदि) के साहित्य सम्मेलनोंका संघ हो। हिन्दी और अहिन्दी भाषाओंके साहित्य सम्मेलन राष्ट्रभाषाके प्रश्नपर एक सामान्य नीति निर्धारित करनेकेलिए रा० हि० प्र० स० से सम्बद्ध हों और समस्त (छोटी बड़ी) भाषाओं (हिन्दीको लेकर) को रा० हि० प्र० स० में एक-बराबर प्रतिनिधि भेजने का अधिकार हो। उदाहरणकेलिए १६ जनपदीय साहित्य संघ और ५ अन्य अहिन्दी भाषाओंके सम्मेलन यदि रा० हि० प्र० स० से सम्बद्ध होजायँ और यदि प्रत्येक को दस-दस प्रतिनिधि भेजनेका अधिकार हो तो इस प्रकार कुल प्रतिनिधियोंकी संख्या २४० होगी, अर्थात् अन्य किसी प्रकारके प्रतिनिधि स्वीकार न कियेजायँगे। प्रत्येक भाषाको अपने प्रतिनिधि चुनकर भेजनेका अधिकार

होगा। कोई भी राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी निर्णय बहुमतसे नहीं किया जासकेगा, बल्कि जो भाषा बहुमतके निर्णयको स्वीकार करे वही उसपर पालन करनेकेलिए बद्ध हो। कार्यकारिणीके चुनावमें भी यही सिद्धान्त बरताजाय, अर्थात् प्रत्येक भाषाको अपना-अपना प्रतिनिधि समानता के आधारपर चुननेका अधिकार हो।

(स) रा० हि० प्र० स० की परिषदोंका पुनर्निर्माण कियाजाय। सम्बद्ध भाषाओंमें साहित्यिक आदान-प्रदानके महत्त्वपूर्ण कार्यको प्रोत्साहन देनेकेलिए समस्त भाषाओंका प्रतिनिधित्व करनेवाली ऐसी स्थायी परिषदोंका निर्माण किया जाय जो इतिहास, भूगोल आदिकी ऐसी खोजों और संग्रहोंको जो राष्ट्रीय दृष्टिसे महत्त्व रखते हैं, राष्ट्रभाषा हिन्दी और उसके द्वारा अन्य सभी सम्बद्ध भाषाओंमें अनुवाद करायें और उच्चकोटिके विशुद्ध साहित्य (कविता, उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना, निबन्ध आदि) और वैज्ञानिक साहित्यका भी विभिन्न भाषाओंमें अनुवाद करानेका प्रबन्ध करायें। जहाँतक सम्भव हो परिषदें इसके लिए पारिभाषिक शब्दोंकी एक सामान्य सूची तैयार करें। इससे राष्ट्रभाषा हिन्दीका साहित्य भी निरन्तर समृद्ध होता जायगा और अन्य उन्नत अथवा अनुन्नत भाषाओंका साहित्य भी समृद्ध होता जायगा। ये परिषदें विभिन्न विषयोंके आधारपर बनायी जाँय और प्रत्येक सम्बद्ध भाषाके प्रतिनिधि उनमें हों जो अपनी-अपनी भाषाकी साहित्यिक प्रगतिपर छमाही रिपोर्ट दें और मिलकर इस बातका निर्णय करें कि कौन-कौनसी पुस्तकें राष्ट्रीय महत्वकी हैं अतः अनुवादके योग्य हैं।

(२) रा०हि० प्र० स० का पुनः केन्द्र-संगठन कियाजाय अर्थात् मध्यदेशके किसी केन्द्रीय स्थानपर (दिल्ली, आगरा, लखनऊ अथवा इलाहाबाद आदिमें) रा०हि०प्र०स०का स्थायी केन्द्र स्थापित कियाजाय, और प्रचार और अनुवाद

कार्यकेलिए प्रेस और प्रकाशनकी सुविधाएँ जुटायीजायँ।

(३) जनपदीय भाषाओंको प्रोत्साहन दियाजाय : रा० हि० प्र० स० जनपदीय भाषाओंकी साहित्यिक स्थापनामें सहयोग दे, अर्थात् विभिन्न जनपदीय प्रगतिशील साहित्य संघोंके कार्य-क्रमको पूरा करानेमें प्रकाशनकी सुविधाएँ और अन्य साधन प्रदान करे।

उक्त कार्यक्रमके आधारको लेकर जनपदीय प्रगतिशील साहित्य संघोंको हिन्दी साहित्य सम्मेलनसे सम्बद्ध होना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि यह कार्य-क्रम और सुधारा जासकता है। परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं है कि जिस दिन हम हिन्दी साहित्य सम्मेलनको रा० हि० प्र० स० के रूपमें प्रस्तावित आधारपर संगठित करनेमें समर्थ होजायेंगे वह दिन हिन्दी और अन्य भाषाओंके साहित्यिक जीवनमें सबसे महत्वपूर्ण दिन होगा। क्योंकि उस दिन मध्य-देश और यदि सम्भव हुआ तो दक्षिण भारत की समस्त भाषाओंके बीच स्थायी सौहार्द्र और सहयोगकी नींव पड़ेगी और सभी भाषाओंके उत्तरोत्तर विकासकी अपरिमित सम्भावनाएँ खुलजायेंगी। उस समय छोटी-से-छोटी और अनुन्नत-से-अनुन्नत मातृभाषामें भी लिखने से किसीभी प्रतिभावान् लेखकको संकोच न होगा, क्योंकि उसकी कृतियाँ प्रत्येक भाषामें पढ़ीजायेंगी। कोई भी महत्वपूर्ण रचना विस्मृतिके गर्तमें न डूबसकेगी, तब किसी भी जपनदकी जनताको अपनी मातृभाषाको त्याग कर दूसरी भाषा सीखनेकेलिए बाध्य नहीं होना पड़ेगा।

जनपदीय भाषाओंके प्रश्नपर प्रगतिवादियोंका यही दृष्टिकोण और कार्यक्रम है। विस्तारसे यह कार्यक्रम इस पुस्तकके परिशिष्ट ३ में दिया है।

राष्ट्रभाषा : विवाद और समाधान

'Tis a great infirmity to think. God preserve you from it, my son, as He has preserved His greatest saints, and the souls whom He loves with special tenderness and destines to eternal felicity.

—Anatole France

हिन्दी - उर्दू - हिन्दुस्तानीकी बहस गत १४० वर्षोंसे जिस राजनीतिक उत्तेजना और धार्मिक-साम्प्रदायिक उन्मादके वातावरणमें अविराम चलतीआयी है, और जिस हठधर्मी और दुराग्रहसे इन तीनोंके समर्थकों और प्रतिपक्षियोंने अपनी तर्कावलीको रूढ़ बनारखा है, मानों १४० वर्षोंके अन्तरायमें उनकी सूझ - बूझमें कोई विकास ही न हुआ हो; और जिस सतर्कतासे वे इस बीच अपने पुराने तर्कोंको ही और-और ऊँचे स्वर से दुहरातेआये हैं उससे सिद्धान्त-कथन, तथ्य-निरूपण, विचार - विनिमय और विवेक-संगत समाधानोंका स्थान आत्म-प्रवंचना और प्रमादने लेलिया है। केवल शक्ति - प्रदर्शन ही तर्ककी सचाईका आधार बनगया है। राष्ट्रभाषाकी गुत्थी सुलझनेकी जगह औरभी उलझतीगयी है।

हिन्दी - उर्दूकी बहसका अब वह प्रारम्भिक रूप नहीं रहा जब 'आर्य - भाषा' हिन्दीके समर्थक उसे हिन्दुओंकी परम्परागत भाषा कहकर उर्दूके साथ-साथ अदालतों औरसरकारी दफ़्तरोंमें उसका प्रचलन कराने केलिए आन्दोलन करते थे। इस बहसमें हिन्दी सफलता पाचुकी है, और कचहरियों और दफ़्तरोंमें उसका प्रयोग किया जासकता है। प्रारम्भिक और कहीं-कहीं उच्च शिक्षा भी हिन्दीमें दी जानेलगी है। अतः अब हिन्दी और उर्दूमें प्रतियोगिता राष्ट्रभाषा - पदकेलिए है। कुछ लोगोंने प्रारम्भसे ही हिन्दी और उर्दूकी बहसमें मध्यस्थ बननेकी चेष्टा की है और आग्रह किया है कि हिन्दी - उर्दूके सम्मिलित रूप हिन्दुस्तानीको राष्ट्रभाषाके रूपमें स्वीकार कियाजाय। परन्तु हिन्दुस्तानीके समर्थक जो मध्यस्थ बनना चाहते थे, स्वयं एक वादी बनगये। इस प्रकार हिन्दी-उर्दूका संघर्ष अब हिन्दी-उर्दू-

हिन्दुस्तानीके संघर्षका त्रिकोण बनगया है और इसमें विस्मयकी बात नहीं है कि इस संघर्षके त्रिकोणके तीन कोणपर हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानीके स्थायी शिविर खुलगये हैं। अपने-अपने केन्द्रपर तीनों दल शक्ति-संगठन कररहे हैं और वहाँसे राष्ट्रभाषाके सिंहासनकेलिए बढ़-चढ़कर दावे पेश कररहे हैं। कोई भी ठहरकर यह नहीं सोचना चाहता कि केवल शक्ति-संचय राष्ट्रभाषाके प्रश्नका हल नहीं बनासकेगा। फिर, प्रत्येक दलके समर्थकोंकी संख्यामें यदि वृद्धि होतीजाय तो उससे किसीभी दलके दावेको एकान्त औचित्य कहाँसे प्राप्त होजायगा, यह विचारणीय है। अतः समर्थकोंकी संख्या-वृद्धि एक मरीचिका है जिसके पीछे तीनों दलोंके नेता दौड़रहे हैं। हिन्दीको हिन्दुओंका समर्थन मिलरहा है, उर्दूको मुसलमानोंका—यह हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और अंजुमन तरक्की-ए-उर्दूकी परीक्षाओंमें बैठनेवालोंसे स्पष्ट है। हिन्दुस्तानीको थोड़े हिन्दुओं और थोड़ेही मुसलमानोंका समर्थन मिल पारहा है। फिर भी तीनों दलोंमेंसे कोई अपनी विचार-पद्धतिको व्यापक बनाकर नयी सूझ-बूझसे इस प्रश्नका हल नहीं ढूँढना चाहता। तीनों दलोंकी राष्ट्रीयता अत्यन्त संकुचित और संकीर्ण होगयी है क्योंकि कोई भी अपनी प्रतिपक्षियोंके दृष्टिकोणको नहीं समझना चाहता। परिणाम यह है कि प्रत्येक दलकेलिए राष्ट्रीयता भिन्न अर्थवाची शब्द बनगया है। एक विलक्षण, पर क्रूर, परिस्थिति पैदा होगयी है। हम यहाँपर इस समूचे प्रश्नपर नयी दृष्टिसे सोचना चाहते हैं ताकि हम जिस पंकमें फँसे हैं उससे अपने पैर खींचकर आगे बढ़सकें। इसकेलिए वर्तमान संघर्षका संक्षेपमें सिंहावलोकन अपेक्षित है। इससे अनेक मनोरञ्जक तथ्योंपर प्रकाश पड़ेगा।

हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानीके नेतृत्वका यदि हम विश्लेषण करें तो हमें ज्ञात होगा कि हिन्दीका नेतृत्व विशेषकर हिन्दू-राष्ट्रवादियोंके हाथमें है। इनमें डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी और डॉ० अमरनाथ झा आदि भाषाविद्, इतिहासज्ञ और विचारक भी हैं; और बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन, बाबू सम्पूर्णानन्द, श्री कन्हैयालाल मुंशी, गोस्वामी गणेशदत्त आदि काँग्रेस, हिन्दू-महासभा, सनातनधर्म-सभा, आर्य-समाज आदिके हिन्दू-राष्ट्रवादी नेता और कार्यकर्त्ता भी हैं। इसी प्रकार उर्दूका नेतृत्व विशेषकर मुस्लिम राष्ट्रवादियोंके हाथमें है। यहाँभी मौलवी अब्दुल हक़, मियाँ बशीर

अहमद आदि भाषाविद्, इतिहासज्ञ और विचारक हैं और मुस्लिम-लीग आदिके मुस्लिम-राष्ट्रवादी नेता हैं। उर्दूवालोंके साथ सर तेजबहादुर सप्रू आदि उर्दू-फ़ारसी प्रेमी कतिपय हिन्दू नेता भी हैं। हिन्दुस्तानीका नेतृत्व उन लोगोंके हाथमें है जो अखिल भारतीय एकताके भावुक समर्थक हैं, अर्थात् जो हिन्दी-उर्दूके प्रथक् विकासका कारण ऐतिहासिक परिस्थितियोंमें न खोजकर उसे कुछ साम्प्रदायिक दुश्चिन्तकोंका कुचक्र मानते हैं और सोचते हैं कि व्यापक राष्ट्रीय चेतनाके फैलनेपर यह कुचक्र अपने आप बन्द होजायगा और हिन्दी-उर्दूकी धाराएँ अपनेआप मिलजायँगी। इस दलके नेताओंमें भी डॉ० ताराचन्द, डॉ० ज़ाकिर हुसैन, ज़फ़र हुसैन, पण्डित सुन्दरलाल, काका कालेलकर, गुलाम सैयदेन, डॉ० अब्दुलअलीम आदि भाषाविद्, इतिहासज्ञ और विचारक हैं। नेताओंमें महात्मा गान्धी, पण्डित जवाहरलाल और डॉ० राजेन्द्रप्रसाद आदि राष्ट्रीय नेता हैं।

तीनों दलोंका उद्देश्य एक ही है, अर्थात् *अखिल भारतकेलिए एक सर्वसम्मत राष्ट्रभाषाका निर्माण और प्रचार*। गत १४० वर्षोंमें 'सर्वसम्मति' की ओर एक पग भी नहीं बढ़ाया जासका है। साधारणतः जो इन तीनों दलोंको सामान्य रूपसे स्वीकार हो वही सर्वसम्मत राष्ट्रभाषा कही जासकती है, क्योंकि ये तीन दल ही अपनी-अपनी भाषाकेलिए दावे पेश कररहे हैं। परन्तु स्थिति कुछ ऐसी विचित्र होगयी है कि 'सर्वसम्मत' का यह अर्थ किसी भी दलके निकट कोई महत्व नहीं रखता। अपना दावा ही 'सर्वसम्मत' है, बस इस प्रवंचनाका ज़ोर है। राष्ट्रभाषाका अन्य भाषाओं से क्या सम्बन्ध रहेगा, अर्थात् राष्ट्रभाषाका क्षेत्र कितना होगा, उच्च शिक्षा और विशिष्ट वैज्ञानिक शिक्षाकेलिए राष्ट्रभाषाको माध्यम बनाना उपयुक्त होगा अथवा अन्य प्रान्तिक भाषाओंमें भी यह शिक्षा दी जासकेगी आदि व्यापक रचनात्मक प्रश्नोंतक विवादी नहीं पहुँचे हैं। वे राष्ट्रभाषाके प्रश्न को उठाकर पहले ही क़दमपर रुकगये हैं क्योंकि अभी यह निश्चित नहीं हो पारहा है कि *राष्ट्रभाषाका नाम क्या हो, उसका स्वरूप क्या हो और उसकी लिपि क्या हो*। इन तीनों प्रश्नोंका हल असाध्य लगता है; क्योंकि अपने-अपने दावेको वे ऐतिहासिक दृष्टिसे सही मानते हैं। सर्वप्रथम हम तीनोंके दावोंका अध्ययन करेंगे :—

एक : हिन्दी—(क) *राष्ट्रभाषाका नाम हिन्दी हो*। ऐतिहासिक और

व्यावहारिक दृष्टिसे यही नाम अधिक समीचीन है ।

ऐतिहासिक—मध्यदेश अथवा उत्तर भारतकी भाषाका 'हिन्दी' नाम उर्दू अथवा हिन्दुस्तानीकी अपेक्षा अधिक पुराना है, और यह नाम मुसलमानोंका दियाहुआ है। हिन्दू लेखकों (तुलसीदास आदि) ने सर्वत्र 'भाषा' शब्दका ही प्रयोग किया है ।

अमीर खुसरो (सन् १३४०-८१) ने सर्वप्रथम अपनी 'खालिक़-बारी' (उर्दू - हिन्दी - कोष) में इस भाषाको 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' नाम दिया है, अर्थात् हिन्दुस्तानियोंकी भाषा हिन्दी, किसी जाति-विशेषकी भाषा नहीं। अलाउद्दीन खिलजी (सन् १२९५-१३१५ ई०) के शासन-काल में फ़खरुद्दीन मुबारक ग़ज़नवीने एक शब्द - कोष तैयार किया जिसमें उसने फ़ारसी शब्दोंके हिन्दी पर्याय दिये। शाह मीरानजी शम्शुल उशाक़ (सन् १४९५) अपनी रचनाओंकी भाषाको हिन्दी कहते थे। दक्खिनमें भी 'दक्खिनी' के साथ 'हिन्दी' नाम प्रचलित था। बीजापुरके अली आदिलशाह द्वितीय (१६५६ - १६७२) के दरबारी कवि नसरातीने भी अपनी हिन्दी कविताओंका उल्लेख किया है। इसके पश्चात् 'सौदा' के उस्ताद शाह हातम (सन् १७५०), इंशाअल्ला खाँ (सन् १८५५-७५), एलोर (मद्रास) के बाक़र, आगाह (११५७ हिजरीमें जन्म)आदि प्रसिद्ध मुसलमान लेखक अपनी भाषाकेलिए 'हिन्दी' नामका ही प्रयोग करतेआये हैं। बाक़र आगाहने अपने दीवानका नाम 'दीवाने - हिन्दी' रखा। दिल्लीके विख्यात कवि 'मीर' ने अपनी भाषाको 'हिन्दी' ही कहा। हिन्दुओंने अपनी 'भाषा' केलिए मुसलमानों द्वारा दियेगये इस नामको अपनालिया। इस प्रकार हिन्दी नाम समस्त मध्यदेशकी भाषाकेलिए प्रयुक्त होतारहा है। उपयुक्तभी है।

'उर्दू' शब्दका भाषाकेलिए कबसे प्रयोग होनेलगा, यह अभीतक विवादास्पद है। 'उर्दू' शब्द तुर्की भाषाका है, जिसका अर्थ लश्कर (छावनी) होता है। मीर अम्मन देहलवीने 'बाग़ोबहार' (सन् १८०१) में लिखा है कि उर्दूकी उत्पत्ति अकबर बादशाहके समयमें हुई। सर सय्यद अहमदखाँकी पुस्तक 'आसारुस्सनादीद' (सन् १८५४) में उर्दू की उत्पत्ति शाहजहाँके कालमें बतायीगयी है। परन्तु यह भी संदिग्ध है. क्योंकि यदि उस समय 'उर्दू' शब्द प्रचलित होगया होता तो सैयद अता-हुसैन 'तहसीन' को 'चहार-दरवेश' के अनुवाद 'नौ तर्ज़मुरस्सा' में अपनी

भाषाकेलिए रेख्ता, हिन्दी और जबान उर्दू-ए-मुअल्ला इन तीन नामोंका एकसाथ प्रयोग न करना पड़ता। इससे सिद्ध है कि सन् १७९७ तक 'उर्दू' शब्द व्यापक और रूढ़ नहीं होपाया था। इसके पश्चात् ही 'मसहफ़ी' और 'दाग़' ने अपने शेरोंको उर्दू भाषाके शेर कहा। इस प्रकार 'उर्दू' बहुत नया नाम है। राष्ट्रभाषाकेलिए यह नाम किसी प्रकार भी उपयुक्त नहीं। फिर उर्दू एक विशेष शैलीका नाम है, किसी स्वतन्त्र भाषाका नाम नहीं।

'हिन्दुस्तानी' नामकी व्युत्पत्ति मनोरञ्जक है। सत्रहवी सदीमें पुर्तगालियोंने भारतमें आकर यहाँकी भाषाका नाम 'इन्डोस्तान' (Indostan) रखा। अठारहवीं सदीके प्रारम्भमें एक अंग्रेज इतिहास-लेखकने इस भाषाका नाम 'हिडोस्टैंड' (Hindostand) लिखा है। इन महानुभावो के अनोखे नामोंपर विस्मय न कर यदि हम और छानबीन करें तो हमें पता लगता है कि मौलाना वजहीने अपनी पुस्तक 'मरबस' (१०४०हिजरी) में इस भाषाको 'जबाने हिन्दुस्तान' लिखा था। परन्तु यह समस्त मध्यदेश या उत्तर भारतकी भाषाका नाम नहीं था बल्कि केवल युक्त प्रदेश और अन्तर्वेद (दो आब) के मुसलमानोंकी भाषाका नाम था जिसमें विदेशी भाषाओंके शब्द अधिक हों। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज, कलकत्तेके डॉ० गिलक्राइस्ट (सन् १८०३) ने जब हिन्दी-उर्दूमें पुस्तकें लिखवायीं तबसे ही 'हिन्दुस्तानी' शब्दपर सरकारी छाप लगी। हिन्दुस्तानीसे अबतक हिन्दीकी उर्दू शैली ही सूचित होतीआयी है। अतः यह नाम भी अनुपयुक्त है।

व्यावहारिक—'हिन्दी' नाम मुसलमानोंका दिया है और हिन्दुओं को भी स्वीकृत होगया है, अतः 'हिन्दी' नाम हिन्दुओं और मुसलमानोंकी सम्मिलित भाषाके नामका, उनकी एकताका द्योतक है। व्यावहारिक दृष्टिसे यह सर्वमान्य नाम है। इसके अतिरिक्त देशोंके नामपर ही भाषाओं के नाम भी होते हैं जैसे अरबी, ईरानी, फ़ारसी, चीनी, जापानी, रूसी, अंग्रेजी, फ्रांसीसी आदि। हिन्दी भी ऐसा ही नाम है।

उर्दू एक प्रकारसे मुसलमानो द्वारा हठपूर्वक गढ़ीगयी हिन्दीकी ही एक शैलीका नाम है। इस नामको हिन्दुओंने कभी नहीं अपनाया। सरकारी कृपादृष्टि बनीरहे, इसलिए कुछ सरकारी हिन्दू कर्मचारियोंने उर्दूको अपनी भाषा कहा हो तो वह बात दूसरी है। इसके अतिरिक्त उर्दूसे किसी देशकी

भाषा होनेका संकेत नहीं मिलता। अतः व्यावहारिक दृष्टिसे उर्दू नाम सर्वथा अग्राह्य है।

हिन्दुस्तानी नाम संकुचित अवश्य है क्योंकि इससे हिन्दुस्तान (उत्तरी दोआब) की भाषाका ही संकेत होता है। परन्तु अब सारे भारत को भी अक्सर हिन्दुस्तान कहाजाता है, अतः यदि सारा झगड़ा इस नामको स्वीकार करनेसे ही खत्म होजाय अर्थात् 'राष्ट्रभाषाके स्वरूप' और 'राष्ट्र-लिपि' केलिए विवाद न उठे तो राष्ट्रभाषाका नाम 'हिन्दुस्तानी' भी स्वीकार किया जासकता है। परन्तु इस विवादमें इन नामोंके पीछे भाषाके स्वरूपका विवाद छिपाहुआ है। अतः 'हिन्दुस्तानी' नाम भी उपयुक्त नहीं है।

(ख) *राष्ट्रभाषाका स्वरूप हिन्दी हो*—ऐतिहासिक, भाषाशास्त्रीय और व्यावहारिक दृष्टिसे राष्ट्रभाषाका स्वरूप हिन्दी होना ही अधिक उपयुक्त है।

ऐतिहासिक—हिन्दीसे तात्पर्य संस्कृतनिष्ठ साहित्यिक खड़ीबोली से है, परन्तु हिन्दीकी समस्त बोलियाँ भी हिन्दीके ही अन्तर्गत आती हैं और उनके रूपों और प्रत्ययोंमें परस्पर इतना भेद होतेहुए भी खड़ीबोली, ब्रज, बाँगरू, राजस्थानी, बुन्देली, अवधी, भोजपुरी, मैथिल, मगही आदि भाषाओंका प्राचीन काव्य-साहित्य हिन्दीका ही काव्य-साहित्य माना जाता है। इस दृष्टिसे उर्दूके समान हिन्दी कोई नयी कृत्रिम भाषा नहीं है, वरन् सीधे संस्कृत और मध्यदेशकी शौरसेनी और मागधी, अर्ध-मागधी प्राकृतों और अपभ्रंशोंसे उत्पन्न हुई भाषा है। गत एक हज़ार वर्षोंकी हिन्दी की गौरवमयी काव्य-परम्परा उसको अन्य भाषाओंके मुक़ाबलेमें राष्ट्रभाषा-पदकेलिए सबसे उपयुक्त भाषा बनादेती है। चन्द बरदाई, विद्यापति, कबीर, जायसी, तुलसीदास, सूरदास, मीरा, बिहारी, केशव, मतिराम, भूषण, देव, पद्माकर, हरिश्चन्द्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, प्रेमचन्द, प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवीके द्वारा प्रवाहित हिन्दी-काव्य और साहित्य परंपराकी इस अजस्र-धारामें ग्यारहवीं शताब्दी अथवा उससे भी पूर्वसे लेकर अबतक कहीं विच्छेद नहीं हुआ है। समस्त मध्यदेश और उत्तर भारतके सांस्कृतिक जीवनकी अभिव्यञ्जना हिन्दीमें हुई है, अतः वह यहाँ की संस्कृतिकी प्रतीक है। देश जब विदेशी आक्रमणों और अनार्य विजेताओं और मुसलमानोंके कारण पदाक्रान्त होरहा था उस समय हिन्दीके

कवियोंने ही उसे आशाका संदेश सुनाया, उसमें जीवन और स्फूर्तिका संचार किया। केवल मध्यदेश ही नहीं, दक्षिण और पूर्व भारतमें भी हिन्दीकी चैतन्य काव्य-परंपराने अपना अस्तित्व ज्ञान पैदाकर नयी जाग्रति फूँकी। लोक जीवनकी श्रुति - परंपराने हिन्दीके कवियोंकी रचनाओंको देशके गाँव-गाँव और घर-घरमें पहुँचा दिया है। अतः हिन्दी जनताकी भाषा है।

स्वयं अनेक मुसलमानोंने हिन्दीके इस भारतीय स्वरूपको ही अपनाया और हिन्दी काव्यके निर्माणमें योगदिया। कारण, हिन्दी जनताकी भाषा थी और मुसलमान बादशाहोंके दरबारोंमें फ़ारसीका प्रचलन था। हिन्दीको समृद्ध बनानेमें मुसलमानोंने प्रत्येक कालमें और प्रत्येक काव्य-धारामें रचनाएँ की हैं। ज्ञानाश्रयी शाखा, प्रेममार्गी शाखा, रामभक्ति शाखा, कृष्णभक्ति शाखा, रीति काव्य, आधुनिक काव्य—इन सभी काव्य परंपराओं में मुसलमान कवियोंने जो योगदान दिया है वह उपेक्षणीय नहीं है। अमीर ख़ुसरो (सं० १३४०) से लेकर, कबीर (सं० १४५६), कुतबन (सं० १५५०), मलिक मुहम्मद जायसी (सन् १५२८), रसखान (सं०१६४०), रहीम(सं०१६१०-८३),आलम(सं० १६४०),जमाल (सं०१६२७), क़ादिर (सं०१६६५),मुबारक(सं०१६७०),उसमान(सन्१६१३),शेखनबी(सं०१६-७६),अलीमुहिब्बखाँ(सं. १७८७),रसलीन(सं. १७१४),आलम(सं.१७४०), कासिमशाह [सं० १७८८], नूरमुहम्मद [सं०१८०१] और वर्तमान युगमें अजमेरीजी तक मुसलमानोंने हिन्दीके जो काव्य ग्रन्थ रचे हैं उनपर किसी भी साहित्यको गर्व होसकता है। परन्तु ये रचनाएँ उन्होंने अपने कालकी हिन्दीकी साहित्यिक भाषा अवधी, व्रज या खड़ीबोलीमें ही कीं और उनमें विदेशीपन लाकर भारतकी सांस्कृतिक एकताके तारको विच्छिन्न करनेकी चेष्टा नहीं की। ये कवि दिल्ली, काशी, जौनपुर, ग़ाज़ीपुर, पिहानी, बिलग्राम, हरदोई, बाराबंकी, आगरा आदि मध्यदेशके विभिन्न स्थानोंमें जन-जीवनके निकट रहकर कविता करते थे, दरबारोंमें जाकर शासकोंके इंगित पर उन्होंने अपनी सरस्वतीके आँचलको कलुषित नहीं होनेदिया। इस प्रकार हिन्दीको हिन्दुओं और मुसलमानोंकी सम्मिलित भाषा होनेका गर्व है। आजभी, नगरोंके कुछ पढ़ेलिखे मुसलमानोंको छोड़कर, आमतौरपर मुस्लिम जनता हिन्दीकी ही विभिन्न बोलियोंको बोलती हैं। अतएव हिन्दी

का परम्परागत स्वरूप ही राष्ट्रभाषाका स्वरूप होसकता है, अन्य कोई स्वरूप जनतामें सर्वमान्य न होसकेगा।

उर्दूके समर्थकोंका दावा है कि खड़ीबोलीका साहित्यिक भाषाके रूपमें निर्माण सर्वप्रथम मुसलमानोंने ही किया और ग़दर, सन् १८५७ ईस्वी, तक उर्दू ही हिन्दू - मुसलमानोंकी सम्मिलित भाषा रही। यह एक भ्रान्त धारणा है। खड़ीबोली हिन्दीकी अन्य बोलियोंकी तरह एक प्राचीन बोली है। उसमें अधिक काव्य-रचना नहीं हुई, इसका कारण केवल यह था कि ब्रजभाषा उस समय साहित्यकी भाषा थी, और जब दिल्ली दरबार में फ़ारसीका प्रयोग होनेलगा तो उसका प्रभाव दरबारसे सम्बन्ध रखने वाले आस-पासके लोगोंपर भी पड़ा और उसमें अरबी - फ़ारसीके शब्द घुसनेलगे। जिन्होंने मुस्लिम दरबारोंके आश्रयमें रहकर खड़ीबोलीमें कविता लिखनी प्रारम्भ की उन्होंने उसे शासकोंकी सुविधाकेलिए फ़ारसी-अरबी-मिश्रित बनानेकी कोशिश की। इस कविताका आदर्श, पद-विन्यास, शब्द भण्डार सभी विदेशी होता चलागया। अतः मध्यदेशकी हिन्दू और मुस्लिम जनताको खड़ीबोलीका यह 'उर्दू' संस्कार मान्य नहीं हुआ, और वह ब्रज भाषामें ही अपनेको अभिव्यक्त करती आयी। मुग़ल साम्राज्यके ध्वंसके बाद जब कायस्थ, अग्रवाल, खत्री आदि दिल्लीकी व्यापारी अथवा दफ़्तरों में काम करनेवाली जातियाँ पूरबी युक्तप्रान्तमें आकर बसनेलगीं तो खड़ीबोलीको भी अपने साथ लेतीगयीं और इस प्रकार खड़ीबोली अपने शुद्ध रूपमें मध्यदेशके अन्य स्थानोंमें भी फैलनेलगी। यह कहना सरासर ग़लत है कि फ़ोर्टविलियम कॉलेज अथवा ग़दरके पश्चात् ही प्रतिक्रियावश हिन्दुओं ने संस्कृतनिष्ठ गद्य लिखना प्रारम्भ किया और हिन्दू-मुसलमानोंकी सम्मिलित भाषा उर्दूको त्यागकर विग्रहका बीज बोया। मुसलमानोंने खड़ीबोलीमें जब गद्य लिखना प्रारंभ किया उसके बहुत पहलेसे उसमें गद्य लिखा जातारहा है, परन्तु वह गद्य हिन्दी-परंपराके अनुसार था, उसमें जानबूझकर अरबी-फ़ारसी नहीं भरीजाती थी। विग्रहका बीज तो मुसलमानोंने ही बोया। अकबरके समकालीन कवि गङ्गकी पुस्तक 'चन्द-छन्द बरननकी महिमा' को खड़ीबोली गद्यकी प्रथम पुस्तक कहसकते हैं। श्रीरामप्रसाद 'निरञ्जन' (सं० १७९८) का 'भाषा योगवासिष्ठ', पण्डित दौलतरामका हरिषेणाचार्यकृत जैन 'पद्मपुराण' का ७०० पृष्ठोंका भाषानुवाद, मुंशी सदासुखकी

का परम्परागत स्वरूप ही राष्ट्रभाषाका स्वरूप होसकता है, अन्य कोई स्वरूप जनतामें सर्वमान्य न होसकेगा।

उर्दूके समर्थकोंका दावा है कि खड़ीबोलीका साहित्यिक भाषाके रूपमें निर्माण सर्वप्रथम मुसलमानोंने ही किया और ग़दर, सन् १८५७ ईस्वी, तक उर्दू ही हिन्दू-मुसलमानोंकी सम्मिलित भाषा रही। यह एक भ्रान्त धारणा है। खड़ीबोली हिन्दीकी अन्य बोलियोंकी तरह एक प्राचीन बोली है। उसमें अधिक काव्य-रचना नहीं हुई, इसका कारण केवल यह था कि व्रजभाषा उस समय साहित्यकी भाषा थी, और जब दिल्ली दरबार में फ़ारसीका प्रयोग होनेलगा तो उसका प्रभाव दरबारसे सम्बन्ध रखने वाले आस-पासके लोगोंपर भी पड़ा और उसमें अरबी-फ़ारसीके शब्द घुसनेलगे। जिन्होंने मुस्लिम दरबारोंके आश्रयमें रहकर खड़ीबोलीमें कविता लिखनी प्रारम्भ की उन्होंने उसे शासकोंकी सुविधाकेलिए फ़ारसी-अरबी-मिश्रित बनानेकी कोशिश की। इस कविताका आदर्श, पद-विन्यास, शब्द भण्डार सभी विदेशी होता चलागया। अतः मध्यदेशकी हिन्दू और मुस्लिम जनताको खड़ीबोलीका यह 'उर्दू' संस्कार मान्य नहीं हुआ, और वह व्रज भाषामें ही अपनेको अभिव्यक्त करती आयी। मुग़ल साम्राज्यके ध्वंसके बाद जब कायस्थ, अग्रवाल, खत्री आदि दिल्लीकी व्यापारी अथवा दफ़्तरों में काम करनेवाली जातियाँ पूरबी युक्तप्रान्तमें आकर बसनेलगीं तो खड़ीबोलीको भी अपने साथ लेतीगयीं और इस प्रकार खड़ीबोली अपने शुद्ध रूपमें मध्यदेशके अन्य स्थानोंमें भी फैलनेलगी। यह कहना सरासर ग़लत है कि फ़ोर्टविलियम कॉलेज अथवा ग़दरके पश्चात् ही प्रतिक्रियावश हिन्दुओं ने संस्कृतनिष्ठ गद्य लिखना प्रारम्भ किया और हिन्दू-मुसलमानोंकी सम्मिलित भाषा उर्दूको त्यागकर विग्रहका बीज बोया। मुसलमानोंने खड़ीबोलीमें जब गद्य लिखना प्रारंभ किया उसके बहुत पहलेसे उसमें गद्य लिखा जातारहा है, परन्तु वह गद्य हिन्दी-परंपराके अनुसार था, उसमें जानबूझकर अरबी-फ़ारसी नहीं भरीजाती थी। विग्रहका बीज तो मुसलमानोंने ही बोया। अकबरके समकालीन कवि गङ्गकी पुस्तक 'चन्द-छन्द बरननकी महिमा' को खड़ीबोली गद्यकी प्रथम पुस्तक कहसकते हैं। श्रीरामप्रसाद 'निरञ्जन' (सं० १७६८) का 'भाषा योगवासिष्ठ', पण्डित दौलतरामका हरिषेणाचार्यकृत जैन 'पद्मपुराण' का ७०० पृष्ठोंका भाषानुवाद, मुंशी सदासुखकी

के अनुसार भाषाकी स्वाभाविक समीकरण पद्धतिसे हिन्दीमें घुलमिल जायँ, जिस तरह हज़ारों शब्द घुलमिल गये हैं, तो उनसे किसीको कोई आपत्ति न हो। इससे तो भाषा और समृद्ध ही होती है, परन्तु यदि वे अपनी विदेशी वेशभूषा त्यागे बिना ही अपना सम्मान चाहें तो यह कैसे संभव है? प्रत्येक भाषाकी अपनी गठन होती है, अपनी प्रकृतिगत आभा होती है, अपनी संस्कृतिका वातावरण और आदर्श होता है। भाषाका ध्वनि - सामञ्जस्य और स्वर-सामञ्जस्य उसके विकास और मार्जनकी दिशा निर्दिष्ट करता है। विदेशी शब्द अपने विदेशीपनको लेकर यदि घुसआयें तो वे इस सामंजस्यको नष्ट करके भाषाको भोंडी और विषम ही बनासकते हैं, उसको निखार नहीं सकते। इसके अतिरिक्त उर्दूवालोंका आग्रह है कि पारिभाषिक शब्द अरबीसे लियेजायँ। ऐसा क्यों कियाजाय जबकि हिन्दी अपनी मा संस्कृत और प्राकृतोंसे पारिभाषिक शब्द लेसकती है?

व्यावहारिक—संस्कृतसे पारिभाषिक शब्द उधार लेनेका व्यावहारिक औचित्य भी है। हिन्दी-भाषा हिन्द-ईरानी-शाखाकी भारतीय-आर्य उपशाखाकी एक भाषा है। अतः भारतीय - आर्य उपशाखाकी अन्य भाषाओं—जैसे बंगाली, गुजराती, मराठी, असामी, उड़िया, सिंधी, पञ्जाबी, आदि–से उसका निकटका सम्बन्ध है। ये सब भाषाएँ संस्कृत और प्राकृतों से निकली हैं। स्वाभाविक है कि उनमें संस्कृतके तत्सम और तद्भव शब्दोंकी बहुलता है। ये सब भाषाएँ भी अधिकतर संस्कृतकी धातुओंको ही प्रयोगमें लाती हैं और पारिभाषिक शब्दोंको अपनी जननी संस्कृतसे उधार लेती हैं। ऐसी दशामें राष्ट्रभाषा हिन्दी भी यदि संस्कृतसे ही पारिभाषिक शब्द लेती है और तत्सम शब्दोंका अधिक प्रयोग करती है इसमें अस्वाभाविक क्या है? तो वह अपनी बहनोंके और निकट ही पहुँचना चाहती है। दक्षिणकी द्राविड़ी-कुलकी भाषाओं–तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम पर भी संस्कृत और प्राकृतोंका गहरा प्रभाव पड़ा है, जिसके कारण उन भाषाओंमें भी अरबी-फ़ारसीकी अपेक्षा संस्कृतके शब्द अधिक हैं। अतः हिन्दीको अपनी संस्कृतनिष्ठताके कारण इन भाषा - क्षेत्रोंमें भी प्रचलन पानेमें अधिक सुगमता होगी। यदि उर्दू अथवा प्रचलित हिन्दुस्तानी राष्ट्रभाषा बनगयी तो इन प्रान्तोंके निवासियोंको राष्ट्रभाषा सीखनेमें दुर्गम कठिनाइयाँ उठानी पड़ेंगी। उल्लेखनीय बात यह है कि इन भाषा प्रान्तों

के मुसलमान भी अपने-अपने यहाँकी मातृभाषाको ही बोलते हैं। यद्यपि साम्प्रदायिक उन्मादको जगाकर इन क्षेत्रोंके मुसलमानोंको भी उर्दू सीखने केलिए विवश किया जारहा है, और इस प्रकार उर्दूको एक अखिल भारतीय भाषा बनानेका षड्यन्त्र रचा जारहा है। तोभी अभीतक उर्दू बोलनेवाले उत्तर भारतके कुछ लाख मुसलमान ही हैं। इसके विपरीत हिन्दी १४ करोड़की मातृभाषा है और लगभग २५ करोड़ व्यक्ति उसे बोललेते हैं और उसे अपने अन्तरप्रान्तीय व्यवहारमें भी लाते हैं। इन सब दृष्टियोंसे देखनेपर हिन्दीका दावा निर्विवाद होजाता है। केवल चन्द लोगोंकी हठधर्मी और साम्प्रदायिक-राजनीतिक स्वार्थोंके कारण ही राष्ट्र-भाषाका प्रश्न हल नहीं हो पारहा।

(ग) राष्ट्रलिपि देवनागरी हो

ऐतिहासिक, भाषा-शास्त्रीय और व्यावहारिक दृष्टिसे राष्ट्रभाषाके लिए देवनागरी लिपि ही उपयुक्त है।

ऐतिहासिक : ऐतिहासिक दृष्टिसे देवनागरी लिपिका सम्बन्ध भारतकी प्राचीनतम लिपि ब्राह्मीसे सिद्ध है। प्राचीन कालमें पश्चिमोत्तर प्रदेशको छोड़कर समस्त भारतमें ब्राह्मी लिपिका ही प्रचलन था। ब्राह्मी लिपिका आविष्कार आर्योंने ही किया था, ऐसा अनुमान कियाजाता है, क्योंकि सामी आदि विदेशी लिपियोंसे उसकी उत्पत्ति बतानेवाले मत कपोल-कल्पित ही लगते हैं। ब्राह्मी बायीं ओरसे दाहिनी ओरको लिखीजाती थी और सामी लिपियाँ दाहिनी ओरसे बायीं ओरको। उनके वर्णोंमें कोई आकृति-मूलक समता भी नहीं है। यह भी निर्विवाद होचुका है कि समस्त भारतीय लिपियोंका उद्गम प्राचीन राष्ट्र लिपि ब्राह्मीसे हुआ है। लगभग ३५० ई० तक ब्राह्मी लिपिका भारतमें प्रचार रहा, उसके पश्चात् ब्राह्मी लिपिके लिखनेके दो प्रवाह होगये, एकको दक्षिणी शैली कहते हैं दूसरी को उत्तरी शैली। द्राविड़ी परिवारकी भाषाओंकी तेलुगू-कन्नड़ी, ग्रन्थ, तामिल आदि लिपियाँ ब्राह्मीकी दक्षिणी शैलीसे निकली हैं। उत्तरी शैली का विकास नागरी और काश्मीरीकी शारदा, लिपियोंके रूपमें हुआ'। प्राचीन नागरीकी पूर्वी शाखासे बँगला, नैपाली, मैथिली और उड़िया लिपियाँ निकलीं और प्राचीन नागरीसे ही कैथी, महाजनी, राजस्थानी,

गुजराती आदि लिपियाँ भी निकलीं। शारदासे वर्तमान कश्मीरी, टाकरी और गुरुमुखी लिपियों की उत्पत्ति हुई। वर्तमान देवनागरी लिपिका विकास प्राचीन नागरी लिपिसे दसवीं शताब्दी ईसवीके लगभग हुआ और आज-कल मराठी और हिन्दी भाषाएँ देवनागरी लिपिमें लिखी जाती हैं तथा संस्कृतके ग्रन्थ सर्वत्र देवनागरी लिपिमें ही मुद्रित होते हैं। इससे सिद्ध है कि देवनागरी लिपि भारतकी परम्परागत लिपिका विकसित रूप है और उसके ही विभिन्न रूप सारे देशमें प्रचलित हैं।

भाषा - शास्त्रीय

देवनागरी लिपिकी विशेषता उसके ध्वनि - चिन्हों (वर्णों) की वैज्ञानिक योजना और सुवाच्यता है। उसकी यही महत्ता है कि उसमें जोकुछ लिखाजाता है वही पढ़ा भी जाता है, अर्थात् अक्षरोंका विन्यास उच्चारणके अनुकूल है। देवनागरीकी वर्णमाला और लिपि अरबी - फ़ारसी रोमन वर्णमालाओं और लिपियोंकी अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक ध्वनि-क्रम के अनुसार है, इसे सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। देवनागरी लिपि सहज, सुबोध, सुवाच्य, नियमित और सरल है, यह भी सर्वमान्य तथ्य है। ऐसी दशामें किसी अवैज्ञानिक, जटिल और दुर्बोध लिपि (जैसे अरबी-फ़ारसी) को किस भाषा शास्त्रीय आधारपर स्वीकार किया जासकता है?

उर्दूके समर्थक अरबी - फ़ारसीकी लिपिकेलिए आग्रह करते हैं। पहले तो अरबी-फ़ारसीकी लिपि और वर्णमाला सामी लिपियोंके परिवार की है अतः दाहिनी ओरसे बायीं ओरको लिखीजाती है। नागरी अक्षरों से उर्दूके अक्षरोंकी आकृति एकदम भिन्न है। उर्दू वर्णमालामें ध्वनि-क्रम की कोई योजना नहीं है। एक ही ध्वनिको अंकित करनेकेलिए अनेक वर्ण हैं जैसे 'स' केलिए 'स्वाद' 'सीन' और 'से'; 'त' केलिए 'ते' और 'तोय'; 'ह' केलिए छोटी 'हे' और बड़ी 'हे'; 'ज़' केलिए 'ज़ाल' 'ज़े' 'ज्वाद' और 'ज़ोय'। इन वर्णोंके प्रतिरूप अरबीके समान उर्दूमें ध्वनियाँ नहीं हैं, अतः यदि किसीको अरबी इमलोंका ज्ञान न हो तो केवल सुनकर अक्षर-विन्यास शुद्ध नहीं लिखसकता। आर्य-भाषाओंकी लिपियोंमें (देवनागरी आदि) स्वर मात्रामें दिखाये जाते हैं, परन्तु सामी भाषाओंकी लिपियोंमें स्वर चिन्होंसे अंकित किये जाते हैं। पर ज़ेर, ज़बर, पेश आदि चिन्होंको मिलाकर भी आर्य - भाषाओंके सभी स्वर उसमें अंकित नहीं होपाते और

सामी लिपिमें इन चिन्होंका प्रयोग बहुधा लेखककी इच्छापर निर्भर करता है। फलतः ऐसी अराजकता फैलती है कि जो लिखाजाता है वह पढ़ा नहीं जाता और वाक्य-सन्दर्भसे संगति बैठाकर पढ़ना अनिवार्य होजाता है। उदाहरणकेलिए 'कुतुब' को 'कुतब' 'कुतुब' और 'कतब' पढ़ा जासकता है, कोरको 'कूर' 'कवर' और 'कौर' भी पढ़ा जासकता है। अतः बिना अर्थ समझे केवल अक्षर-ज्ञानसे शुद्ध पढ़लेना असंभव है।

इसमें सन्देह नहीं है कि देवनागरी लिपिमें भी कतिपय त्रुटियाँ हैं, परन्तु ब्राह्मी लिपिके समयसे यदि अबतकका भारतीय लिपियोंका इतिहास देखें तो उसमें बड़ा स्वस्थ विकास क्रम मिलता है। १० वीं सदीकी लिपिमें 'अ, आ, घ, प, म, य, ष, स' के सिर दो हिस्सोंमें विभक्त होते थे, परन्तु ११वीं सदीसे उनका आधुनिक रूप चल निकला। वर्तमान कालमें हां च, क्क, क, की लिखावट बदलकर च्च, क्क, क्व आदि आगे-पीछे लिखा हुआ रूप ग्रहण करगयी है। इस प्रकार देवनागरी लिपिमें संशोधन होता जारहा है। यदि अभीतक देवनागरी लिपिमें ऐसी त्रुटियाँ वर्तमान हैं जैसे कि उ, ऊ, ऋ की मात्राएँ (ु, ू, ृ,) वर्णोंके नीचे और ए, ऐ, ओ, औ की मात्राएँ (े, ै, ो, ौ,) वर्णोंके ऊपर लगती हैं, अथवा ङ, छ, ट, ठ, ड, ढ, द, ह आदि व्यञ्जनोंमें खड़ीपाई स्पष्ट अन्तिम अंश नहीं है, और उनमें संयुक्त व्यञ्जनोंको ऊपर-नीचे लिखनेका क्रम अभीतक जारी है अथवा र कार के तीन रूप (‐, र्, ्र,) अभीतक प्रचलित हैं, ख से र व का भ्रम होजाता है या ह्रस्व ए, ओ केलिए व्यतिरिक्त वर्ण और मात्राएँ नहीं हैं तो इन त्रुटियोंके प्रति हिन्दीके भाषा-शास्त्री उदासीन नहीं हैं और वे देवनागरी लिपिको अधिक वैज्ञानिक और सम्पूर्ण बनानेकी चेष्टा कररहे हैं। परन्तु फिरभी भारतीय भाषाओंकी प्रकृतिके अनुकूल देवनागरी लिपि ही है और उर्दू लिपि तो किसी प्रकार भी प्रयोगमें नहीं लायी जासकती। रोमन लिपि यद्यपि उर्दू लिपिसे अधिक वैज्ञानिक है और सरल सुबोध है, तथापि किसी सामयिक लाभकी दृष्टिसे देवनागरी जैसी वैज्ञानिक लिपिको त्यागदेना समीचीन नहीं लगता।

व्यावहारिक

हिन्दी और मराठी भाषाएँ देवनागरी लिपिमें लिखी जाती हैं और

भारतकी समस्त उत्तरी और दक्खिनी भाषाओंकी लिपियाँ नागरी अथवा ब्राह्मी लिपिकी ही रूपान्तर-मात्र हैं, अतः देवनागरी लिपिसे भारतकी समस्त भाषाओंकी लिपियोंका निकट साम्य है। जिसके कारण राष्ट्रलिपिके रूपमें देवनागरी लिपिको समस्त भारतमें प्रचलित करना सुगम होगा। यदि अहिन्दी भाषाएँ भी स्वेच्छासे देवनागरी लिपिको ही ग्रहण करलें तो समस्त भारतीय भाषाओंकी एक ही लिपि होसकती है। इसके अतिरिक्त संस्कृत का विशाल वाङ्मय देवनागरी लिपिमें ही प्रकाशित हुआ है, तथा और भाषाओंका साहित्य भी देवनागरी अथवा उसको रूपान्तर करके बनी लिपियोंमें है। केवल उर्दूका अपेक्षाकृत थोड़ा-सा साहित्य ही एक विदेशी लिपिमें है। यदि उर्दूवाले अपना दुराग्रह छोड़कर देवनागरी लिपिको अपनालें तो विग्रहका बहुत कुछ आधार मिटजाय; क्योंकि तब मुसलमानोंको भारतीय साहित्य और चिन्ता धारासे एकदम अलग रखनेवाला अवरोध हट जायगा। यह आसान भी है, परन्तु सारे संस्कृत और आधुनिक भाषाओं के साहित्यको उर्दू लिपिमें करना असम्भव कार्य है। और कोई ऐसी राष्ट्र-लिपि नहीं स्वीकार की जासकती जिसका भारतीय साहित्यकी परम्परासे कोई सम्बन्ध न हो, अथवा जिसके कारण आधुनिक या प्राचीन भाषाओं का साहित्य पढ़नेकेलिए एक और लिपिको सीखना पड़े। हिन्दुस्तानीके समर्थकोंका यह कहना कि राष्ट्रभाषा दोनों लिपियोंमें लिखी जाय, व्यावहारिक दृष्टिसे अनुपयोगी प्रस्ताव है। देशकी एकताकेलिए एक राष्ट्रलिपि आवश्यक है। यदि दो लिपियाँ प्रयोगमें लायी गयीं तो मुसलमान उर्दू लिपि सीखेंगे और हिन्दू देवनागरी और दोनोंका सांस्कृतिक सम्पर्क फिर भी उतना ही असंभाव्य बना रहेगा। इसके अतिरिक्त मुद्रण और प्रकाशन की दृष्टिसे भी देवनागरी लिपि ज़्यादा उपयुक्त ठहरती है। सार्वजनिक शिक्षाका उद्देश्य मुद्रण और प्रकाशनकी सुविधाके बिना पूरा नहीं किया जासकता।

संक्षेपमें हिन्दीवालोंका दावा है कि हिन्दी (संस्कृत निष्ठ-साहित्यिक खड़ी बोली) ही समूचे भारतवर्षकी राष्ट्रभाषा होसकती है और देवनागरी लिपि ही राष्ट्रलिपि बनसकती है।

(ब) *उर्दू—(क) क़ौमीज़बानका नाम उर्दू हो।* ऐतिहासिक और व्यावहारिक दृष्टिसे यही नाम समीचीन है।

ऐतिहासिक दृष्टिसे राष्ट्रभाषाके प्रश्नपर विचार करनेके पूर्व इस

साम्प्रदायिक धारणाको मनसे हटादेना चाहिए कि केवल वे ही नाम 'भारतीय' संस्कृतिके द्योतक होंगे जो मध्यकालीन आर्य-भारतमें प्रचलित थे। उस समयके भारतका सांस्कृतिक रूप प्रधानतः आर्य अथवा हिन्दू था। भारतमें मुसलमानोंके आने और आकर यहाँ बसजानेसे हिन्दुस्तान का सांस्कृतिक अद्वैत अविच्छिन्न न रहसकता था। परस्पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था और आज जब हम भारतीय संस्कृतिकी बात करें तब हमें यह ध्यानमें रखना चाहिए कि जिन उपादानोंसे आधुनिक भारतीय संस्कृति का स्वरूप गढ़ागया है उसमें हिन्दुओं और मुसलमानोंका सदियोंका सक्रिय सहयोग और सम्मिलित योगदान है। हिन्दुस्तानकी एकता या राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपिके प्रश्न मध्यकालीन भारतकी मुस्लिम प्रभावसे अछूती हिन्दू संस्कृतिको आदर्श या कसौटी मानकर नहीं हल किये जासकते। मुसलमानोंने हिन्दुस्तानकी संस्कृति, भाषा और विचारधारा पर जो प्रभाव डाला है और उसके विकासमें जो योग दिया है, उस सबको अलग करके किसी भी चीज़को आधुनिक युगमें 'भारतीय' नहीं कहा जासकता। आँकड़े जोड़कर या सत्याभासोंका इन्द्रजाल रचकर इस तथ्यको नज़र अन्दाज करनेकी कोशिश करना एक बात है और गम्भीरतापूर्वक विचार करके इन प्रश्नोंका हल तलाश करना बिल्कुल दूसरी बात है।

यह सत्य है कि मुसलमान लेखकोंने प्रारम्भमें हिन्दुस्तानकी भाषा को 'हिन्दवी' या हिन्दी नाम दिया। और मुसलमान आज भी 'हिन्दी' अथवा 'हिन्दुस्तानी' नामको स्वीकार करलेते यदि हिन्दुओंने अपनी संकीर्ण साम्प्रदायिकताके प्रमादमें हिन्दू-मुसलमानोंकी सदियोंकी सम्मिलित कोशिशसे बनायी संयुक्तभाषा उर्दूको मिटाकर उसके स्थानपर एक नयी संस्कृतगर्भित शैली चलानेकी चेष्टा न की होती। हिन्दू राष्ट्रवादी इतिहासकी चरखीको पीछे घुमाना चाहते हैं, मुसलमान इसे कैसे स्वीकार करसकते हैं!

सर्वविदित है कि आदिसे लेकर अन्त तक मुसलमानोंके राजत्व-कालमें राजकीय भाषा फ़ारसी ही रही। किसी देशी भाषाको उन्होंने यह गौरव-पद नहीं दिया, जैसे अंग्रेज़ी शासनमें राजकीय भाषा अंग्रेज़ी है। अतः मुस्लिम शासकों द्वारा गढ़ी अथवा प्रोत्साहन दी गयी भाषा उर्दू नहीं है। एक प्रकारसे उर्दूकी तो सदैव दरबारोंमें उपेक्षा ही कीजाती रही। कारण स्पष्ट है कि उर्दू मुसलमानोंकी खास भाषा नहीं थी बल्कि दो

विचार न कर सभी विचारशील लोगोंको चाहिए कि वे हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियोंकी एकताके इस पवित्र संगम 'उर्दू' को हाथसे जाने न दें।

भाषा शास्त्रीय

भाषा शास्त्रीय दृष्टिसे देखनेका तात्पर्य यह नहीं है कि ११ वीं सदीकी 'भारतीयता' की कसौटीपर हिन्दुस्तानकी अन्य भाषाओंसे उर्दू का साम्य अथवा असाम्य सिद्ध किया जावे। यह भाषाशास्त्रका ऐतिहासिक मूल्यांकन करना नहीं होगा। भाषाओंके इतिहासको एक गत्यात्मक विकास-क्रमके रूपमें देखना चाहिए जिसमें नये प्रभाव अपनी प्रक्रियासे विकासकी नयी दिशाएँ खोल देते हैं। पिछले १ हज़ार वर्ष हिन्दुस्तानके इतिहासमें इस दृष्टिसे अपूर्व रहे हैं। इस बीच भाषा, न्याय, रहन-सहन, नैतिक आचार-विचार, साहित्य और कलाके आदर्श इन सभी क्षेत्रोंमें दो महान संस्कृतियों (हिन्दू और मुस्लिम अथवा आर्य और सामी) का संगम होता रहा है। हमारी मौजूदा ज़िन्दगीके हर पहलूपर इस मिश्रण की अमिट छाप है। इसीका परिणाम है कि देशकी समस्त भाषाओंमें अरबी और फ़ारसीके हज़ारों शब्द इस तरह घुलमिल गये हैं जैसे यहीं के हों। द्राविड़ी-कुलकी भाषाओं तकमें अरबी-फ़ारसीके शब्द व्यवहृत होनेलगे हैं। बंगाली, गुजराती, मराठी, विहारी और हिन्दुस्तानी भाषाओं की बात तो अलग है; और पंजाबी, सिंधी, काश्मीरी आदि भाषाओंपर अरबी-फ़ारसीका बहुत गहरा प्रभाव है। इस प्रभावको अस्वीकृत करके हिन्दुस्तानकी भाषाओंमें 'शुद्धि' का आन्दोलन चलाना और अरबी-फ़ारसी के शब्दोंका बहिष्कार करना एक प्रकारसे हिटलरकी यहूदियोंके प्रति बरती गयी नीतिको भाषाके क्षेत्रमें ग्रहण करना है।

उर्दू एक विदेशी भाषा है, उसमें अरबी-फ़ारसीके शब्दोंकी बहुलता है—आदि भ्रान्तियोंका खण्डन करना सरल है। सैयद अहमद देहलवीके प्रसिद्ध उर्दू शब्द कोश 'फरहंग आसफ़िया' के अनुसार उर्दू के ५४००९ शब्दोंमें २१६४४ शब्द पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी और पूर्वी हिन्दी आदिके हैं, १७५०५ शब्द उर्दू तथा अन्य भाषाओंसे मिलकर बने हैं। इस प्रकार ठेठ और व्युत्पन्न भारतीय शब्दोंकी संख्या ३९१४९ है। बाक़ी शब्दोंमें ७५८४ अरबीके हैं, ६०४१ फ़ारसीके, ५५४ संस्कृतके, ५०० अँग्रेज़ीके,

और तुर्की, इबरानी, सुरयानी, यूनानी, पुर्तगाली, लातीनी, फ़रांसीसी, पाली, बर्मी, मलयालम, हस्पानवी आदिके मिलाकर कुल १८७ शब्द हैं। सामी भाषाएँ आर्य परिवारके बाहरकी हैं। उनके (अरबी-सुरयानी) कुल ७६०२ शब्द उर्दू में हैं; आर्य-भाषाओं (हिन्दी, संस्कृत, फ़ारसी) के शब्द इसके ६ गुने ज्यादा हैं। इससे सिद्ध है कि यद्यपि उर्दू आर्य और सामी भाषाओंका मिश्रित रूप है परन्तु उसमें दोनोंका अनुपात ६ और १ है, जिसके कारण वस्तुतः उर्दू एक आर्य-भाषा ही है। उर्दूके व्याकरणसे भी यही सिद्ध है कि वह आर्य-परिवारकी ही भाषा है क्योंकि उसकी ज़मीन खड़ीबोली है और खड़ीबोली व्याकरणके अनुसार ही उर्दूके क्रिया, सर्वनाम, प्रत्यय, अव्यय आदि हैं। विलक्षण बात यह है कि 'फ़रहंग-आसफ़िया' के पश्चात् काशी नागरीप्रचारिणी सभासे प्रकाशित होनेवाले 'हिन्दी शब्दसागर' में, जिसमें शब्दोंकी संख्या ९३११५ है, 'फरहंग-आसफ़िया' के हिन्दी-उर्दूके प्रायः सभी शब्द सम्मिलित कियेगये हैं। स्पष्ट है कि किसी उर्दू निबन्धमें से जिन शब्दोंको चुन-चुनकर उनके प्रयोगका हिन्दीवाले विरोध करते हैं वे सब शब्द स्वयं उनके हिन्दी शब्दसागरमें मिलते हैं। उदाहरणकेलिए असासुल्बैत, आमेज़िश, आज़ुर्दा, आक़बत, इस्तेदाद, इजमाल, इतलाक़, इताअत, इत्तिहाम, इस्तिमाल आदि। हिन्दी शब्दसागर के विद्वान कोपकारोंने इन शब्दोंको निषिद्ध क्यों नहीं ठहराया? क्या इससे यह सिद्ध नहीं है कि ये शब्द आमफ़हम होगये हैं और यहाँकी भाषामें घुलमिल गये हैं? परन्तु व्यवहारमें इन शब्दोंका बहिष्कार करके हिन्दू-मुसलमानोंके सामान्य इतिहासकी परम्पराओंको नष्ट करनेकी चेष्टा की जाती है, और उर्दूसे अलग एक संस्कृतनिष्ठ शैली चलाकर हिन्दुओंके लिए एक अलग भाषा गढ़नेकी कुघड़ कोशिश होरही है। 'बल्कि' के स्थानपर 'किन्तु', 'लेकिन' की जगह 'परन्तु', 'जैसे' की जगह 'यथा' आदि का प्रयोग इस मनोवृत्तिके साधारण उदाहरण हैं।

व्यावहारिक : उर्दू पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्तसे लेकर सुदूर दक्खिन और पूरबतक अन्तर-प्रान्तीय व्यवहारकी भाषा बनचुकी है, इसे सभी स्वीकार करते हैं क्योंकि उर्दू सबसे आमफ़हम भाषा है। अखिलभारतीय कान्फ्रेन्सोंमें भाषण देते समय वक्ता उर्दू भाषामें ही बोलते हैं। आज भी उर्दूकी समस्त परीक्षाओंमें बैठनेवाले विद्यार्थियोंकी संख्यामें हिन्दू विद्यार्थि-

योंका अनुपात मुसलमानोंसे बहुत कम नहीं रहता । हिन्दी - परीक्षाओंमें कदाचित् ही कभी कोई मुसलमान बैठता हो । सन् १९३१ की जन-गणना से सिद्ध है कि उर्दू बोलने और समझनेवालोंकी संख्या २५ करोड़से ज़्यादा है । अतः यदि हिन्दू-राष्ट्रवादी मुस्लिम-संस्कृति और साहित्यके प्रति थोड़ा सम्मान दिखानेको तैयार हों तो उर्दूको राष्ट्रभाषा मानलेनेमें कोई व्याव-हारिक कठिनाई उत्पन्न होनेकी संभावना नहीं है ।

(ग) लिपि : क़ौमी रस्मुलख़त फ़ारसी हो । ऐतिहासिक और व्यावहारिक दृष्टिसे फ़ारसी लिपि ही का प्रयोग समीचीन होगा ।

ऐतिहासिक : फ़ारसी लिपि कई सौ वर्षोंतक राष्ट्रलिपि रहचुकी है।मुसलमान शासकोंके कालमें राजकीय कार्योंमें फ़ारसी लिपि ही चलती थी।अँग्रेज़ोंने भी प्रारम्भमें राजकीय कार्योंकेलिए उर्दू लिपिको ही स्वीकार किया । इससे कभी किसीको कोई कठिनाई नहीं हुई और न इससे अन्य भाषाओंके विकासपर कोई बुरा प्रभाव ही पड़ा । प्रान्तीय भाषाओंका साहित्य उनकी अपनी लिपियोंमें ही लिखाजाता रहा । जो लिपि हिन्दू और मुसलमानों द्वारा समान रूपसे प्रयुक्त होती रही है उसे हिन्दू सम्प्रदाय-वादियोंके दुराग्रहसे छोड़कर एक ऐसी लिपिको स्वीकार करना जो हिन्दू मुस्लिम ऐक्यकी नहीं वरन् उनके पृथकत्वकी प्रतीक है, सच्ची राष्ट्रीयता नहीं है । वस्तुतः उर्दू लिपि ज्यों-की-त्यों फ़ारसी लिपि नहीं है वरन् भारतीय ध्वनियोंकेलिए आवश्यक संकेत चिन्ह जोड़कर फ़ारसी लिपिका रूपान्तर करके बनी है, इस प्रकार यह लिपि आर्य-सामी भाषाओंके मिश्रणसे उत्पन्न उनके ध्वनि - सामञ्जस्यको प्रकट करती है । देवनागरी लिपिमें यह बात नहीं है ।

व्यावहारिक : फ़ारसी लिपि दाहिनी ओरसे बायीं ओरको लिखी जाती है जिसके कारण लिखनेमें सुविधा होती है । दाहिना हाथ स्वा-भाविक रीतिसे बायीं ओरको चलता है। दूसरे जिस द्रुत - गतिसे उर्दू लिपि लिखी जाती है उतनी द्रुत-गतिसे अन्य कोई लिपि नहीं लिखी जाती ।

इसमें सन्देह नहीं है कि इन गुणोंके होतेहुए भी उर्दू लिपिमें अपूर्णताएँ और जटिलताएँ हैं । उर्दूके भाषाशास्त्री उनके प्रति उदा-

सीन नहीं हैं। अंजुमन तरक्क़ी ए-उर्दू की ओरसे 'इसलाह रस्मुल खत' (लिपि-सुधार) की चेष्टा की जारही है। उर्दू लिपिको सुधार कर ऐसा बनाया जासकता है कि वह छापेखानेकी सुविधाओंके अनुकूल भी हो और अक्षरोंके उच्चारण और लिखावटमें भी कोई दिक़्क़त न हो।

यदि हिन्दीवाले उर्दू लिपिको स्वीकार नहीं करसकते तो फिर उचित होगा कि इस झगड़ेको दफ़नानेकेलिए रोमन लिपिको क़ौमी रस्मुल-खत मानलिया जाय। परन्तु इसमें व्यावहारिक कठिनाइयाँ ज्यादा पैदा होंगी।

संक्षेपमें उर्दू वालोंका दावा है कि उर्दू (अरबी - फ़ारसी मिश्रित खड़ीबोली) ही समूचे भारतकी राष्ट्र-भाषा होसकती है और उर्दू लिपि ही राष्ट्र-लिपि बनसकती है।

(स) हिन्दुस्तानी—(क) राष्ट्र-भाषाका नाम हिन्दुस्तानी हो। ऐतिहासिक और व्यावहारिक दृष्टिसे यही नाम समीचीन है।

ऐतिहासिक : हिन्दुस्तानी नामका प्रयोग सबसे पहले पुर्तगालियों और अंग्रेज़ोंने उत्तर-भारतके हिन्दू-मुसलमानोंकी सम्मिलित भाषाकेलिए किया। तबसे हिन्दुस्तानी नाम इसी अर्थमें प्रयोगमें आरहा है। वास्तवमें हिन्दुस्तानी ही मूल बोली है जिसकी दो शैलियाँ बनगयी हैं, एक अरबी-फ़ारसीके प्रभावसे उर्दू, और दूसरी संस्कृतके प्रभावसे हिन्दी। जॉन गिल-क्राइस्टने स्वयं हिन्दुस्तानी भाषाके सम्बन्धमें सोलह पुस्तकें लिखीं और फोर्ट विलियम कॉलेजमें हिन्दुस्तानी भाषामें पुस्तकें अनुवाद करानेकेलिए पण्डित सदलमिश्र और पण्डित लल्लूजी लाल और मीर 'अम्मन' देहलवी आदिको नियुक्त किया। डॉ० ग्रियर्सनने हिन्दुस्तानीकी व्याख्या देतेहुए लिखा है; हिन्दुस्तानी मुख्यकर उत्तरी दोआब (अन्तर्वेद) की भाषा है, पर साथ ही समस्त भारतकी राष्ट्रभाषा भी। उसे दोनों देवनागरी और फ़ारसी लिपियोंमें लिखा जासकता है, और साहित्यकेलिए प्रयोग करते समय विशुद्धतापर ज़ोर न देकर उसे अत्यधिक फ़ारसी अथवा संस्कृत निष्ठतासे बचाया जासकता है।

व्यावहारिक : हिन्दुस्तानी नाम व्यावहारिक दृष्टिसे इसलिए भी उपयुक्त है कि इस समय हिन्दी और उर्दूसे जिन भाषा शैलियोंका बोध

होता है उनमेंसे कोई एक समस्त भारतकी राष्ट्रभाषाकेलिए पर्याप्त व्यापक और मान्य नहीं है। हिन्दू 'उर्दू' शब्दको स्वीकार नहीं करसकते। यद्यपि उर्दू केवल मुसलमानोंकी भाषा नहीं है। और मुसलमान 'हिन्दी' शब्द को स्वीकार नहीं करसकते क्योंकि हिन्दुओंने सामान्य भाषा हिन्दुस्तानी को संस्कृतमयी बनाकर उसका एक विशेष संस्कृति और धर्मसे गठबन्धन करदिया है। अतः हिन्दुस्तानी शब्द ही सबको समान रूपसे मान्य हो सकता है।

(ख) राष्ट्र-भाषाका स्वरूप हिन्दुस्तानी हो। ऐतिहासिक, भाषा शास्त्रीय और व्यावहारिक दृष्टिसे राष्ट्रभाषाका हिन्दुस्तानी स्वरूप ही उपयुक्त है।

ऐतिहासिक—हिन्दुस्तानीमें पर्याप्त साहित्य मिलता है। मुन्शी इन्शाअल्लाहकी 'रानी केतकीकी कहानी' हिन्दुस्तानी भाषामें ही लिखीगयी है। इसके पूर्व सूरदास, गोस्वामी तुलसीदास, बिहारी, नाथूराम शंकर शर्मा आदि अनेक प्राचीन और अर्वाचीन हिन्दी कवियोंकी पर्याप्त संख्यामें ऐसी कविताएँ मिलती हैं जिनमें भाषाका आदर्श सरल, सुबोध हिन्दी-उर्दू मिश्रित हिन्दुस्तानी भाषा रहा है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रसे लेकर पं० महावीर प्रसाद द्विवेदीतकके हिन्दी लेखक भी अपने निबन्धों और कविताओंमें उर्दू-फ़ारसी शब्दोंका प्रयोग करतेरहे हैं। प्रेमचन्दकी भाषाको हिन्दुस्तानी की आदर्श भाषा कहसकते हैं। इसी प्रकार उर्दूके प्रसिद्ध कवियों वली, सौदा, मीर, इन्शा, ज़फ़र, नज़ीर, हाली और अकबरकी कविताओंमें हिन्दुस्तानीके श्रेष्ठ नमूने मिलते हैं।

भाषा शास्त्रीय—भाषा शास्त्रीय दृष्टिसे हिन्दुस्तानी वह भाषा है अथवा होगी जिसमें खड़ी बोलीके ठेठ शब्दोंके अतिरिक्त फ़ारसी-अरबी के वे सब शब्द जिनका प्रयोग हिन्दीके लेखकों और कवियोंने किया है तथा संस्कृतके वे सब शब्द जिनका प्रयोग उर्दू लेखकों और कवियोंने किया है—अर्थात् अरबी, फ़ारसी और संस्कृतके समान रूपसे हिन्दू-मुसलमानोंमें प्रचलित शब्द—प्रयोगमें आते हैं अथवा आयेंगे। इसमें भाषाको कुघड़ और विरूप बनानेका प्रश्न नहीं उठता। प्रत्युत इससे भाषा अधिक सरल, सुबोध, मधुर और प्रसाद-गुणयुक्त बनजायगी। इस प्रकारके शब्दों का एक प्रामाणिक शब्द कोश तैयार करना परम आवश्यक है। उसमें

एक ही शब्दकेलिए कई पर्यायवाची शब्द भी रहेंगे, परन्तु इससे भाषा की समृद्धि ही प्रकट होगी। पारिभाषिक शब्दोंकेलिए संस्कृत, अरबी और अंग्रेज़ी, तीनोंसे सुन्दरतम शब्द उधार लिये जासकेंगे।

व्यावहारिक : व्यावहारिक दृष्टिसे हिन्दुस्तानी ही सबसे अधिक प्रचलित भाषा है। वक्ता हिन्दू-मुसलमानोंकी सम्मिलित सभाओंमें हिन्दुस्तानी में ही बोलकर जनताको अपना मन्तव्य समझापाते हैं। आमतौरपर अन्तर-प्रान्तीय व्यवहारमें लोग हिन्दुस्तानीकाही प्रयोग करते हैं और रोज़मर्राकी बोलचालमें भी हिन्दुस्तानीकाही प्रयोग होता है, संस्कृतमयी अथवा अरबी-फ़ारसीमयी भाषाका प्रयोग पंडितों और मौलवियोंके घरोंमें भी नहीं होता। इसके अतिरिक्त हिन्दू-मुसलमान संस्कृतियोंमेंसे किसी एकके प्रति पक्षपातकी बू हिन्दुस्तानीमें नहीं मिलती। यह दोनोंके योगदानको स्वीकार करती है और उसे अभिव्यक्ति देती है। इसमें सन्देह नहीं है कि वर्तमान स्थितिमें हिन्दुस्तानीका कोई सार्वदेशिक आदर्श रूप नहीं होसकेगा। उत्तर भारतमें उर्दूकी अधिक पुट होगी और मध्य और दक्षिण-पूर्व भारतमें उसमें संस्कृतकी अधिक पुट होगी। अन्तरप्रान्तीय व्यवहारकी सुविधाके लिए यह अनिवार्य होगा।

हिन्दी और उर्दू अपना स्वतन्त्र विकास करनेकेलिए स्वाधीन होंगी। वस्तुतः ये ही साहित्यकी भाषाएँ होंगी, हिन्दुस्तानी केवल राजकीय और अन्तरप्रान्तीय व्यवहारकी भाषा होगी।

(ग) राष्ट्रलिपि देवनागरी और उर्दू दोनों हों। व्यावहारिक दृष्टिसे दोनों ही लिपियोंका रखना अपेक्षित है।

राष्ट्रभाषाका प्रश्न अन्ततोगत्वा हिन्दू-मुस्लिम समस्याका प्रश्न भी है। इस समय जैसी स्थिति है दोनोंमेंसे कोई एक लिपि सर्वमान्य नहीं होसकती। इस कारण दोनों लिपियोंका रखना अनिवार्य होगा।

राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानीका दोनों लिपियोंमें प्रचार करनेकेलिए ज़रूरी है कि प्रत्येक व्यक्ति दोनों लिपियाँ सीखे। इससे हिन्दी-उर्दूका शैली-भेद भी धीरे-धीरे कम होताजायगा। और सम्भव है कि राष्ट्रीयताका पूर्ण विकास होनेपर दोनों धाराएँ मिलकर एक होजाँय और समूचे भारतकी एक ही राष्ट्रभाषा और एक ही लिपि बनजाय।

अपनी पूर्वनिश्चित धारणाओंको प्रमाणित करनेमें ही इन्होंने अपनी-अपनी विचारशैलीकी चरम-सिद्धि मानली। इस बातका प्रमाण यह है कि तीनों दलोंके तर्कों आरोपों और अपवादोंमें एक विलक्षण साम्य है। हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानीवाले तीनों पक्ष इतिहास, भाषाशास्त्र और व्यवहार की कसौटीपर परखवाकर अपने-अपने दावोंको न्यायसंगत प्रमाणित करते हैं। तीनों इतिहासकी साक्षी देकर यह सिद्ध करते हैं कि हिन्दी-उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी ही राष्ट्रभाषाकेलिए सबसे उपयुक्त नाम है। तीनों दलों के अनुसार यथाक्रम प्रत्येक नाम हिन्दू-मुस्लिम एकताका प्रतीक है। प्रत्येक दलका दावा है कि सच्चे अर्थोंमें उसीकी भाषा भारतीय है, साम्प्रदायिक नहीं। सन् १९३१ की जन-गणनाके आधारपर प्रत्येक भाषाके बोलने वालोंकी संख्या २५ करोड़ साबित कीजाती है। कभी-कभी बड़ी मनोरञ्जक घटनाएँ भी होजाती हैं। श्री कन्हैयालाल मुंशी जब महात्मा गाँधीके अनुयायी थे, तब उन्होंने सन् १९३१ की जन-गणनाके आँकड़ों के आधारपर हिन्दुस्तानी बोलनेवालोंकी संख्या २५ करोड़ बताकर हिन्दुस्तानीका दावा पेश किया और इस वर्ष जब वे जयपुर सम्मेलनके सभापति चुनलिये गये तो उन्होंने अपने अभि - भाषणमें उसी जन-गणनाके आँकड़े हिन्दीका दावा सिद्ध करनेकेलिए प्रयुक्त किये। इस प्रकार इन दावोंमें सत्यपर कितना ज़ोर दियाजाता है, यह अनुमेय है। अवसर-सिद्धि में जो साधन बने, वही सत्य है—कुछ ऐसी नीति तीनों दल प्रयोगमें ला रहे हैं। प्रत्येक भाषाको १४ करोड़को मातृभाषा बताया जाता है। हिन्दी वालोंकी मान्यता है कि उर्दू कोई प्रथक भाषा नहीं है, यह केवल हिन्दी की ही फ़ारसी-अरबी-प्रधान एक शैली है। इसके विपरीत उर्दूवाले हिन्दी को कोई भाषा नहीं मानते; उनके अनुसार वह उर्दूकी ही संस्कृत-प्रधान शैली है। हिन्दुस्तानीवाले हिन्दी और उर्दू दोनोंको हिन्दुस्तानीकी ही दो भिन्न साहित्यिक शैलियाँ सिद्ध करते हैं। प्रत्येक दलका दावा है कि हिन्दू-मुसलमानोंके सम्मिलित प्रयत्नसे उसकी भाषाके साहित्यका निर्माण हुआ है। प्रत्येकका सुविचारित अनुमान है कि केवल उसकी ही भाषा व्यावहारिक दृष्टिसे समूचे भारतकी राष्ट्रभाषा होसकती है।

इन स्थापनाओंके अतिरिक्त तीनोंके एक - दूसरेके विरुद्ध आरोप भी एक-से ही हैं। हिन्दीवालोंकी शिकायत है कि उर्दूवाले अरबी-फ़ारसी

के शब्द ठूँसकर एक नयी कृत्रिम भाषा गढ़रहे हैं, उर्दू वालोंकी भी यही शिकायत है कि हिन्दी वाले संस्कृतके तत्सम शब्द ठूँसकर एक कृत्रिम भाषा गढ़रहे हैं और हिन्दुस्तानी वालोंको दोनोंसे शिकायत है कि वे उनकी भाषाकी ऐसी खींचतान कररहे हैं। हिन्दी वालोंकी दृष्टिसे उर्दू वालोंका दृष्टिकोण साम्प्रदायिक और अराष्ट्रीय है और मुस्लिम राष्ट्रीयतासे प्रेरित है। उर्दू वालोंकी दृष्टिसे हिन्दी वालोंका दृष्टिकोण साम्प्रदायिक और अराष्ट्रीय है और हिन्दू राष्ट्रीयतासे प्रेरित है। हिन्दुस्तानी वालोंकी दृष्टिसे इन दोनों का दृष्टिकोण साम्प्रदायिक और अराष्ट्रीय है, और हिन्दी - उर्दू वालोंकी संकीर्ण और हीन मनोवृत्तिपर क्षुब्ध होकर गहरे आत्म संतापकी दीर्घ श्वास लेते हैं कि भगवानकी दयासे उन्होंने अभीतक अपने दामनको पाकरखा है। और उनकी यह आशा कि राष्ट्रीय भावनाओंका व्यापक प्रसार होतेही इस मनोवृत्तिका अन्त होजायगा, उनको हिन्दी और उर्दूके प्रथक उत्थान के मूल कारणोंकी खोजमें अपना मस्तिष्क खपानेसे अवकाश देदेती है।

इन दलोंकी स्थापनाएँ और एक दूसरेके विरुद्ध आरोप ही एक-से हों, केवल इतना ही नहीं है। वे जो राष्ट्रभाषाकी समस्याका समाधान उपस्थित करते हैं उसमें भी एक विलक्षण साम्य है। तीनों दल यह अनुभव करते हैं कि एक अखिल - भारतीय राष्ट्रभाषाकी परम आवश्यकता है और वह हिन्दू-मुस्लिम एकताकी प्रतीक होनी चाहिए। इस उद्देश्यकी सिद्धिकेलिये वे इस बातका भी अनुभव करते हैं कि हिन्दी और उर्दूके बीचका उत्तरोत्तर बढ़ता व्यवधान किसी प्रकार कम होना चाहिए और यदि संभव हो तो दोनों भाषाओंको एक होजाना चाहिए। इसकेलिए बाबू पुरुषोत्तम दास टंडन, मौलवी अब्दुलहक़ और महात्मा गांधी, तीनों एक सामान्य शब्द-कोषका प्रस्ताव करते हैं। उनका विचार है कि ऐसे शब्द - कोषके बनते ही जिसमें हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानीके प्रचलित शब्द संग्रहीत हों, इस समस्याका हल अपने आप होजायगा। फिर केवल थोड़ा प्रचार करने की ज़रूरत रहजायगी ताकि लेखक संस्कृत और फ़ारसी-अरबीके तत्सम शब्दोंका बहुत प्रयोग करनेका दुराग्रह छोड़दें। परन्तु वे साथ ही इस बातका भी अनुभव करते हैं कि कदाचित अब यह सम्भव न होसके। हिन्दी और उर्दूकी दो भिन्न शैलियाँ बनचुकी हैं और सूक्ष्म भावनाओं और दार्शनिक विचारोंकी अभिव्यक्तिकेलिये लेखक तत्सम शब्दोंके प्रयोगका

मोह न छोड़ेंगे। अतः वे इस परिणामपर पहुँचते हैं कि राष्ट्रभाषाका आधार बोलचालकी भाषा हो (हिन्दीवालोंके अनुसार हिन्दी, उर्दूवालोंके अनुसार उर्दू और हिन्दुस्तानीवालोंके अनुसार हिन्दुस्तानी) और उच्च शिक्षा और साहित्यके माध्यमके रूपमें हिन्दी और उर्दू अपने वर्तमान रूपमें ही विकास करती रहें। यदि उर्दूवाले बोलचालकी हिन्दीको राष्ट्रभाषा मानलें तो वे साहित्यिक भाषाके रूपमें उर्दूका प्रथक् विकास करते रहें, इससे हिन्दी वालोंको आपत्ति न होगी। उर्दूवाले कहते हैं कि हिन्दीवाले यदि बोल-चालकी उर्दूको राष्ट्रभाषा मानलें तो हिन्दीके साहित्यिक विकाससे उन्हें कभी कोई आपत्ति न होगी। हिन्दुस्तानीवाले कहते हैं कि दोनों दल यदि हिन्दुस्तानीको राष्ट्रभाषा स्वीकार करलें तो हिन्दी-उर्दूके प्रथक् साहित्यिक विकासके मार्गमें वे अवरोध न बनेंगे। परन्तु बोलचालकी भाषाका रूप निश्चित करते समय पुनः दुर्निवार कठिनाइयाँ उपस्थित होजाती हैं। उत्तर भारतमें उसका जो रूप है वह मध्य और दक्खिन-पूरब भारतमें नहीं है। अतः तीनों दल यह भी स्वीकार करते हैं कि पश्चिमोत्तर भारतकी राष्ट्रभाषा हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानीमें उर्दू-फ़ारसीकी अधिक पुट रहेगी और दक्षिण अथवा पूरबी भारतमें राष्ट्रभाषा उर्दूपर संस्कृतकी पुट अधिक रहेगी। इस प्रकार हिन्दी, उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी किसी एकको राष्ट्रभाषा बना देनेपर भी उत्तर और दक्षिणकी शैलियोंमें भेद तो बना ही रहेगा, इस बातको तीनों दल स्वीकार करते हैं। अतः यह सारा विवाद किस लिये है,-यह तथ्य भ्रान्तिमें पड़जाता है। इस बहसका अध्ययन करके कोई निष्पक्ष व्यक्ति यह नहीं समझ सकता कि अखिल भारतीय एकता, हिन्दू-मुस्लिम एकता, सर्वमान्य भाषा आदि शब्दोंका इस बहसमें प्रयोग केवल दिखावे केलिए किया जाता है या वस्तुतः एक सर्वमान्य राष्ट्रभाषाकी संभावनाओं के यथार्थ ज्ञानसे। सच तो यह है कि इन शब्दोंके पीछे किसी सच्ची भावना और समझका आभास नहीं मिलता, केवल प्रथा-पालनकेलिए ही उन्हें दुहराया जाता है।

इस स्थलपर प्रगतिवादियोंके दृष्टिकोणका उल्लेख करना अप्रा-संगिक न होगा। प्रारम्भसेही प्रगतिवादी राष्ट्रभाषाके प्रश्नपर हिन्दुस्तानी का समर्थन करते आये हैं। इस समर्थनकेलिए उन्हें तीन बातोंसे प्रेरणा मिली। पहली बात तो यह थी कि हिन्दुस्तानीको उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम

एकताका प्रतीक समझा और चूँकि प्रगतिवादी साम्प्रदायिकतासे दूर रहना चाहते थे, उन्होंने हिन्दी अथवा उर्दूके पक्षोंको साम्प्रदायिक पक्ष मानकर उनके दृष्टिकोणको समझना अवांछनीय माना। दूसरे, इससे उन्हें राष्ट्रभाषा के प्रश्नपर गहराईसे सोचनेसे जैसे छुट्टी मिलगयी और सरल-समाधानोंको ही स्वीकार कर उन्होंने अपनी इतिकर्तव्यता मानली। तीसरे, प्रगतिवादी आन्दोलनमें हिन्दी और उर्दूके प्रमुख लेखक एक ही संगठनमें एकत्र होते थे, अतः यह औरभी ज़रूरी था कि हिन्दी अथवा उर्दूमेंसे किसी एकका पक्ष न लियाजाय बल्कि दोनोंकी ऐतिहासिक परम्पराओंकी एकतापर ज़ोर दियाजाय। इससे तथ्य-निरूपणकी एकांगी प्रवृत्तिको प्रोत्साहन देकर भी प्रगतिवादी असन्तुष्ट नहीं हुए। फिरभी दोनों लिपियोंका प्रत्येक व्यक्ति द्वारा सीखना व्यावहारिक सिद्ध न होसका। प्रगतिवादी अपनी तर्क-पद्धति से किसी एक लिपिका पक्षपात करके हिन्दी-उर्दूके लेखकोंका संयुक्त मोर्चा क़ायम न रखसकते थे, अतः लिपिके प्रश्नपर उनको पलायनका मार्ग ही इष्ट हुआ और उन्होंने न फ़ारसी और न देवनागरी बल्कि रोमन लिपिका मत प्रतिपादित किया। डॉ० अब्दुल अलीमने, जो उस समय (सन् १९३९में) अखिल-भारतीय प्रगतिशील लेखक संघके प्रधान मन्त्री थे, 'नया भारतीय साहित्य' (अँग्रेज़ी) में राष्ट्रभाषाके प्रश्नपर एक निबन्ध लिखा जिसक विचारधाराका मूलाधार यही था। परन्तु जब राष्ट्रभाषाके विवादमें और अधिक कटुता आनेलगी तो प्रगतिवादी इस प्रश्नसे तटस्थ-से होगये। मैंने स्वयं 'हंस' के सम्पादन कालमें 'हिन्दुस्तानीकी भ्रूण-हत्याका प्रयत्न' शीर्षक टिप्पणीमें इस विवादमें आयी कटुताका विरोध करके हिन्दुस्तानीका पक्ष-समर्थन किया था। फिरभी प्रगतिवादियोंकी तटस्थताकी नीति पूर्ववत् जारी रही क्योंकि इस प्रश्नपर उन्होंने नया कुछ सोचा नहीं था और पुराने तर्कोंको दुहरानेसे कोई लाभ न था। इसका यह अभिप्राय नहीं कि प्रगतिवादियोंमें विचारमंथन न होरहा था। गत वर्षसे वे पुनः इस प्रश्नपर सोचने लगे हैं, कारण वे अब स्वयं सरल-समाधानोंकी व्यर्थताका अनुभव करने लगे हैं और इस बातकी आवश्यकता उन्हें महसूस होरही है कि इस समूचे प्रश्नपर नये सिरेसे आमूल रूढ़ सीमाओंको तोड़कर सोचाजाना चाहिए।

राष्ट्रभाषाके प्रश्नपर अबतक जिन्होंने सोचा है उनमें केवल पण्डित जवाहरलाल और डॉ० तासीरने ही पुरानी लकीर पीटनेसे इन्कार किया

है यद्यपि वेभी पुरानी धारणाओं और स्थापनाओंकी सीमासे एकदम बाहर नहीं निकलसके। पण्डित जवाहरलालने अपने निबन्ध 'राष्ट्रभाषाका प्रश्न' में राष्ट्रभाषाकी बहसको नाम, स्वरूप और लिपितक ही सीमित रखनेको श्लाघ्य नहीं माना, उन्होंने उसे अधिक मौलिक प्रश्नोंसे सम्बद्ध करनेकी चेष्टाकी। उन्होंने कहा कि मूल प्रश्न तो यह है कि सार्वजनिक शिक्षाकी योजना बनाते समय हमारी भाषा सम्बन्धी नीति क्या होगी, भाषाके द्वारा हम देशकी एकता किस प्रकार और स्थायी बनासकते हैं और साथ ही किस प्रकार अपनी महान विरासतके वैविध्यको सुरक्षित रख सकते हैं। इन मौलिक प्रश्नोंका पण्डित नेहरूने उत्तर देनेका प्रयत्न किया परन्तु वे इस पूर्वधारणाको लेकर चले कि हिन्दुस्तानी ही राष्ट्रभाषा होसकती है; अतः अपनी समस्त उदार चेतनाके बावजूद वे अनेक जटिल प्रश्नोंसे कतरा जानेकेलिए विवश हुए। उन्होंने अनेक भ्रांत धारणाओंको प्रामाणिक स्वीकार करलिया, जैसे वर्तमान प्रान्तीय सीमाओंको उन्होंने भाषा गत आधारपर बनी सीमाएँ स्वीकार किया, हिन्दुस्तानीको समस्त उत्तर भारतकी मातृभाषा माना, उर्दूको नगरों और हिन्दीको गाँवोंकी भाषा कहा—इस प्रकार अनेक प्रचलित धारणाओंको आधार मानकर उन्होंने राष्ट्रभाषाका प्रश्न सुलझानेकी चेष्टा की। फलतः स्वयं एक लेखक और संस्कृत व्यक्ति होनेके कारण जहाँ उन्हें यह स्वीकार करना पड़ा कि हिन्दी-उर्दूका भेद एक स्वस्थ विकास है क्योंकि दो दिशाओंका यह विकास दो सांस्कृतिक परम्पराओं द्वारा नये विचारों और नयी शैलियोंके माध्यमसे उत्कृष्ट साहित्यिक भाव-वस्तुको अभिव्यक्ति देनेकी उदात्त चेष्टाका परिणाम है और दोनोंका यह विकास-भेद जारी रहेगा, और इससे घबरानेकी कोई बात नहीं है; वहाँ हिन्दुस्तानी और एक राष्ट्रभाषाकी पूर्वनिश्चित धारणाओंमें बँधे रहनेके कारण उन्होंने ऐसे निराधार उद्‌गारभी प्रकट किये कि राष्ट्रीय एकताकी भावनाके प्रबल होते ही दोनों भाषाएँ एक दूसरेमें मिलकर एक होजायँगी। पण्डित नेहरूकी विचार-पद्धतिके मूलमें जो विरोधाभास था उसके कारण वे कोई सही समाधान उपस्थित करनेमें असमर्थ रहे। अतः हल पानेकेलिए उन्होंने भी पुराने सरल-समाधानोंको ही अपनाया अर्थात् यह कि 'बेसिक-हिन्दुस्तानी' का विकास कियाजाय, पारिभाषिक शब्दोंका एक हिन्दुस्तानी कोष तैयार कियाजाय और राष्ट्रीय भावनाओंके

प्रसारपर ज़ोर दियाजाय, वैसे हिन्दी और उर्दू अन्य प्रान्तिक भाषाओंकी तरह अपना स्वतन्त्र विकास करती रहें। दोनों लिपियाँ स्वीकार कीजायँ, परन्तु हर व्यक्तिको दोनों लिपियोंको सीखनेकेलिए बाध्य न कियाजाय।

फिरभी पण्डित नेहरू ही पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने राष्ट्रभाषाके प्रश्न को सार्वजनिक शिक्षाके व्यापक प्रश्नसे सम्बद्ध किया और उसपर अपने निबंधमें विस्तार पूर्वक विचार किया। परन्तु इसके पश्चातभी अन्य सभी विचारक इस मौलिक प्रश्नकी उपेक्षा करते गये और अपनी पुरानी लकीर ही पीटते गये।

डॉ० तासीरने प्रथमबार 'एक राष्ट्रभाषा' की समस्त प्रचलित धारणाओंपर निर्भीक होकर आक्रमण किया। उन्होंने पहले तो भाषाशास्त्र के इस नियमकी ओर ध्यान दिलाया कि कोई भी जाति राजनीतिक, धार्मिक अथवा सांस्कृतिक प्रभाव या दबावमें पड़कर विदेशी भाषा नहीं सीख लेती जिसके कारण उसकी अपनी भाषा मिश्रित होजाती है, बल्कि स्वयं उसकी मातृभाषा विदेशी भाषाके प्रभावोंसे मिश्रित बनजाती है। अर्थात् उर्दू भाषा हिन्दुस्तान मिश्रित फ़ारसी नहीं है जिसके कारण विदेशी कही जासके। वह फ़ारसी - मिश्रित हिन्दुस्तानी (खड़ीबोली) है अतः पूर्णतः भारतीय है। भाषाशास्त्रके इस नियमको विस्मृत नहीं कर देना चाहिए। दूसरे भारतमें आन्तरिक विरोधका कारण भाषा-भेद नहीं है। अनेक ऐसे राष्ट्र और जातियाँ हैं जिनमें सांस्कृतिक एकताके अनेक तत्त्व मिलते हैं परन्तु उनकी भाषाएँ भिन्न हैं। हिन्दी और उर्दूका भिन्न विकास हिन्दू और मुस्लिम राष्ट्रीयताके भिन्न विकासका परिणाम है, यद्यपि उनमें बहुत कुछ सांस्कृतिक ऐक्य और साम्यभी है। अतः प्रश्न यह नहीं है कि इन दोनों धाराओंको पीछे मोड़कर पुनः उनका संगम करा देना चाहिए, बल्कि प्रश्न यह है कि क्या ऐसा संगम संभव है? क्या ऐतिहासिक विकास-क्रमको पलट कर किसी धाराका पुनः प्रारंभ किया जासकता है? तात्पर्य यह कि सारे देशकी एकताको सिद्ध करनेकेलिए केवल एक *ही राष्ट्रभाषा* का आग्रह क्यों किया जाय? राष्ट्र और राष्ट्रभाषाकी सीमाएँ क्या सदैव एक ही होनी चाहिए? डॉ० तासीरके अनुसार ऐसा अनिवार्य नहीं है। कनाडा, दक्षिणी अफ्रीका और अनेक दूसरे राष्ट्रोंमें एकसे अधिक राष्ट्रभाषाएँ स्वीकृत हैं। अतः दोनों भाषाओं—हिन्दी और उर्दूको राष्ट्रभाषाएँ क्यों न

मिलेंगे। संस्कृत या अरबी-फ़ारसी या अंग्रेज़ीसे ही वे शब्द लेने पड़ेंगे। इसमें ५०-५० का अनुपात रखनेकी चेष्टा करना राजनीतिक क्षेत्रकी बहसों को सांस्कृतिक क्षेत्रमें प्रक्षेपित करना होगा। ऐसी कठिनाइयाँ रोज़ उठेंगी और किसी भी कृत्रिम उपायसे उनका निवारण न किया जासकेगा। फिर राष्ट्रभाषामें यदि साहित्य न होगा (हिन्दुस्तानीके राष्ट्रभाषा होजानेपर भी उच्च साहित्य तो हिन्दी और उर्दूमें ही रचा जायगा) तो इसका अर्थ यह होगा कि उच्च शिक्षा और वैज्ञानिक शिक्षासे राष्ट्रभाषाका कोई सम्बन्ध न रहेगा। देशकी अनेक प्रान्तीय और जनपदीय भाषाएँ अनुन्नत और पिछड़ी हैं, उनमें अभीतक केवल नाममात्रको ही साहित्य मिलता है। अतएव जब ऐसे जनपदोंको अपनी ही मातृभाषाओंमें सार्वजनिक रूपसे प्राथमिक और उच्च-शिक्षा देनेका प्रश्न उठेगा तब प्रारम्भमें उच्च-शिक्षाका माध्यम राष्ट्रभाषाको नहीं बनाया जायगा तब और कौन-सी भाषा इस दायित्वको निभायेगी ? सोवियत रूस आदिमें जहाँ ऐसी ही स्थिति रहचुकी है, रूसी भाषाको ही तत्कालकेलिए उच्चशिक्षाका माध्यम बनाया गया था और ज्यों-ज्यों जनपदीय भाषाओं में साहित्य-रचना होतीगयी, वे स्वयं शिक्षाका माध्यम बनती गयीं। शिक्षा, रेडियो, सिनेमा, रंगमंच, इन सभी क्षेत्रोंमें उच्च सांस्कृतिक परम्पराओंकी विकास-समृद्धिकेलिए राष्ट्रभाषाको स्वयं ऐसी भाषा होना पड़ेगा जिसमें उच्च कोटि का वैज्ञानिक और रचनात्मक साहित्य हो। साथ ही समाजशास्त्र, मनो-विज्ञान, दर्शन, राजनीति और उच्चकोटिके रचनात्मक साहित्यका विदेशी भाषाओंसे हिन्दुस्तानीमें अनुवाद करते समय शब्दविन्यास और वाक्य विन्यास उर्दूके अनुसार होगा या हिन्दीके, इन प्रश्नोंका निर्णय कैसे होगा और हिन्दुस्तानी तब हिन्दुस्तानी कैसे रहेगी ? परन्तु हिन्दुस्तानीके प्रति-पादक राजनीतिक मंचोंके अतिरिक्त राष्ट्रभाषाका और कहीं कोई उपयोग नहीं देखते, राष्ट्र-जीवनके बृहद् सांस्कृतिक प्रश्न उनकी संकीर्ण विचार-सीमाके बाहर हैं। और यदि वे कभी इन प्रश्नोंपर सोचते हैं तो उनकी राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी पुनः हिन्दी और उर्दू दो भिन्न भाषाओंमें बँटजाती है और वे इस संभावनासे निर्भीक होकर आँखें नहीं मिलाना चाहते। परन्तु इन समस्त प्रश्नोंपर गम्भीरता पूर्वक विचार करनेके पश्चात् हम इसी निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि राष्ट्रभाषाके विवादमें हिन्दुस्तानीका दावा सबसे

कमज़ोर है । न तो हिन्दुस्तानीकी एक सम्मिलित भाषाके रूपमें साहित्यिक प्रतिष्ठा संभव है और न उसकी कोई एक लिपि होसकती है । उच्च साहित्यिक और वैज्ञानिक अभिव्यक्तिकेलिए सदैव उसके दो भिन्न रूप बनजाया करेंगे और देवनागरी और फ़ारसीकी लिपियोंका भी उसे व्यवहार करना पड़ेगा । अतः व्यवहारमें आकर हिन्दुस्तानी निरन्तर हिन्दी और उर्दू रूपोंमें बँटजाया करेगी । इस प्रकार हिन्दुस्तानी नाम केवल एक पाखण्डका द्योतक रहजायगा । यह कहना कि साहित्यिक हिन्दुस्तानी सरल हिन्दी और सरल उर्दू होगी जिसका मिसाल हमें प्रेमचन्द और नज़ीरकी भाषामें मिलती है, यह एक बड़े भ्रमको प्रश्रय देना है । प्रेमचन्द या नज़ीरकी भाषा एक नहीं है, वह चाहे जितनी सरल क्यों न हो । एक हिन्दी है, दूसरी उर्दू । सरलतासे किसीको विरोध नहीं होसकता और कथा-साहित्यकी प्रवृत्ति अपना आन्तरिक आवश्यकतासे सरल भाषाकी ओर ही होती है, परन्तु दार्शनिक और अधिक विचार-प्रधान विषयोंपर सरल हिन्दीमें कहाँतक लिखा जासकता है, यह प्रयोग-सिद्ध नहीं है । इसके अतिरिक्त हिन्दी और उर्दूका भेद अब केवल दो शैलियोंकी सरलता-दुरूहता तक ही सीमित नहीं रहा, वे दोनों भिन्न पद-वाच्य भाषाएँ बनगयी हैं और केवल सरल शैलीमें लिखे जानेसे एक ही नहीं कही जासकतीं । अतः हमारा आग्रह है कि राष्ट्रभाषा की बहसके मैदानसे हिन्दुस्तानी शिविरके खेमे उखाड़ लेने चाहिए । व्यर्थ का वितंडावाद खड़ा करनेसे कोई लाभ नहीं है । इससे राष्ट्रभाषाके प्रश्न को हल करनेमें भी सहायता मिलेगी, क्योंकि असली दावेदार सामने आजायँगे । और हिन्दी-उर्दूके विवादको नयी दृष्टिसे समझनेमें सुविधा होगी ।

हिन्दी और उर्दू दो भिन्न भाषाएँ हैं, इस तथ्यको स्वीकार करना हमारेलिए आवश्यक है; क्योंकि वास्तवमें, चाहे प्रिय हो अथवा अप्रिय, सत्य यही है हिन्दीवाले जब उर्दूको हिन्दीकी शैली बताते हैं अथवा उर्दूवाले जब हिन्दीको उर्दूकी शैली बताते हैं तब वे हिन्दी अथवा उर्दूके ऐतिहासिक विकासकी ही अवहेलना करते हैं । एक क्षणकेलिए यह कहा जासकता है कि हिन्दी और उर्दू दोनोंही खड़ीबोलीकी दो भिन्न शैलियाँ हैं । इस दावेमें सत्य है, यद्यपि इससे न हिन्दुस्तानी (खड़ीबोली) के दावेको औचित्य मिलजाता है और न हिन्दी और उर्दूको एकही भाषा सिद्ध किया जासकता है । एकही शौरसेनी अपभ्रंशसे अनेक भाषाएँ-

राजस्थानी, मराठी, गुजराती, ब्रज, बुन्देली आदि निकली हैं। एक समय में उनको भी शौरसेनी, प्राकृत और अपभ्रंशकी अन्य-अन्य बोलियाँ ही कहा जासकता था; परन्तु इससे, वे एकही भाषाएँ हैं, यह कथन किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं किया जासकता। कारण, देश और कालकी विभिन्न परि-स्थितियोंमें, सामाजिक-ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विभेदके कारण, इनका विकास-क्रम असामान्य रहा और वे कालान्तरमें भिन्न-भिन्न भाषाओंका रूप धारण करगयीं। हिन्दी और उर्दूके ऐतिहासिक विकासमें जिन सांस्कृतिक परम्पराओंने दोनोंको प्रेरणा दी है, वे आपसमें एक-दूसरेसे अत्यधिक भिन्न हैं। गुजराती, मराठी और राजस्थानी आदिकी सांस्कृतिक परम्पराओंमें इतनी भिन्नता कदापि नहीं रही। उदाहरणकेलिए, यद्यपि यह सत्य है कि प्रारम्भमें जब खड़ीबोलीकी साहित्यिक स्थापना होनेलगी तब उसमें हिन्दू और मुस्लिम दोनों संस्कृतियोंका न्यूनाधिक समागम रहा; परन्तु ब्रज और अवधीकी भक्ति और रीतिकाव्यकी परम्पराओंने आर्य अथवा हिन्दू संस्कृति के ही जीवन-दर्शन, दृष्टिकोण, ऐतिहासिक-सांस्कृतिक परम्पराओं, और सौन्दर्य-प्रतीकों, ध्वनि, छन्द, रस, अलङ्कार-विधानोंको अपनाया। अतः दृष्टान्त देकर यह सिद्ध करना कि चूँकि चन्दवरदायीके पृथ्वीराज रासोमें फ़ारसी-अरबी-तुर्कीके अनेक शब्द मिलते हैं; पृथ्वीराजकी पुत्री पृथाबाईने चित्तौड़के राजकुमारको खड़ीबोलीमें जो पत्र लिखा था उसमें फ़ारसीके शब्दों का भी प्रयोग किया था; अथवा यह कि अमीर खुसरो और बाबा फ़रीद शकरगंज (११७३-१२६५) आदिने खड़ीबोलीमें जो कविताएँ कीं वे चाहे फ़ारसी लिपिमें क्यों न लिखी हों, परन्तु उनकी भाषा सरल हिन्दी (खड़ीबोली) है; या चौदहवीं सदीमें सूफ़ी सन्त हज़रत गेसूदराज़ बन्दा-नवाज़ने खड़ीबोलीमें जो प्रथम गद्य-रचना (मिराजुल-आशिक़ीन) की उसकी भाषा खड़ीबोली हिन्दी है जिसमें २५-३० फ़ीसदीसे ज़्यादा फ़ारसी के शब्द नहीं हैं; अथवा यह कि कबीर और मलिक मुहम्मद जायसीकी रचनाओंमें हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियोंका अत्यन्त सफल समन्वय हुआ है— अतः हिन्दी और उर्दू एकही भाषाएँ हैं, ऐसा कहना वस्तुस्थितिसे आँखें मींचलेना है।

इसमें सन्देह नहीं कि भारतमें मुसलमानोंके आगमनके पश्चात् हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियोंमें एक लम्बी अवधितक मुक्त आदान-प्रदान और

और मिश्रण होतारहा। हिन्दुओंने देवनागरी लिपिका प्रयोग किया या मुसलमानोंने अरबी-फ़ारसी लिपिका, अथवा कुछ हिन्दुओंने फ़ारसी लिपिका और कुछ मुसलमानोंने देवनागरी लिपिका, यह उतने महत्वकी बात नहीं है जितनी यह कि उस समय दोनों संस्कृतियोंने परस्पर प्रभाव ग्रहण किये और इस प्रकार जहाँ गेसूदराज़ कुतबन, मलिक मुहम्मद जायसी, कबीर, उसमान आदिकी रचनाओंमें हिन्दू-संस्कृतिका प्रभाव स्पष्ट लक्षित है वहाँ रैदास, धर्मदास, नानक, दादूदयाल, सुन्दरदास, मंझन आदि कवियोंमें मुस्लिम संस्कृतिकी प्रतिच्छाया मिलती है। धार्मिक भेदभावके विरुद्ध निर्गुणपन्थी और प्रेममार्गी कवियोंने जो रचनाएँ की हैं उनकी सृष्टि में हिन्दू और मुसलमानोंने समान उत्साहसे योगदिया। उन्होंने भारतीय अद्वैतवाद, योग और अहिंसावादका समर्थन करके हिन्दुओंके बहुदेवोपासना, अवतार, मूर्तिपूजा और छूआछूतके भेद-भावका विरोध किया, साथही मुसलमानोंके एकात्मवाद और एकेश्वरवादको स्वीकार करके उनके रोज़ा, नमाज़, क़ुर्बानी आदिका भी विरोध किया। सूफ़ियोंने अपनी प्रेम कहानियोंके लौकिक दृष्टान्तों द्वारा उस अलौकिक प्रेमतत्वकी चर्चा की, जो बौद्धिक खण्डन-मण्डनसे परे है, केवल हृदयकी वस्तु है, अतः जीव और परमात्माके एकात्म होनेमें अधिक सामर्थ्य माध्यम है। इस संयुक्त विचार-परम्पराकी कविताएँ यद्यपि सत्रहवीं शताब्दी तक होतीरहीं परन्तु स्वामी रामानुजाचार्यके अनुयायी रामानन्द और श्री वल्लभाचार्यने राम और कृष्णकी सगुणोपासनाकी जो परिपाटी चलायी उसने तुलसी और सूर जैसे महाकवियोंको जन्म दिया जिन्होंने अवधी और ब्रजकी काव्य-धाराको कबीर और जायसीकी हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियोंकी सम्मिलित परम्परासे एकदम अलग करदिया। अवधी और ब्रजकी काव्य-परम्परा हिन्दू-संस्कृतिकी प्राचीन काव्य-परम्पराओंकी उत्तराधिकारिणी बनगयी। यह हिन्दू जातीयताकी नवचेतनाका परिणाम था।

तुलसी, सूर अथवा रीतिकालीन कवियोंकी रचनाओंमें अरबी-फ़ारसीके प्रचलित शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं, परन्तु यह तथ्य इससे अधिक और कुछ नहीं सिद्ध करता। यह कहना ग़लत होगा कि उनकी रचनाएँ हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतिके समन्वयकी प्रतीक हैं। रामभक्ति, कृष्णभक्ति और रीतिकाव्यकी परम्पराएँ हिन्दू-संस्कृतिसे प्रेरित-पोषित विचारधाराएँ हैं,

हिन्दी व्याकरणपर संस्कृत व्याकरणका प्रभाव स्पष्ट लक्षित है और उर्दू व्याकरणपर फ़ारसी और सामी भाषा अरबी व्याकरणकी गहरी छाप पड़-गयी है। हिन्दीमें संस्कृतसे जो तत्सम शब्द उधार लियेजाते हैं उनका प्रयोग बहुधा संस्कृत व्याकरणके अनुसार ही कियाजाता है। हिन्दीकी प्रकृतिके अनुकूल प्रत्यय न लगाकर विशुद्ध प्रयोगपर ज़ोर दिया जानेलगा है। कतिपय प्रयोग न हिन्दी व्याकरणके अनुसार होते हैं न संस्कृत व्याकरणके अनुसार, और इससे एक विचित्र अव्यवस्था उत्पन्न होगयी है। विशेष-कर तद्धितका आवश्यक-अनावश्यक सर्वत्र प्रयोग, कृदन्त रूपोंकी विल-क्षणता, विशेषणोंके स्थानपर भाववाचक शब्दोंको रखकर नये मुहावरे गढ़नेकी प्रवृत्ति आदि अनेक व्याकरणगत उच्छृङ्खलताएँ हिन्दी भाषाके शब्द-विन्यास और वाक्य-विन्यासको अधिकाधिक जटिल बनाती जाती हैं और उसे उर्दू भाषासे दूर खींचरही हैं। इसी प्रकार उर्दू साहित्य और भाषाके निर्माणमें यद्यपि हिन्दुओंने भी पर्याप्त योगदान किया है तो भी उर्दूकी भाव-भूमि हिन्दीसे सर्वथा भिन्न है। उसकी विचारधारा, दृष्टिकोण, भावधारा मुस्लिम संस्कृतिसे निरूपित हैं। उर्दू काव्यमें इस्लामी पुराणके उपाख्यानोंके दृष्टान्त रहते हैं, उसकी अन्योक्तियाँ, रूपक और उपमाएँ अरबी-फ़ारसीकी काव्य-पद्धतिसे प्रभावित हैं। हिन्दी और उर्दूकी शैलीमें भी मौलिक भेद है जो गद्य और पद्य दोनोंमें समान रूपसे व्यक्त है। विशेषकर उर्दूका पिंगल (अरूज़) फ़ारसीसे लियेजानेके क़ारण हिन्दीके पिंगलसे बहुत भिन्न है। मसनवी, क़सीदा, रुबाई, ग़ज़ल—सभी फ़ारसीसे लियेगये हैं। फ़ारसीने ये असनाफ़े सख़ुन (कविताके रूप-विधान) अरबीसे लिये थे। फलतः उर्दूकी उपमाएँ (तशबीहात) और रूपक (इस्तरात्रात) भी फ़ारसी अरबीके हैं। इससे उर्दूकी कविताको उत्कर्ष अवश्य मिला, परन्तु वह हिन्दीकी काव्य-परम्परासे सदैवको अलग होगयी।

इस विवादमें यह बात महत्त्वपूर्ण नहीं है कि हिन्दीवालोंकी संस्कृत-प्रियता अथवा उर्दूवालोंकी अरबी-फ़ारसी-प्रियता उचित अथवा अनुचित है; या यह कि हिन्दीके छन्दोनियम (पिंगल) अच्छे हैं अथवा उर्दू बहरोंके, न यह महत्त्वपूर्ण है कि दोनोंमेंसे कौनसी भाषा अधिक सरल अथवा कठिन है। इन कसौटियोंपर दो भाषाओंकी तुलना करना कम-से-कम इस विवादमें समीचीन नहीं है; न इस सम्बन्धमें शास्त्रीय विधिसे कोई निर्णय

करके हिन्दी अथवा उर्दूके दावेको अस्वीकृत किया जासकता है। सर्व प्रथम यह स्वीकार करनेकी आवश्यकता है कि हिन्दी और उर्दू दो भिन्न भाषाएँ हैं। उत्तरोत्तर हिन्दी उत्तर भारत और मध्य भारतके हिन्दुओंकी भाषा बनतीजाती है और उर्दू मुसलमानोंकी। यह एक ऐतिहासिक सत्य है, इस सत्यकी प्रियता-अप्रियता उसके अस्तित्वको नकारनेका औचित्य नहीं प्रदान करती। इसके अतिरिक्त यह कहना कि राष्ट्रीय भावना ज्यों-ज्यों व्यापक होतीजायगी त्यों-त्यों हिन्दी-उर्दूका भेद कम होताजायगा, केवल भ्रान्त धारणा है। यथार्थ सत्य तो यह है कि ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय भावना व्यापक होतीगयी है, दोनों भाषाओंके पृथक् विकासकी गति भी उतनी ही तीव्र होतीगयी है। परन्तु यह कोई ऐसी रहस्यमय घटना नहीं है जिसका विवेचन न किया जासके। इस पृथक् विकासको प्रतिस्पर्धा, साम्प्रदायिकता और संकीर्ण जातीयताकी भावनाने ही प्रेरणा दी है, ऐसी बात भी नहीं है, क्योंकि यह अनुभवसिद्ध उदाहरण है कि हिन्दी और उर्दूके प्रगतिवादी साहित्यकारोंकी भाषामें भी उतना ही भेद है जितना श्री सम्पूर्णानन्द और मौलवी अब्दुलहक़की भाषामें, यद्यपि हिन्दी-उर्दूके प्रगतिवादी साहित्यकार एक ही संघमें परस्पर मिलतेरहे हैं, एक दूसरेकी रचनाएँ सुनते-सुनातेरहे हैं। विलक्षण बात यह है कि उनमें कभी साम्प्रदायिक प्रतिस्पर्धा और संकुचित मनोवृत्तिका लेश भी नहीं रहा और वे सच्चे दिलसे 'हिन्दुस्तानी' के समर्थक रहे हैं। परन्तु न जोश मलीहाबादीकी कविता हिन्दुस्तानीकी कविता बनपायी और न पन्तकी युगवाणी या ग्राम्याकी कविता हिन्दुस्तानी की। अतः जब महात्मा गान्धी अथवा दूसरे विचारक इस भेदका सारा दायित्व लेखकोंकी कुप्रवृत्ति या दुर्भावनाके मत्थे मढ़ देते हैं तब सहज ही आश्चर्य होता है कि ये विचारक इतने विनयशील क्यों हैं! जिस राष्ट्रीय आन्दोलनने समस्त भारतके कण-कणमें जाग्रति भरदी है, उससे लेखक क्यों नहीं अनुप्राणित हुए और वे इतने जड़ बुद्धि क्यों हैं कि एकताके मूलमन्त्रका पहला पाठ भी नहीं सीख पाये? और हमारे महाप्राण नेताओंकी मेधा इतनी अशक्त है कि वह इन मुट्ठीभर लेखकोंका विचार नहीं पलट सकती और वे 'एक राष्ट्रभाषा', 'हिन्दुस्तानी', 'हिन्दू-मुस्लिम एकता' आदिके श्रुति-मधुर नारोंकेलिए बधिर बनकर हिन्दी और उर्दूको पृथक्-पृथक् मार्गोंपर खींचेलिये जारहे हैं! अतः यातो हिन्दी

और उर्दूके समस्त महान् साहित्यकार निम्न कोटिके साम्प्रदायी, संकीर्ण मनोवृत्तिके षड्यन्त्रकारी और भारतीय एकताके द्रोही रहे हैं और ऐसी दशामें हमारे राष्ट्रीय नेताओंकी साहित्यकारोंके प्रति प्रच्छन्न रूपमें तिरस्कार भरी विनयशीलता उचित है, अथवा स्वयं हमारे नेताओंकी चिन्तामें दोष है और वे इतिहासका अपने मनोनुकूल अध्ययन करते हैं। ऐसा त्रुटिपूर्ण अध्ययन प्रगतिवादियोंका भी था, परन्तु चूँकि वे कोरे प्रचारक न होकर साहित्य-स्रष्टा भी थे अतः व्यवहारमें वे इतिहासकी प्रेरक शक्तियोंकी उपेक्षा न करसके और अपने पूर्व-चिन्तित निर्णयोंके बावजूद हिन्दी और उर्दूकी शैलियोंका नयी सौन्दर्य-दृष्टि और नयी विचार-वस्तुके अनुकूल अलग-अलग ही परिमार्जन करतेरहे। उन्होंने अपनी कला और उत्कृष्ट भाव - विचारकी अभिव्यक्तिको प्रचारके अधीन करके बाल्योचित सरलताका बाना नहीं पहनाया और भाषा और शैलीमें 'जनता की भाषा' या 'बोलचालकी भाषा' के नारोंके प्रभावमें पड़कर ऐसे प्रयोग नहीं किये जिनसे हिन्दी अथवा उर्दू के काव्य या साहित्यका चरम उत्कर्ष हरिऔधके 'चुभते चौपदे' या नज़ीर के 'बंजारा नामा' तक ही सीमित रहजाता और इंशाकी 'रानी केतकीकी कहानी' ही हमारे गद्यका आदर्श रहजाती। प्रगतिवादी लेखकोंने प्रेमचन्द, प्रसाद, पन्त, निराला या मीर, ग़ालिब, इक़बाल, जोशकी विरासतकी रक्षा और उसका विकास करना अधिक अनिवार्य और साहित्यकेलिए गौरवपूर्ण समझा, न कि कृत्रिम रूपसे हिन्दी और उर्दूको मिलाकरके एक करना। और यह उन्होंने एक दूसरेकी सद्भावनाके वातावरणमें किया। अतः इस विवादमें जो कटुता आयी है उसकेलिए लेखकोंसे अधिक राजनीतिज्ञ और प्रचारक ज़िम्मेदार हैं जिसके कारण एक राष्ट्रभाषाकी खोजमें उर्दूवाले हिन्दीके अस्तित्वको नकारते हैं, हिन्दीवाले उर्दूके अस्तित्वको और महात्मा गान्धी दोनोंको और उनके ऐतिहासिक विकासका तिरस्कार कर एक नयी ही भाषा 'हिन्दुस्तानी' गढ़नेकी धमकी देते हैं।

इसके अतिरिक्त इस विवादमें एक भाषाके अस्तित्व और दूसरीके अनस्तित्वका निर्णय करनेकेलिए अपने अनुकूल आँकड़े जोड़कर जन-संख्या - बल दिखाना औरभी हीन मनोवृत्तिका सूचक है। वास्तविक सत्य यह है कि खड़ीबोली जिसकी ज़मीनपर हिन्दी और उर्दूके पौधे फूटे हैं, केवल उत्तरी दोआबके ५३ लाख जनोंकी ही मातृभाषा है। १४ करोड़

की मातृभाषा है, यह दावा भाषा-शास्त्र सम्मत नहीं है। परन्तु यह सत्य है कि देशके २५ करोड़ व्यक्ति इस बोलीको समझलेते हैं और अन्तर-प्रान्तीय व्यवहारमें इसका प्रयोग करते हैं, यद्यपि प्रत्येक प्रान्त अथवा भाषा-क्षेत्रमें अन्तरप्रान्तीय व्यवहारकी इस भाषाका समान रूपही प्रचलित नहीं है, उसके अनेक स्थानीय रूपान्तर होगये हैं। फिरभी मोटे तौर पर इतना कहा जासकता है कि पश्चिमोत्तर भारत, सीमाप्रान्त, काश्मीर, सिन्ध, बलोचिस्तान और पञ्जाबमें खड़ीबोलीका उर्दू रूप अधिक प्रचलित है और संयुक्तप्रान्त (कतिपय नगरोंको छोड़कर) राजस्थान, बिहार, बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यभारत तथा दक्षिण भारतमें खड़ीबोलीका हिन्दीरूप अधिक प्रचलित है। ऐसी स्थितिमें अशुद्ध गणनामें इन निरीह २५ करोड़ जनोंकी बड़ी छीछालेदर होती है, हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी-वाले तीनों उन्हें अपने-अपने कोठोंमें भरदेते हैं। इस वितण्डावादका अन्त करके हमें वस्तुस्थितिको देखना चाहिए, अर्थात् यह कि पश्चिमोत्तर भारत और मध्य और दक्षिण भारतकी अन्तरप्रान्तीय व्यवहारकी भाषा एक ही नहीं है। पश्चिमोत्तर भारतमें उर्दू और मध्य और दक्षिण भारतमें हिन्दी का अधिक प्रचलन है।

इस सम्बन्धमें एक कुतर्क और प्रचलित है, वह यह कि मद्रास या बंगालके मुसलमान भी शुद्ध द्रविड़ या बंगाली भाषाएँ ही बोलते हैं, उनकी मातृभाषा उर्दू नहीं है। परन्तु फिर वहाँके हिन्दुओंकी मातृभाषा भी तो हिन्दी नहीं है। अतः हिन्दी अथवा उर्दू उनकेलिए एक द्वितीय भाषा ही होसकती है, ऐसी स्थितिमें अपने धर्म और अपनी संस्कृतिका परिचय पानेकेलिए यदि बङ्गाल या मद्रासके मुसलमान हिन्दीके स्थानपर उर्दू सीखना चाहें तो इसमें आपत्तिजनक क्या है? इसी प्रकार पश्चिमोत्तर प्रान्तों के हिन्दू यदि अपनी मातृभाषा पश्तो, पञ्जाबी, सिन्धी, काश्मीरी या बलूची आदिके साथ-साथ द्वितीय भाषाके रूपमें हिन्दी सीखना चाहें तो इसपर आपत्ति क्योंकर की जासकती है?

हमने ऊपर कहा कि राष्ट्रीय जाग्रतिके साथ साथ हिन्दी और उर्दू का भेद औरभी बढ़तागया और यह कि इसमें कुछभी रहस्यमय नहीं है। न इस बातपर क्षुब्ध होनेकी आवश्यकता है। कारण, इस भेदके बढ़नेसे साहित्यकी दृष्टिसे केवल इतना ही तात्पर्य है कि दोनों भाषाओंने अपनी-

अपनी प्रकृतिके अनुकूल पर्याप्त विकास किया और अब वे न केवल दो भिन्न भाषाएँ ही हैं बल्कि उनका साहित्य-भण्डार भी इतना समृद्ध और उन्नत होगया है कि वे स्वतन्त्र भारतमें राष्ट्रभाषाका दायित्व भी उठासकती हैं। राष्ट्रीय जाग्रतिके बिना इन दोनों भाषाओंका ऐसा अपूर्व विकास असम्भव होता, इस बातकेलिए अधिक विस्तारमें जानेकी आवश्यकता नहीं है। हिन्दी और उर्दूके स्वतन्त्र विकाससे केवल ऐसे ही लोग विक्षुब्ध हैं जो अपने अनैतिहासिक दृष्टिकोण और इस बद्धमूल धारणाके कारण कि हिन्दू-मुस्लिम एकता अथवा समस्त भारतकी अखण्डताकेलिए एक ही राष्ट्रभाषाका होना अनिवार्य है, भारतकी विशिष्ट वस्तुस्थितिको समझ नहीं पाते। वे इस बातको नहीं समझ पाते कि राष्ट्रीय चेतनाके परिणामस्वरूप ही देशके विभिन्न भागोंमें जातीय चेतना उत्पन्न होरही है, साथही इन जातियों में जो मुस्लिम जातियाँ हैं वे चाहे नृ शास्त्रकी दृष्टिसे आर्य ही हों और हिन्दू ही धर्म परिवर्तन करके चाहे मुसलमान बनगयी हों, परन्तु वे हिन्दूधर्म, वर्ण-व्यवस्था और हिन्दू-विधानको स्वीकार नहीं करतीं और अब जातीय और राष्ट्रीय चेतना प्राप्त करके तो वे अपनी संस्कृति, रस्म-रिवाज, सामाजिक-विधान और साहित्यके वैशिष्ट्यको सुरक्षित रखनेकेलिए और भी सतर्क होगयी हैं। वस्तुतः हमारे देशके ऐतिहासिक विकास-क्रमकी ही यह विशिष्टता है कि राष्ट्रीय चेतनाने हिन्दू राष्ट्रवादिता और मुस्लिम राष्ट्रवादिता का रूप ग्रहण किया। जिन सामाजिक-योग-सूत्रोंने इस द्वैतको स्थायित्व प्रदान किया उसमें भिन्न सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक दृष्टिकोणोंके अतिरिक्त अँग्रेज़ी शासनकी दुरङ्गी नीतिका भी हाथ है, परन्तु राष्ट्रीय जागरण ने इस भेद-चैतन्यको और भी निखारा है यह एक ऐसा सत्य है जिसकी अवहेलना नहीं की जासकती। इसमें औचित्य-अनौचित्यके नैतिक मानदण्डोंका प्रयोग अनपेक्षित है। यह एक परिस्थितिजन्य सत्य है और कितने भी प्रचारसे इसको बदल देना, पाँच-सात सौ वर्षके ऐतिहासिक जीवनकी स्मृतियोंतकको उन्मूल करनेकी असम्भव चेष्टा करना है।

अतः राष्ट्रभाषाके विवादमें पड़नेवाले विचारकोंको सर्वप्रथम उन दो बद्धमूल धारणाओंको अपने मनसे निकाल देनाचाहिए जिनके कारण यह प्रश्न एक न सुलझनेवाली गुत्थी बनगया है। पहली धारणा यह कि समस्त भारतकेलिए केवल एक ही राष्ट्रभाषा होनीचाहिए क्योंकि तभी

राष्ट्रीय एकता अथवा हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित की जासकती है। राष्ट्रीय एकता और एक राष्ट्रभाषा, एक लिपि आदिमें कोई अन्योन्याश्रय सम्बन्ध नहीं है और फिर हमें अपने देशकी विशिष्ट परिस्थितियोंके अनुसार हल निकालनेकेलिए किसी पूर्व-निश्चित धारणाको अपना जड़ संस्कार नहीं बना लेना चाहिए। दूसरी धारणा जिसका हमें निर्मूल करना है वह यह है कि हिन्दी और उर्दू दो प्रतिद्वंन्द्वी भाषाएँ हैं अतः हिन्दी और उर्दूके अलग-अलग दावे और कुछ लोगों द्वारा 'हिन्दुस्तानी' का समर्थन। इस प्रतिद्वन्द्विताका अन्त करनेकेलिए राष्ट्रभाषा-पदकेलिए हिन्दी और उर्दूको प्रतिद्वन्द्वी माननेका अर्थ है कि अन्तमें इनमें जिसकी विजय होगी वही राष्ट्रभाषा होसकेगी, दूसरीको अपनी पराजय स्वीकार करके पीछे हटना पड़ेगा। यह धारणा अत्यन्त संकीर्ण और खतरनाक है। हिन्दी और उर्दूको प्रतिद्वन्द्वी कहनेका अर्थ है कि भारतमें हिन्दू और मुस्लिम जातियाँ प्रतिद्वन्द्वी हैं, अर्थात् उनके सामने प्रश्न है कि स्वतन्त्र भारतमें हिन्दू राज्य करेंगे अथवा मुसलमान राज्य करेंगे। जो लोग हिन्दी अथवा उर्दूके पृथक् भाषा अस्तित्वसे ही इन्कार करते हैं वे उन कण्ठमुल्ला हिन्दूसभावादियों अथवा मुस्लिम साम्प्रदायिकोंके समान हैं जो हिन्दुस्तानको हिन्दुओं अथवा मुसलमानोंका ही देश बताते हैं। अतः प्रतिद्वन्द्विताकी धारणाको हमें समूल नष्ट करना पड़ेगा, क्योंकि हिन्दी अथवा उर्दू प्रतिद्वन्द्वी भाषाएँ नहीं हैं बल्कि हमारे देशके ऐतिहासिक विकासक्रमके अनुसार यह दोनों भाषाएँ एक साथ ही राष्ट्रभाषा होनेकी अधिकारी हैं, जिस प्रकार स्वतन्त्र भारतपर हिन्दू और मुसलमान दोनों ही साथ-साथ राज्य करनेके अधिकारी हैं, चाहे स्वतन्त्र भारत 'अखण्ड भारत' हो अथवा हिन्दुस्तान और पाकिस्तानमें बँटा हो। अतः यदि हम इन दो बद्धमूल धारणाओंको त्याग दें तो 'हिन्दुस्तानी' गढ़नेकी आवश्यकता न रहेगी और राष्ट्रभाषाकी समस्याका समाधान अत्यन्त सरल होजायगा।

यहाँपर एक बातका स्पष्टीकरण करदेना अप्रासंगिक न होगा। इस समय देशमें 'पाकिस्तान' और 'अखण्ड हिन्दुस्तान' का विवाद छिड़ा हुआ है। हमने अपने विवेचनमें अखण्ड अथवा विभाजित भारतको लक्ष्य में रखकर कोई समाधान निकालनेकी चेष्टा नहीं की, क्योंकि हमारी दृष्टिमें अखंड हिन्दुस्तान हो अथवा पाकिस्तान और हिन्दुस्तान अलग-अलग हो,

अपनी प्रकृतिके अनुकूल पर्याप्त विकास किया और अब वे न केवल दो भिन्न भाषाएँ ही हैं बल्कि उनका साहित्य-भण्डार भी इतना समृद्ध और उन्नत होगया है कि वे स्वतन्त्र भारतमें राष्ट्रभाषाका दायित्व भी उठासकती हैं। राष्ट्रीय जाग्रतिके बिना इन दोनों भाषाओंका ऐसा अपूर्व विकास असम्भव होता, इस बातकेलिए अधिक विस्तारमें जानेकी आवश्यकता नहीं है। हिन्दी और उर्दूके स्वतन्त्र विकाससे केवल ऐसे ही लोग विक्षुब्ध हैं जो अपने अनैतिहासिक दृष्टिकोण और इस बद्धमूल धारणाके कारण कि हिन्दू-मुस्लिम एकता अथवा समस्त भारतकी अखण्डताकेलिए एक ही राष्ट्रभाषाका होना अनिवार्य है, भारतकी विशिष्ट वस्तुस्थितिको समझ नहीं पाते। वे इस बातको नहीं समझ पाते कि राष्ट्रीय चेतनाके परिणामस्वरूप ही देशके विभिन्न भागोंमें जातीय चेतना उत्पन्न होरही है, साथही इन जातियों में जो मुस्लिम जातियाँ हैं वे चाहे नृ शास्त्रकी दृष्टिसे आर्य ही हों और हिन्दू ही धर्म परिवर्तन करके चाहे मुसलमान बनगयी हों, परन्तु वे हिन्दूधर्म, वर्ण-व्यवस्था और हिन्दू-विधानको स्वीकार नहीं करतीं और अब जातीय और राष्ट्रीय चेतना प्राप्त करके तो वे अपनी संस्कृति, रस्म-रिवाज, सामाजिक-विधान और साहित्यके वैशिष्ट्यको सुरक्षित रखनेकेलिए और भी सतर्क होगयी हैं। वस्तुतः हमारे देशके ऐतिहासिक विकास-क्रमकी ही यह विशिष्टता है कि राष्ट्रीय चेतनाने हिन्दू राष्ट्रवादिता और मुस्लिम राष्ट्रवादिता का रूप ग्रहण किया। जिन सामाजिक-योग-सूत्रोंने इस द्वैतको स्थायित्व प्रदान किया उसमें भिन्न सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक दृष्टिकोणोंके अतिरिक्त अँग्रेज़ी शासनकी दुरङ्गी नीतिका भी हाथ है, परन्तु राष्ट्रीय जागरण ने इस भेद-चैतन्यको और भी निखारा है यह एक ऐसा सत्य है जिसकी अवहेलना नहीं की जासकती। इसमें औचित्य-अनौचित्यके नैतिक मानदण्डोंका प्रयोग अनपेक्षित है। यह एक परिस्थितिजन्य सत्य है और कितने भी प्रचारसे इसको बदल देना, पाँच-सात सौ वर्षके ऐतिहासिक जीवनकी स्मृतियोंतकको उन्मूल करनेकी असम्भव चेष्टा करना है।

अतः राष्ट्रभाषाके विवादमें पड़नेवाले विचारकोंको सर्वप्रथम उन दो बद्धमूल धारणाओंको अपने मनसे निकाल देनाचाहिए जिनके कारण यह प्रश्न एक न सुलझनेवाली गुत्थी बनगया है। पहली धारणा यह कि समस्त भारतकेलिए केवल एक ही राष्ट्रभाषा होनीचाहिए क्योंकि तभी

राष्ट्रीय एकता अथवा हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित की जासकती है। राष्ट्रीय एकता और एक राष्ट्रभाषा, एक लिपि आदिमें कोई अन्योन्याश्रय सम्बन्ध नहीं है और फिर हमें अपने देशकी विशिष्ट परिस्थितियोंके अनुसार हल निकालनेकेलिए किसी पूर्व-निश्चित धारणाको अपना जड़ संस्कार नहीं बना लेना चाहिए। दूसरी धारणा जिसका हमें निर्मूल करना है वह यह है कि हिन्दी और उर्दू दो प्रतिद्वन्द्वी भाषाएँ हैं अतः हिन्दी और उर्दूके अलग-अलग दावे और कुछ लोगों द्वारा 'हिन्दुस्तानी' का समर्थन। इस प्रतिद्वन्द्विताका अन्त करनेकेलिए राष्ट्रभाषा-पदकेलिए हिन्दी और उर्दूको प्रतिद्वन्द्वी माननेका अर्थ है कि अन्तमें इनमें जिसकी विजय होगी वही राष्ट्रभाषा होसकेगी, दूसरीको अपनी पराजय स्वीकार करके पीछे हटना पड़ेगा। यह धारणा अत्यन्त संकीर्ण और खतरनाक है। हिन्दी और उर्दूको प्रतिद्वन्द्वी कहनेका अर्थ है कि भारतमें हिन्दू और मुस्लिम जातियाँ प्रतिद्वन्द्वी हैं, अर्थात् उनके सामने प्रश्न है कि स्वतन्त्र भारतमें हिन्दू राज्य करेंगे अथवा मुसलमान राज्य करेंगे। जो लोग हिन्दी अथवा उर्दूके पृथक् भाषा अस्तित्वसे ही इन्कार करते हैं वे उन कण्ठमुल्ला हिन्दूमभावादियों अथवा मुस्लिम साम्प्रदायिकोंके समान हैं जो हिन्दुस्तानको हिन्दुओं अथवा मुसलमानोंका ही देश बताते हैं। अतः प्रतिद्वन्द्विताकी धारणाको हमें समूल नष्ट करना पड़ेगा, क्योंकि हिन्दी अथवा उर्दू प्रतिद्वन्द्वी भाषाएँ नहीं हैं बल्कि हमारे देशके ऐतिहासिक विकासक्रमके अनुसार यह दोनों भाषाएँ एक साथ ही राष्ट्रभाषा होनेकी अधिकारी हैं, जिस प्रकार स्वतन्त्र भारतपर हिन्दू और मुसलमान दोनों ही साथ-साथ राज्य करनेके अधिकारी हैं, चाहे स्वतन्त्र भारत 'अखण्ड भारत' हो अथवा हिन्दुस्तान और पाकिस्तानमें बँटा हो। अतः यदि हम इन दो बद्धमूल धारणाओंको त्याग दें तो 'हिन्दुस्तानी' गढ़नेकी आवश्यकता न रहेगी और राष्ट्रभाषाकी समस्याका समाधान अत्यन्त सरल होजायगा।

यहाँपर एक बातका स्पष्टीकरण करदेना अप्रासंगिक न होगा। इस समय देशमें 'पाकिस्तान' और 'अखण्ड हिन्दुस्तान' का विवाद छिड़ा हुआ है। हमने अपने विवेचनमें अखण्ड अथवा विभाजित भारतको लक्ष्य में रखकर कोई समाधान निकालनेकी चेष्टा नहीं की, क्योंकि हमारी दृष्टिमें अखंड हिन्दुस्तान हो अथवा पाकिस्तान और हिन्दुस्तान अलग-अलग हों,

दोनों दशाओंमें राष्ट्रभाषाके प्रश्नका वही समाधान होसकता है जिसपर हम अभी विचार करेंगे। किसी राजनीतिक-आर्थिक विभाजनसे सांस्कृतिक प्रश्नोंके समाधानोंमें कोई मौलिक परिवर्तन नहीं आयेगा, अधिक-से-अधिक मात्राभेद ही होसकेगा। क्योंकि हम जनवादके उन सिद्धान्तोंके आधारपर इस प्रश्नका समाधान करना चाहते हैं जिनका आधार अखण्ड हिन्दुस्तान अथवा विभाजित हिन्दुस्तानकी केन्द्रीय सरकारोंको भी लेना पड़ेगा। अभी तक जिन विचारकोंने इस प्रश्नपर सोचा है उन्होंने जनवादके सिद्धान्तोंको आधार बनाकर राष्ट्रभाषाकी समस्याका हल निकालनेकी चेष्टा नहीं की। फलतः उन्होंने इस बातपर भी नहीं सोचा कि यदि भारतका विभाजन दो अथवा इससे अधिक भागोंमें होना ही पड़ा तो उनका एक राष्ट्रभाषाका स्वप्न-लोक पलमात्रमें ढह जायगा। बहुमतके ज़ोरपर आज हम हिन्दीको राष्ट्रभाषा मनवा भी लें तो कल यदि मुस्लिम जातियोंने अपना पाकिस्तान बनालिया तो वे हिन्दीको राष्ट्रभाषा क्यों स्वीकार करने लगीं? और फिर पाकिस्तान और हिन्दुस्तानमें यही विवाद दूसरा रूप लेकर उठखड़ा हुआ तो उसका अन्त कहाँ होगा? पाकिस्तानके हिन्दू हिन्दीकेलिए और हिन्दुस्ताके मुसलमान उर्दूकेलिए फिरभी अपना सिर फोड़ते रहेंगे। अतः अबतक यह विवाद जिस असंयमके साथ निम्नस्तरपर होतारहा है, उससे निकाल कर इसको जनवादी आधार देनेकी आवश्यकता है, कोई ऐसा समाधान ढूँढनेकी ज़रूरत है जिसके कारण इस समस्याका अपेक्षाकृत स्थायी फैसला होजाय और राजनीतिक परिवर्तनोंसे राष्ट्रभाषाका भाग्य न बदलता रहे।

अतः उपरोक्त विवेचनसे यदि पाठक अपनेको उन दो बद्धमूल धारणाओंसे मुक्त करनेमें समर्थ होगये हैं जिनके कारण राष्ट्रभाषाके प्रश्नपर प्रगति अवरुद्ध है तो वे सहजही इस निष्कर्षपर पहुँचजायँगे कि हिन्दी और उर्दूवालोंको यह स्वीकार करलेना चाहिए कि ये दोनों अलग-अलग स्वतन्त्र भाषाएँ हैं और चूँकि वे प्रतिद्वन्द्वी नहीं हैं अतः दोनोंमें परस्पर विरोधका कोई प्रश्न नहीं उठना चाहिए। ये दोनों पृथक् भाषाएँ खड़ीबोली की ज़मीनपर संस्कृत और फ़ारसीके खाद-बीजसे उत्पन्न दो पौधोंके समान हैं अतः दो भिन्न संस्कृतियों-हिन्दू और मुस्लिम-की प्रतीक हैं। इन दोनों भाषाओंको एक साथ रहना है, क्योंकि जनवादका सिद्धान्त सांस्कृतिक साम्राज्यवादका उतना ही विरोधी है जितना आर्थिक-राजनीतिक साम्राज्य-

वास्तव, इन दोनोंका अपनी-अपनी संस्कृतियोंका सांस्कृतिक माध्यम बने रहना है और यह किसी सद्भावनाके मार्गमें बाधक नहीं बल्कि उस अधिकार और दायित्वके कारण भी ऐतिहासिक विभिन्नता और सामाजिक सीमाओंको इन्हें प्राप्त है।

इस समस्याका उचित हल यही है कि राष्ट्रभाषाके प्रश्नका समाधान स्वतः स्पष्ट होजाता है। अर्थात् हिन्दी और उर्दू दोनोंको समानरूपसे राष्ट्रभाषा स्वीकार किया जाय। कांग्रेसके नेताओं और सम्मेलनके लिए भी हिन्दी और उर्दू दोनोंको राष्ट्रभाषा घोषित करना न केवल राष्ट्रीय कांग्रेस और मुस्लिम लीगका कर्तव्य है, परन्तु हिन्दी साहित्य सम्मेलन और अंजुमन तरक्की-ए-उर्दू का कर्तव्य भाषा (द्राविड़ी भाषा-भेद) और संस्कृत भाषाओंके इन दो राष्ट्रभाषाओंको सार्वदेशिक प्रतिष्ठा प्रदान करनी चाहिए। केवल विशेष राष्ट्रभाषा थोपनेका हमें अधिकार नहीं है, विशेषकर द्राविड़ी भाषा-भेद, क्योंकि उनकी भाषाएँ आर्य-हिन्द परिवारकी भाषाएँ नहीं हैं और सम्भव है कि वे इनमें ही किसी भाषाको अपने प्रान्तोंकी राष्ट्रभाषा बनाना चाहें।

परन्तु हिन्दी और उर्दू दोनों राष्ट्रभाषाएँ स्वीकार करनेमें, इस इस प्रश्नके सम्पूर्ण अन्तरको समझलेना आवश्यक है। महात्मा गान्धी और कांग्रेसकी नीति यह है कि हिन्दुस्तानी राष्ट्रभाषा हो, अर्थात् न हिन्दी, न उर्दू बल्कि उनका सम्मिलित रूप हिन्दुस्तानी। उनके अनुसार यह भाषा अभी बननेके क्रममें है और इसे नये सिरेसे गढ़नेके प्रयत्नमें अ-भीष कुरूप चेष्टाएँ की जारही हैं जैसे डिक्टका अनुवाद 'फरमुन' आदि। परन्तु एक बात जिसपर अब हिन्दुस्तानीवाले विशेष ज़ोर देनेलगे हैं वह यह है कि प्रत्येक कांग्रेस और राष्ट्रभाषा-प्रचार कार्यकर्ताको हिन्दी और उर्दू, दोनों लिपियाँ सीखनी चाहिएँ। यह ध्यान रखनेसे इन्कार करके पेड़ गिननेपर ज़ोर देनेकी प्रवृत्ति है, अर्थात् महात्माजीका विचार है कि दोनों लिपियों के जाननेसे आपसे एक तीसरी सम्मिलित भाषा बनजायगी। दोनों लिपियाँ सीखिए पर दोनों भाषाएँ मत सीखिए, मानो ऐसा करनेसे एक तिलिस्म घटित होजायेगा जिससे एक नयी भाषा उत्पन्न होजायेगी। हम ऐसे काल्पनिक समाधानोंकी व्यर्थताका विवेचन करचुके हैं और पुनः यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि हिन्दुस्तानी (खड़ीबोली) की साहित्यिक प्रतिष्ठा

हिन्दी तथा उर्दूके ही रूपमें होसकती है किसी तीसरे रूपमें नहीं। अतः यह बतानेकी भी ज़रूरत नहीं है कि भाषाओंसे लिपियोंको अलग करके उनको सीखनेपर ज़ोर देना भी राष्ट्रभाषाके प्रश्नको टालनेकी चेष्टा करना है। सम्भव है कि गान्धीजी और हिन्दुस्तानीवाले इतना तो जानते ही हैं कि वर्तमान शिक्षण-व्यवस्थाके अन्तर्गत भी द्वितीय भाषाके रूपमें प्रत्येक विद्यार्थीको हिन्दी अथवा उर्दूके साथ-साथ उर्दू अथवा हिन्दीकी प्रारम्भिक पुस्तकें पढ़नी पड़ती हैं जिसके कारण दोनों लिपियोंका ज्ञान तो उन्हें होही जाता है। परन्तु फिरभी भाषा-भेद तो बना ही है। अतः दोनों लिपियोंका ज्ञान पर्याप्त नहीं है। हिन्दी और उर्दू दोनोंको राष्ट्रभाषाएँ माननेका अभिप्राय केवल यही नहीं होसकता कि दोनों लिपियोंका समान रूपसे प्रयोग तो हो, परन्तु भाषा एक ही हो। यह तो एक व्यक्तिको एक साथही कुरता-धोती और पाजामा-शेरवानी पहनाकर प्रदर्शित करनेके समान होगा। गान्धीजी यह जानते हैं कि ऐसा करना असम्भव है और वे पश्चिमोत्तर और मध्य-देशकी हिन्दुस्तानीके शैली-भेदको अभी अनिवार्यभी समझते हैं। परन्तु वे अपने चिन्तनके विरोधाभासको दूर करनेका प्रयत्न न करके अविराम अँधेरेमें टटोलते रहना ही पसन्द करते हैं।

इस नीतिका एक ही परिणाम होसकता है, वह यह कि राजकीय कार्योंमें आज जो स्थिति पश्चिमोत्तर प्रान्तों और मध्यदेशमें हिन्दी की है वही स्थिति मध्देशमें उर्दूकी होजाय। अदालतोंमें उर्दूके साथही हिन्दीका प्रयोग भी स्वीकार करलिया गया है, परन्तु दोनों लिपियोंमें जिस भाषाका प्रयोग होता है वह क्लिष्ट उर्दू भाषा है। अदालती सम्मन एक ओर उर्दूमें छपे होते हैं, दूसरी ओर हिन्दीमें। उर्दू लिपिवाले भागकी भाषा तो उर्दू होती ही है हिन्दीवाले भागकी भाषा भी उर्दूही होती है क्योंकि समस्त पारिभाषिक शब्द अरबी-फ़ारसीके होते हैं। दोनों लिपियोंमें हिन्दुस्तानीको राष्ट्रभाषा स्वीकार करलेनेसे और पश्चिमोत्तर और मध्यदेशमें उसके शैली-भेदको भी स्वीकार करलेनेसे केवल इतना फ़रक पड़ेगा कि पश्चिमोत्तर प्रान्तोंमें राजकीय कार्य उर्दू भाषामें होगा, यद्यपि हिन्दी लिपिका भी समान रूपमें ही प्रयोग होगा और मध्यदेशमें राजकीय कार्य हिन्दी भाषामें होगा यद्यपि उर्दू लिपिका भी प्रयोग कियाजायगा। यह स्थिति वर्तमान स्थितिसे मूलतः भिन्न न होगी, केवल हिन्दीकी स्थिति कुछ सुधर जायगी। फलतः

पश्चिमोत्तर प्रान्तोंमें हिन्दी लिपिमें लिखी हिन्दी हिन्दी न होगी और मध्य-देशमें उर्दू लिपिमें लिखी उर्दू उर्दू न होगी। इस वैषम्यको इन दोनों भू-खण्डोंकी हिन्दू अथवा मुस्लिम जनता कैसे स्वीकार करलेगी, यह समझ में नहीं आता। अतः दोनों भाषाओंको समान रूपसे राष्ट्रभाषा स्वीकार करनेका यह अर्थ होगा कि हिन्दुस्तानीके प्रपञ्चको सदैवकेलिए दफ़ना दिया जायगा और राजकीय कार्योंमें पश्चिमोत्तर प्रान्तों अथवा मध्यदेश या दक्षिण भारतमें दोनों लिपियोंमें जो भाषा लिखी जायगी वह साहित्यिक हिन्दी और साहित्यिक उर्दूके आदर्शको स्वीकार करेगी। उर्दू और हिन्दीके पारि-भाषिक शब्द एक किये जासकते हैं, परन्तु जबतक वे प्रचलित नहीं होजाते और विद्वान् उनका निर्णय नहीं करदेते तबतक दोनों भाषाओंके अपने-अपने पारिभाषिक शब्दोंका ही प्रयोग होना चाहिए।

इस प्रकारसे हिन्दी और उर्दू दोनोंको समान रूपसे राष्ट्रभाषा सीखने का तात्पर्य यह होगा कि मुस्लिम-प्रधान प्रान्तोंमें राजकीय कार्योंमें उर्दू भाषाका प्रयोग होगा, परन्तु वहाँके अल्पसंख्यक हिन्दुओंको हिन्दी-भाषा (केवल लिपि ही नहीं) का प्रयोग करनेका समान अधिकार होगा। इसी प्रकार मध्यदेश (हिन्दू-प्रधान प्रान्तों) में राजकीय कार्योंमें हिन्दी भाषा का प्रयोग होगा, परन्तु मुसलमानोंको उर्दू भाषा (केवल लिपि ही नहीं) का प्रयोग करनेका समान अधिकार होगा। अतः प्रत्येक व्यक्तिकेलिए यह अनिवार्य न होगा कि वह दोनों भाषाएँ और दोनों लिपियाँ सीखे ही। सरकारी कर्मचारियोंकेलिए ही ऐसी विशेष योग्यता आवश्यक होगी, क्यों-कि सारा सरकारी कार्य दोनों भाषाओंमें होगा और सरकारी विज्ञप्तियाँ आदि दोनों भाषाओं और दोनों लिपियोंमें निकलेंगी। सर्वसाधारण जिस राष्ट्रभाषाको जानते हैं उसका ही प्रयोग करेंगे।

जहाँतक शिक्षाका सम्बन्ध है यह प्रश्न विचारणीय है कि प्रारम्भमें विभिन्न भाषा-क्षेत्रोंमें उच्च शिक्षाका माध्यम क्या होगा। क्योंकि अभीतक सभी प्रान्तिक भाषाओंका विकास समान नहीं हुआ है। परन्तु यह सिद्धान्त सर्व-मान्य है कि प्रत्येक व्यक्तिको अपनी समूची शिक्षा, प्राथमिकसे लेकर उच्चतम तक, सब अपनी मातृभाषामें प्राप्त करनेका अधिकार है। ऐसी दशामें समूचे देशका भाषागत् प्रान्तोंमें पुनर्विभाजन करनेकी आवश्यकता होगी, और भाषा क्षेत्रोंका निर्णय ज़रूरी होगा। इस आधारपर हिन्दी-प्रान्तोंका भी

पुनर्विभाजन करना होगा क्योंकि इन क्षेत्रोंमें लगभग २० भाषाएँ और बड़ी बोलियाँ बोलीजाती हैं। साहित्यिक हिन्दी सर्वत्र मातृभाषाके रूपमें नहीं बोलीजाती। उदाहरणकेलिए इस सिद्धान्तके अनुसार यदि मैथिली जनपदका भाषा-क्षेत्र निर्णीत करदिया गया तो वहाँकी प्राथमिक और उच्च शिक्षाका माध्यम मैथिली होगा जो हिन्दू और मुसलमानों दोनोंको समान रूपसे सीखनी होगी, क्योंकि नगरोंमें उत्तर भारतसे जाकर बसे कुछ परिवारोंको छोड़कर, जिनकी मातृभाषा उर्दू (खड़ीबोली) है, वहाँके आम मुसलमानोंकी मातृभाषा भी मैथिली ही है। राष्ट्रभाषाएँ अनिवार्य द्वितीय भाषाके रूपमें उच्च कक्षाओंमें सिखायी जायँगी। यहाँ हिन्दी और उर्दूमें विकल्प होगा, विद्यार्थी जिस राष्ट्रभाषाको चाहेगा, चुनलेगा। यही नियम गुजराती, मराठी, सिन्धी, पञ्जाबी, पश्तो, काश्मीरी आदि अहिन्दी और अउर्दू भाषा-क्षेत्रोंपर भी लागू होगा। इस प्रकार सारे देशमें प्रत्येक व्यक्तिको अपनी इच्छाके अनुसार हिन्दी अथवा उर्दूमेंसे अपनी राष्ट्रभाषा चुननेका अवसर मिलजायगा। इससे न हिन्दुओंको असुविधा होगी न मुसलमानोंको। सीमाप्रान्तके हिन्दू अथवा मद्रासके मुसलमानको हिन्दी अथवा उर्दू सीखकर अपनी सांस्कृतिक परम्पराओंतक पहुँचना सुगम और सुलभ होगा। अहिन्दी-अउर्दू प्रान्तोंके निवासियोंकेलिए तो दो लिपियोंका सीखना इससे अनिवार्य होही जायगा। गुजराती अपनी गुजराती लिपि सीखेंगे, साथही उन्हें हिन्दी तथा उर्दूमेंसे एक लिपि सीखनी होगी। वर्तमान हिन्दी-उर्दू प्रान्तोंमें दोनों लिपियोंका सीखना अनिवार्य किया जासकता है, परन्तु अभी यह प्रश्न विचारणीय है। उत्तरी दोआब (अन्तर्वेद) में तो कम-से-कम हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं और लिपियोंका जानना अनिवार्य किया ही जासकता है, क्योंकि वहाँकी मातृभाषा खड़ीबोली है जिससे ये दोनों भाषाएँ निकली हैं। परन्तु ये सब ऐसे प्रश्न हैं जिनपर अभी अन्तिम रूपसे कोई सुझाव नहीं दिया जासकता। परन्तु जिन जनपदोंकी भाषामें अभी उच्च कोटिका साहित्य नहीं है, वहाँ पर मातृभाषामें उच्च शिक्षा देनेमें कठिनाई पड़सकती है। ऐसी स्थितिमें राज्यकी ओरसे उन भाषाओंको विकासकेलिए प्रोत्साहन देना अपेक्षित होगा, तथा प्रारम्भमें उच्च शिक्षाका माध्यम राष्ट्रभाषाओंको बनाना होगा। उच्च शिक्षामें हमें एक विदेशी भाषाका जानना भी अनिवार्य करना

बढ़ेगा। कदाचित् इस आवश्यकताको सभी महसूस करते हैं।

हिन्दी और उर्दू दोनोंको समान रूपसे राष्ट्रभाषाएँ मानलेनेसे केवल शिक्षा-विधि (विज्ञान, चिकित्सा, इञ्जीनियरिंग आदि) के मार्गमें कठिनाइयाँ उत्पन्न होनेकी सम्भावना रह जायगी, क्योंकि पारिभाषिक शब्द संस्कृतसे लिये जायँगे अथवा अरबी-फारसीसे, इसपर विवाद उठेगा। परन्तु दोनोंको समान रूपसे राष्ट्रभाषा स्वीकार करलेनेके उपरान्त जो सद्भावनाका वातावरण उत्पन्न होगा उसमें विद्वानोंको इस प्रकार विचार करनेकी पर्याप्त सुविधा होगी कि पारिभाषिक शब्द अलग-अलग हों अथवा उनका अन्तर्राष्ट्रीय रूप ही स्वीकार करलिया जाय और उनकी व्याख्या हिन्दी और उर्दू भाषाओंमें अलग-अलग की जाय आदि। सम्भव है कि शिक्षाविद् दूसरी स्थितिको ही अधिक पसन्द करें।

इस प्रकार हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानीके विवादका अध्ययन करके हम इस परिणामपर पहुँचे हैं कि हिन्दी और उर्दू दोनोंको ही समान रूपसे राष्ट्रभाषाएँ स्वीकार करना चाहिए। भारत जैसे महाप्रदेशकेलिए दो राष्ट्रभाषाओंका होना अनभीष्ट नहीं समझना चाहिए क्योंकि इस प्रकार और कोई दूसरा समाधान नहीं होसकता।

परिशिष्ट १

पंचवर्षीय जनपद कल्याणी योजना

वर्ष १—साहित्य, कविता, लोकगीत, कहानी आदि जनपदीय साहित्यके विविध अङ्गोंकी खोज और संग्रह। वैज्ञानिक पद्धतिसे उनका प्रकाशन और सम्पादन।

वर्ष २—भाषा-विज्ञानकी दृष्टिसे जनपदीय भाषाका सांगोपांग अध्ययन—अर्थात् उच्चारण और ध्वनि-विज्ञान, शब्दकोष, प्रत्यय, धातुपाठ, मुहावरे, कहावत और नाना प्रकारके पारिभाषिक शब्दोंका संग्रह और आवश्यकतानुसार सचित्र सम्पादन।

वर्ष ३—स्थानीय भूगोल, स्थानोंके नामकी व्युत्पत्ति और उनका इतिहास स्थानीय पुरातत्त्व और शिल्पका अध्ययन।

वर्ष ४—पृथ्वीके भौतिक रूपका समग्र परिचय प्राप्त करना—अर्थात् वृक्ष, वनस्पति, मिट्टी, पत्थर, खनिज, पशु-पक्षी, धान्य, कृषि, उद्योग-धन्धोंका अध्ययन।

वर्ष ५—जनपदके निवासी-जनोंका सम्पूर्ण परिचय—अर्थात् मनुष्योंकी जातियाँ, लोकका रहन-सहन, धर्म-विश्वास और रीति-रिवाज, नृत्य-गीत और आमोद-प्रमोद, पर्व-उत्सव-मेले, खान-पान, स्वभावके गुण-दोष, चरित्रकी विशेषताएँ, इन सबकी बारीक छानबीन और पूरी जानकारी प्राप्त करके ग्रन्थ रूपमें प्रस्तुत करना।

यह पञ्चविधि योजना वर्षानुक्रमसे पूरी कीजासकती है, अथवा एकसाथही प्रत्येक क्षेत्रमें कार्यकर्त्ताओंकी इच्छानुसार प्रारम्भ कीजासकती है। किन्तु यह आवश्यक है कि वार्षिक कार्यका विवरण प्रकाशित होतारहे। प्रत्येक जनपद अपने क्षेत्रके साधनोंको एकत्र करके 'मधुकर', 'व्रजभारती' और 'बान्धव' के ढङ्गके पत्र प्रकाशित करें तो और अच्छा है। स्थानीय कार्यकर्त्ताओंकी सूची तैयार होनी चाहिए और कार्यके

सम्पादनकेलिए विविध समितियोंका संगठन करना चाहिए। उदाहरणार्थ कुछ समितियोंके नाम ये हैं:—

(१) भाषा समिति—जनपदीय भाषाका अध्ययन, वैज्ञानिक खोज और कोषका निर्माण। धातुपाठ और पारिभाषिक शब्दोंका संग्रह इसीके अन्तर्गत होगा।

(२) भूगोल या देश-दर्शन समिति—भूमिका आँखोंदेखा भौगोलिक वर्णन तैयार करना। स्थानोंके प्राचीन नामोंकी पहिचान; नदियोंके सांगोपांग वर्णन तैयार करना।

(३) पशु-पक्षी-समिति—अपने प्रदेशके सत्वोंकी पूरी जाँच-पड़ताल करना इस समितिका कार्य होना चाहिए। इस विषयमें लोगोंकी जानकारीसे लाभ उठाना, नामोंकी सूचियाँ तैयार करना, अँग्रेजीमें प्रकाशित पुस्तकोंसे नामोंका मेल मिलाना आदि विषयोंको अध्ययनके अन्तर्गत लाना चाहिए।

(४) वृक्ष-वनस्पति-समिति—पेड़, पौधे, जड़ी-बूटी, फूल-फल-मूल सबका विस्तृत संग्रह तैयार करना।

(५) ग्राम-गीत-समिति—लोक-गीत, कथा-कहानी आदिके संग्रहका कार्य।

(६) जन-विज्ञान-समिति—विभिन्न जातियों और वर्णोंमें लोगोंके आचार-विचार और रीति-रिवाजोंका अध्ययन।

(७) इतिहास-पुरातत्त्व-समिति—प्राचीन इतिहास और पुरातत्वकी सामग्रीकी छानबीन, उसका अध्ययन, संग्रह और प्रकाशन। पुरातत्व-सम्बन्धी खुदाईका भी प्रबन्ध करना।

(८) कृषि-उद्योग-समिति—जनताके कृषि-विज्ञान, उद्योग-धन्धों और खनिज पदार्थोंका अध्ययन।

इस प्रकार साहित्यिक दृष्टिकोणको प्रधानता देतेहुए, अपने लोकका रुचिके साथ एक सर्वाङ्गपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करना इस योजनाका उद्देश्य है।

और हानिकर बतलाया है। इस कौंसिलका विचार है कि इस आन्दोलन का विरोध करनेवाली संस्थाओं तथा व्यक्तियोंको यह आशङ्का है कि विभिन्न भाषाओं और संस्कृतियोंका [illegible] राष्ट्रके [illegible] बननेके मार्गमें व्याघात उपस्थित करेगा। इस आशंकाको दूर कर इस अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्याको निर्मूल आधारभूत प्रश्नोंके [illegible] न करदेना चाहिए।

इस कौंसिलका निश्चित मत है कि जनपदीय भाषाओंके स्वतन्त्र विकाससे इन प्रदेशोंकी स्वतन्त्र संस्कृतियों और निजी विशेषताओंका समुचित प्रस्फुटन होगा। इसके साथ-ही-साथ जनपदीय भाषाओंके विकाससे जनशिक्षाके कार्यमें सहायता मिलेगी और देशके सबसे पिछड़ेहुए, विस्तृत कोनोंमें भी जन-साहित्यके विकासको अप्रत्याशित बल मिलेगा।

इस कौंसिलका यह मत है कि ऐतिहासिक रूपसे देखनेपर जनपद-आन्दोलन हमारी बढ़तीहुई राष्ट्रीय चेतनाका परिणाम ही सिद्ध होता है। यह चेतना विभिन्न प्रदेशोंकी जनताकी इस प्रजातान्त्रिक माँगके रूपमें अभिव्यक्ति पारही है कि उसे अपनी भाषा और संस्कृतिकी रक्षा और विकासका अधिकार मिले।

अतः यह कौंसिल इस आन्दोलनके सम्बन्धमें उठायेगये सन्देहों को न्यायोचित नहीं समझती। यह समझती है कि हम सबको इस आन्दोलनसे उठनेवाली मौलिक समस्याओंका गम्भीर अध्ययन करना चाहिए। इस अध्ययनसे यह लाभ होगा कि हम इस आन्दोलनको कुछ लोगोंके विरोधके प्रतिक्रिया-स्वरूप अस्वस्थ विच्छेदमूलक धारामें प्रवाहित होनेसे बचातेहुए उसे रचनात्मक दिशामें लेजा सकेंगे।

अतः यह कौंसिल सभी हिन्दी और उर्दू लेखकोंसे अनुरोध करती है कि वे इस समस्याका गम्भीरता-पूर्वक अध्ययन करें और जनपद आन्दोलनके समुचित विकासमें सहायक हों।

—प्रस्तावक : शिवदानसिंह चौहान

परिशिष्ट ४

अ० भा० प्रगतिशील लेखक संघका घोषणापत्र, १९३८

भारतीय समाजमें आमूल परिवर्तन होरहे हैं। यद्यपि प्रतिक्रियाकी भावनामें अब जीवनके तत्व अवशिष्ट नहीं हैं और उसका विनाश अन्ततोगत्वा अवश्यम्भावी है तथापि वह अबभी क्रियाशील है और अपनेको बनाये रखनेकेलिए एड़ी-चोटीका ज़ोर लगारहा है। जबसे प्राचीन संस्कृतिका अन्त हुआ है तबसे भारतीय साहित्यमें जीवनके यथार्थोंसे भागनेकी घातक प्रवृत्तिने जड़ जमाली है। उसने यथार्थोंसे भागकर निराधार अध्यात्म और कोरी आदर्शवादितामें जाकर शरण लेनेका प्रयत्न किया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि उसका शरीर और उसकी आत्मा निर्जीव होगयी हैं और उसने एक जड़ कलावादिता तथा जीवनके प्रति एक ऐसे दृष्टिकोणको अपनालिया है जो पुरोगामी और पतनोन्मुख है।

प्रत्येक भारतीय लेखकका कर्तव्य है कि वह भारतीय जीवनमें होनेवाले परिवर्तनोंको अभिव्यक्ति दे और साहित्यमें वैज्ञानिक बुद्धिवादका समावेश करके देशमें क्रान्तिकी भावनाके विकासमें सहायता पहुँचाये। उन्हें साहित्य-समीक्षाके एक ऐसे दृष्टिकोणका विकास करना चाहिए जो परिवार, धर्म, काम, युद्ध और समाजके प्रश्नोंपर सामान्यतः प्रतिक्रियाशील तथा पुराणपन्थी प्रवृत्तियोंका विरोध करे। उन्हें ऐसी साहित्यिक प्रवृत्तियोंका विरोध करना चाहिए जो साम्प्रदायिकता, जाति-द्वेष तथा मनुष्य द्वारा मनुष्यके शोषणकी भावनाको प्रतिबिम्बित करती हों।

हमारे संघका उद्देश्य साहित्य तथा अन्य कलाओंको, जो अबतक रूढ़िपन्थी वर्गोंके हाथमें पड़कर निर्जीव होती जारही हैं, उनको मुक्त कराके, उनका निकटतम सम्बन्ध जनतासे कराना और उन्हें जीवनके यथार्थोंकी अभिव्यक्तिका माध्यम और नये विश्वका निर्माण करनेवाली शक्ति बनाना है।

भारतीय संस्कृतिकी सर्वश्रेष्ठ परम्पराओंके उत्तराधिकारी होनेके कारण देशमें फैलीहुई प्रतिक्रियाकी प्रत्येक भावनाकी आलोचना करना

हमारा कर्तव्य है। और हम रचनात्मक तथा विवेचनात्मक साहित्यके माध्यमसे उन सभी शक्तियोंको बल प्रदान करेंगे जो हमारे देशको उस नये जीवनकी ओर लेजायँगी जिसकेलिए वह संघर्ष कररहा है। हमारा विश्वास है कि नये भारतीय साहित्यको हमारे दैनंदिन जीवनकी आधारभूत समस्याओं—भूख और विपन्नता, पुराणपन्थी सामाजिकता और राजनीतिक परतन्त्रताका चित्रण करना चाहिए। जो कुछभी हममें उदासीनता, निष्क्रियता और विवेकहीनता उत्पन्न करता है, उसे हम प्रतिक्रियाशील समझते हैं और उसका प्रतिवाद करते हैं, जो कुछभी हममें एक आलोचककी वह स्वस्थ जिज्ञासा उत्पन्न करता है, जो संस्थाओं और प्रचलित रीतिरिवाजोंको विवेककी रोशनीमें देखती है और हमें अपने कार्यमें, अपनेको संगठित करनेमें, परिवर्तन लानेमें सहायता पहुँचाती है, उसे हम प्रगतिशील समझते हैं और स्वीकार करते हैं।

परिशिष्ट ५

फ़ैशीस्ट आक्रमणके ख़िलाफ़ भारतीय लेखकोंका घोषणापत्र १९४२

लड़ाई हिन्दुस्तानके किनारोंतक पहुँचचुकी है और हिन्दुस्तानके सीमान्त नगरोंपर बम भी पड़चुके हैं। हमारे देशपर जापानकी फ़ैशीस्ट फ़ौजोंके आसन्न आक्रमणका खतरा है। इस संघर्षके पीछे अन्तर्राष्ट्रीय फ़ैशीज़्मकी संगठित शक्ति है जो प्रगतिकी शक्तियोंके साथ एक ज़िन्दगी या मौतका संघर्ष कररही है। हमारे देशपर फ़ैशीस्टोंका अधिकार होजानेका मतलब न सिर्फ़ हमारी जनताकी सौ फ़ीसदी गुलामी बल्कि सदियोंके प्रयाससे अर्जित सारी चीज़ों और इस संघर्षमें निहित हमारी स्वाधीनताकी भावी सम्भावनाओंका विनाश होगा, जिसकी पूर्ति असम्भव होगी। यह समझना कि जापानी या और कोई फ़ैशीस्ट आक्रमणकारी, अपने निर्मम

आक्रमण और झूठे प्रचारके शिकार दूसरे देशोंकी अपेक्षा हमारे देशके साथ अच्छा बर्ताव करेगा, न सिर्फ़ उसकी सामरिक योजनाओंकी प्रकृति की उपेक्षा करना होगा बल्कि एक दशाब्दिके सञ्चित ऐतिहासिक प्रमाणों की ओरसे जान-बूझकर आँखें मूँदलेना होगा। इस फ़ैशीस्ट साम्राज्य-वादका उद्देश्य सिर्फ़ पूरी एशियापर अपना राजनैतिक प्रभुत्व क़ायम रखना और उसका आर्थिक शोषण करना ही नहीं है, उसके सामूहिक जीवनको हमेशाकेलिए शिकंजेमें कसनेकेलिए भारतके सांस्कृतिक और बौद्धिक उत्तराधिकारका सम्पूर्ण विनाश और जनताको उत्तरोत्तर सांस्कृतिक दिवा-लियेपनकी ओर लेजाना भी इसका उद्देश्य है। यह उद्देश्य सिर्फ़ एक अनुमानकी चीज़ नहीं है; धृष्टताके साथ उसे घोषित कियागया है और फ़ैशीस्टोंके चंगुलमें पड़नेवाले सभी देशोंमें हृदयहीनताके साथ उसे अंजाम दियागया है। सांस्कृतिक और शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाओंका जान-बूझकर कियागया निर्मम विनाश हमने अधिकृत चीनमें देखा है। प्रसिद्ध नान-काई यूनिवर्सिटीकी सुव्यवस्थित बमबारी, संस्कृतिपर कियेगये इन संगठित हमलोंका सिर्फ़ एक उदाहरण है। कोरियामें जापानी शासकोंने राष्ट्रीय भाषाका गला घोंटकर उस देशके रहनेवालोंकी पुरानी संस्कृतिको खत्म करनेकी कोशिश की है। उन थोड़े-से स्कूलोंमें जो उस देशमें हैं, कोरियन भाषा पढ़नेकी इजाज़त नहीं है। यही हाल फ़ारमोसाका है। लोगोंको पशुवत् बनानेकी इस लड़ाईकी पृष्ठ-भूमिमें जनताकी विद्रोही भावनाको विकृत और हतोत्साह बनानेकेलिए अफ़ीम और दूसरे नशीले द्रव्योंका प्रयोग भी है। कुछ और पीछे पृष्ठभूमिमें, लेकिन सीधे अनुभवकी परिधिके बाहर नहीं, जापानके पश्चिमी दोस्तके कृत्य हैं—वैज्ञानिक शिक्षाका बन्द किया जाना, बुद्धिजीवियोंका निर्वासित कियाजाना और किताबोंका जलायाजाना।

हम समझते हैं कि जापानियोंका यह व्यवहार उनकी सामरिक व्यवस्थासे निःसृत है जो उसी जनताको जिससे कि वह शक्ति ग्रहण करती है, गुलाम बनाती है। फ़ैशीज़्म, चाहे जापानी हो या जर्मन या इटै-लियन, पूँजीवाद और साम्राज्यवादकी एक विश्व-व्यापी व्यवस्थासे उत्पन्न है। पर फ़ैशीस्टोंके बर्बर और संस्कृति-विरोधी कृत्योंका कारण जर्मनी, इटैली या जापानकी जनताकी 'बुरी प्रकृति' को न समझना चाहिए। कला, विज्ञान और साहित्यके क्षेत्रमें इन देशोंकी प्रतिभा-सम्पन्न जनताके महान्

योगदानको हम समझते और उसकी कद्र करते हैं पर आज ये मुट्ठीभर फ़ैशीस्ट शासकोंको, जो जनताके आर्थिक जीवनपर अपने अधिकार, झूठे प्रचार, गेस्टापो, कॉन्ट्रै सेन्शन कैम्पके ज़रिये और लोगोंको गोलीका शिकार बनाकर इन राष्ट्रोंकी सर्वोच्च भावनाओंको कुचलनेमें समर्थ हुए हैं, हुए तानाशाहीके नीचे कराहरहे हैं। इसलिए फ़ैशीज़मके विनाशका मतलब सिर्फ़ बाहरी आक्रमणके कारण खतरेमें पड़ेहुए सांस्कृतिक मानोंकी रक्षा ही नहीं है, बल्कि इन फ़ैशीस्ट शासकोंके असहाय बन्दियोंको मुक्त करना भी है।

हम भारतीय लेखकोंका फ़ैशीज़मसे कोई सामञ्जस्य नहीं है। हम जो कि हमेशा ब्रिटिश साम्राज्यशाहीसे भारतके आज़ाद होनेके समर्थक रहे हैं और अपने देशकी मुक्तिकेलिए लड़े हैं, कभी अपनी न्याय्य राजनैतिक आकांक्षाओंकी ओरसे आँख नहीं मींच सकते, और न मींचेंगे; लेकिन हम समझते हैं और घोषित करते हैं कि आज हिन्दुस्तानको सबसे बड़ा खतरा आसन्न फ़ैशीस्ट आक्रमणसे है। ऐसे किसी आक्रमणकी सफलताका मतलब हमारी सारी राजनैतिक आकांक्षाओंका खत्म होजाना होगा। दूसरी ओर उसकी हार साम्राज्यवादके अन्तिम विनाशका रास्ता साफ़ करेगी और प्रगति के गढ़ सोवियत् संघ, चीन, और मुक्तिके सबसे बड़े दुश्मनके खिलाफ़ खड़े हुए दूसरे गणतान्त्रिक देशोंके साथ सम्बन्धमें निहित महान् सम्भावनाओं को प्रस्फुटित करेगी। इसलिए महान् सङ्कटकी इस घड़ीमें हम अपने देशवासियोंको सुरक्षित होनेकी मिथ्या धारणा और उससे पैदा होनेवाले तटस्थताके रवैयेके खिलाफ़ आगाह करना अपना कर्तव्य समझते हैं। फ़ैशीज़्म एक अपरिचित शत्रु नहीं है; फ़ैशीज़्मके अनिवार्य संस्कृति-विरोधी तत्त्वकी उपेक्षा करने या उसकी ओरसे आँख मींचनेका मतलब स्वेच्छासे अपनेको एक बर्बर आक्रमणकारीकी लम्बी और घातक गुलामीका शिकार बनाना होगा।

हर देशमें फ़ैशीज़्मकी जीतने सारे प्रगतिशील आन्दोलनों और विचारोंको ठेस पहुँचायी है; सांस्कृतिक आत्माभिव्यक्तिके मूल स्रोतको बन्द किया है; जनताके उत्तराधिकारका मनमाना नृशंस विनाश किया है। आजकी दुनियामें फ़ैशीस्ट जीतका मतलब एक नये अन्धकार-युगकी शुरुआत होगी और इस सङ्कटको दूर करनेमें भारतीय जनताको अपना कर्तव्य पूरा करना होगा। उन्हें सोवियत् संघकी बहादुर जनता, वीर चीनी राष्ट्र और सारे देशोंकी फ़ैशीस्ट विरोधी जनताके साथ एक होना होगा। आज

फ़ैशीस्ट प्रभुत्वमें रहनेवाले देशोंकी जनताको बचाना होगा। उन देशोंमें फ़ैशीस्ट विरोधी बुद्धिजीवी और कामकर बावजूद अमानुषिक-से-अमानुषिक यन्त्रणाओंके अपनी जबर्दस्त लड़ाई चलारहे हैं। स्वयं जापान और जर्मनी में फ़ैशीस्टोंने उन देशोंके सैकड़ों बेहतरीन लेखकों, कलाकारों, वैज्ञानिकों और दार्शनिकोंको कॉन्सेन्ट्रेशन कैम्पमें डालदिया है, निर्वासित करदिया है या फाँसीतक देदी है। स्वयं फ़ैशीस्ट देशोंमें होनेवाले महान् संघर्षकी प्रतीक ये वीर आत्माएँ हैं। विश्व फ़ैशीज़्मके खिलाफ़ इस संयुक्त संघर्षसे भारतीय जनता अलग नहीं रहसकती।

आज हमारा कर्तव्य है कि हम फ़ैशीस्ट आक्रमणके खिलाफ़ अपनी मातृभूमिकी रक्षा करनेकी राष्ट्रीय भावना अपने देशकी जनतामें जगायें। आज हमारा कर्तव्य है कि हम फ़ैशीज़्मकी असली प्रकृतिका पर्दा फाश करें और फ़ैशीस्ट प्रचारके चंगुलमें आनेसे अपनी जनताको बचायें। आज हमारा कर्तव्य है कि हम देशमें एकता पैदा करें और जातियोंके बीचकी खाईको पूरें जिसमें तत्काल राष्ट्रीय सरकार और हमारे देशके सौ फ़ीसदी बचावका रास्ता साफ़ होसके। आज हमारा कर्तव्य है कि हम पस्तहिम्मतीके खिलाफ़ लड़ें और अपने देशवासियोंमें सभी प्रकारके विदेशी आक्रमण और आधिपत्यके खिलाफ़ प्रतिरोध करनेका सङ्कल्प पैदा करें। हम हिन्दुस्तानके महान् और बहुमूल्य सांस्कृतिक उत्तराधिकारके प्रहरी हैं। फ़ैशीस्ट लुटेरोंसे इसकी रक्षा करना हमारा कर्तव्य है। अपनी रचनाओंके द्वारा हमें फ़ैशीज़्मके खिलाफ़ अपनेको दिमाग़ी तौरपर मज़बूत बनानेमें हमें जनताकी मदद करना चाहिए। किताबों और पैम्फ़्लेटों, रेडियो और सिनेमा, गानों और रङ्गमञ्चके ज़रिये हमें विशाल जनताके पास पहुँचना चाहिए। अपनी मातृभूमिके आह्वानपर आगे आना और मुक्ति तथा संस्कृतिकी दीपशिखाको प्रज्वलित रखना हमारा कर्तव्य है।

परिशिष्ट ६

प्रगतिशील लेखक संघके चतुर्थ अधिवेशनकी घोषणा १९४३

इस गम्भीर सङ्कटके कालमें हिन्दुस्तानके प्रगतिशील लेखकोंका सबसे बड़ा कर्तव्य है कि वे राष्ट्रके मनोबलको सुदृढ़ बनायें। उनका फ़र्ज़ है कि वे जनताके साहस और सङ्कल्पको मज़बूत करें, ताकि हमारी आज़ादी का दिन नज़दीक आये, हमारी संस्कृति और सभ्यता सुरक्षित रहें, उनकी उन्नति हो, और हम इस कठिन सङ्कट-कालसे स्वतन्त्र, शक्तिशाली और संगठित होकर निकलसकें।

प्रगतिशील लेखक सदासेही भारतकी स्वतन्त्रता और देशमें एक न्यायोचित सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाकेलिए लड़तेरहे हैं। यही नहीं, उन्होंने हर प्रकारकी सामाजिक प्रतिक्रिया और प्रगतिविरोधी विचार-धाराके खिलाफ़ भी संघर्ष किया है। हिन्दुस्तानकी स्वतन्त्रताको उन्होंने विश्वकी स्वतन्त्रताके एक अभिन्न अङ्गके रूपमें समझा है; और जहाँ उन्होंने जनताके हर प्रकारके साम्राज्यवादी प्रभुत्वसे मुक्त होने और अविच्छिन्न अधिकारकी घोषणा की है, वहाँ उन्होंने फ़ैशीज़मका भी विरोध किया है, जो साम्राज्यवादी सत्ताका ही खूँखार रूप है।

जिस समय हमारी पुरानी परिचित दुनिया नष्ट-भ्रष्ट होरही है और इतने दिनोंसे अपनायी हुई मान्यताओंकी पुनर्स्थापनाकी आवश्यकता होरही है, यदि लेखक अपने जीवन-कार्यके प्रति ईमानदार रहना चाहता है तो उसे जनतासे नाता जोड़ना होगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम इस बातसे इनकार करते हैं कि साहित्य-रचना एक कठिन कला है, जिसकी अत्यन्त प्राचीन और अनोखी परम्पराएँ हैं; न इसका यही मतलब है कि हम इस भ्रममें पड़जायें कि आज्ञा देदेनेसे ही परिपक्व नयी संस्कृतियाँ तैयार होजाती हैं। लेकिन जब समाज पीड़ाग्रस्त हो, जब वह अपने जीवन-मरण के संघर्षमें गुज़ररहा हो, तब लेखकको स्वयं अपने ही हितकी रक्षाकेलिए अपने ग्रीष्मभवनसे बाहर निकलआना चाहिए। यदि हम केवल कुछ

थोड़े चुनेहुए लोगोंको ही सांस्कृतिक विरासतका संरक्षक समझेंगे, तो जैसा कि फ़ैशीज़्मके अन्तर्गत उन देशोंमें हुआ है जो उसके लौह-बूटोंके नीचे कुचले जाचुके हैं, यहाँ भी अन्याय और ज़ुल्मकी शक्तियाँ उन्हें अवश्य ही पाशविक दमनके बलसे ज़बर्दस्ती अपने अधीन करलेंगी। सोवियत्‌का उदाहरण हमें बतलाता है कि क्रान्ति किस प्रकार प्रतिष्ठा, गौरव और सभ्यताको आम जनताकी सम्पत्ति बननेका अवसर देती है।

हमारा देश अपने इतिहासके सबसे गम्भीर सङ्कटमें फँसाहुआ है। एक ओर एक क्रूर और नालायक़ विदेशी साम्राज्यवादी नौकरशाही जनता के हाथमें ताक़त देनेसे इनकार कररही है; दूसरी ओर खूँख़ार, लुटेरे जापानकी फ़ैशीज़्म हमारे पूर्वी सीमान्तके द्वारपर प्रहार कररहा है। हज़ारों हिन्दुस्तानी देशभक्त जेलोंमें बन्द पड़े हैं। फ़ैशीस्ट आसाम और बङ्गाल पर बम बरसारहे हैं। अन्न और वस्त्रकी दिन-ब-दिन कमी होती जारही है। काग़ज़, किताब और पत्र छापनेकेलिए सभी ज़रूरी-ज़रूरी चीज़ोंकी सख्त कमी है, जिसके कारण एक ऐसी परिस्थिति पैदा होगयी है, जो हमारे सांस्कृतिक जीवनके विकासकेलिए बहुत खतरनाक है। उत्पादन अस्त-व्यस्त होरहा है। हमारे समाजकी पूरी आर्थिक व्यवस्थाके छिन्न-भिन्न होजानेकी आशङ्का है।

हिन्दुस्तानके प्रगतिशील लेखक रवीन्द्रनाथ ठाकुर और इक़बाल की महान् मानववादी और स्वतन्त्रता-प्रेमी परम्पराओंके उत्तराधिकारी हैं। आज वे अपनी जनताको स्वतन्त्र देखना चाहते हैं, संसारके सभी राष्ट्रोंको साम्राज्यवाद और फ़ैशीज़्मके खतरेसे मुक्त करना चाहते हैं। हम सोवियत् और चीनके लेखकोंकी ओर आदर और श्रद्धासे देखते हैं, जो अपनी बहादुर जनताके साथ-साथ इस कठोर फ़ैशीस्ट-विरोधी लड़ाईके कष्टों और तकलीफ़ोंको बर्दाश्त कररहे हैं और इस कटु और कष्टकर युद्धमें भागलेने के गौरव और उल्लासका भी अनुभव कररहे हैं। इस अन्धकारकी घड़ीमें भी वे कला और साहित्यकी लौको जाग्रत् कियेहुए हैं। हमभी पीछे नहीं रहेंगे। हमभी अपने देशकी स्वतन्त्रता और एकताके सन्देशको अपने देश-वासियोंके पास पहुँचायेंगे, और उनके अन्दर उनकी अपनी ही शक्तिमें विश्वास जाग्रत् करनेका अनवरत प्रयत्न करेंगे। आज प्रगतिशीलताका और दूसरा कोई अर्थ नहीं है। जब मानव-समाजकी नींवही खतरेमें हो,

जब उसके सम्पूर्ण भविष्यके अन्धकार-मय होजानेकी आशङ्का हो, जब फ़ैशीस्ट प्रतिक्रियावाद जीवनमें जो कुछभी अच्छा, भला और सुन्दर है उसे नष्ट करनेकेलिए अपना अन्तिम हमला कररहा हो, और जब प्रति-क्रियावादी साम्राज्यवादी दल हमारे देशवासियोंकी स्वतन्त्रता और एकता के पथको रोके खड़ा हो, तब प्रगतिशीलताको हर आदमीतक आशा और आज़ादीका सन्देश लेजाना चाहिए और ऐलान करदेना चाहिए कि जो क़ौम आज़ादी पानेकेलिए एक होजायगी, उसे दुनियाकी कोईभी ताक़त नहीं हरासकती।

इन आम उद्देश्योंको ध्यानमें रखतेहुए प्रगतिशील लेखक संघको नीचे लिखी विशेष बातें ज़रूर करनी चाहिए:—

(१) छोटे-छोटे नाटकों, कहानियों, कविताओं, गीतों और पवाड़ों की रचना, जिनमें साम्राज्यवादी गुलामीसे छुटकारा पानेकेलिए और जापानी आक्रमणकारियोंसे अपने देशकी रक्षा करनेकेलिए राष्ट्रीय एकताकी आव-श्यकतापर ज़ोर दियागया हो।

(२) विदेशी प्रगतिशील रचनाओं और विशेषकर सोवियत् और चीनी साहित्यका अनुवाद और प्रचार करना चाहिए।

(३) समय-समयपर नियमित रूपसे विभिन्न हिन्दुस्तानी भाषाओं की महत्त्वपूर्ण रचनाओंका अँग्रेज़ीमें सङ्कलन निकालना चाहिए।

(४) हिन्दुस्तानकी विभिन्न भाषाओंमें प्रगतिशील साहित्यके संग्रहों और पत्र-पत्रिकाओंको प्रकाशित करना चाहिए।

(५) मज़दूरों और किसानोंके बीच साहित्यिक और सांस्कृतिक क्लबों या बैठकों (मुशायरों, कवि-सम्मेलनों) का संगठन करना चाहिए, और प्रगतिशील लेखक संघका जन-साहित्य और कलासे सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए।

(६) भारतीय जननाट्य संघके सहयोगमें ऐसे नाटकों आदिकी रचना करनी चाहिए, जिन्हें जन-नाट्य संघ खेलसके।
